धर्मद्रुम

[धर्मशास्त्र का एक परिचयात्मक एवं विवेचनात्मकग्रन्थ]

आचार्य राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय,
अध्यक्ष,
धर्मशास्त्र-मीमांसा विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रस्तावना

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल,
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

किशोर विद्या निकेतन
भदेनी, वाराणसी
१९८०

समर्पण

गोलोकवासी—स्वनाम धन्य
श्रद्धेयपितृ चरण कमल
श्री वासुदेव पाण्डेय
की
पावन पुण्य स्मृति में
सप्रेम सादर
समर्पित

—राजेन्द्र

विषय-सूची

विषय	पृ० सं०

धर्मद्रुमः

आस्तिक्यं यस्य बीजं, मृदुरपि बलवानङ्कुरः शास्त्रनिष्ठा,
स्कन्धो विश्वास ईशे, व्रतमखनियमाः यस्य शाखाः प्रशाखाः।
अर्थः प्रोद्यत्प्रवालः, कुसुममनुपमं यस्य कामोभिरामः,
मोक्षोमिष्टं फलं चेत्य सदृश विभवो धर्मवृक्षः स भाति ॥१॥

संहृत्य दानव दुरन्त दुरात्मकत्वम्
पुष्णन् पवित्रतम मानव मञ्जुवृत्तिम्।
धर्मद्रुमो जयति सर्वसमीहितार्थ–
प्रत्यर्पण प्रणय पुण्य विभूषिताशः॥ २ ॥

छायामसह्य तरुणातप ताप हन्त्रीं
पुष्पं मरन्दमदिरं मधुरं फलं च।
सर्वोपकारनिरतो वितरन्नकम्पो
धर्मद्रुमो जयति तीव्ररयेऽनिलेऽपि ॥ ३ ॥

सेव्यो द्विजैः शरणमातपतापितानां—
माकर्षणं मधुलिहां मधुमुग्धपुष्पैः।
सन्तर्पणं फलभरै रसिकावलीनां,
धर्मद्रुमो जयति जीवनकुम्भसिक्तः॥ ४ ॥

आशाः प्रपूरयति यस्य विशालशाखा
व्योमोच्चतामधर यत्युदिता शिखापि।
यो ह्रेपयत्यचलराजमपि स्थिरत्वे
धर्मद्रुमः स भुवनेऽनुपमश्चकास्ति ॥ ५ ॥

अन्विष्य पावनतपोवनमध्यवर्ति
ब्रह्मर्षिसद्वचनबीजमति प्रयत्नात्।
आरोप्य चित्तभुवि बुद्धिरसेन सिञ्चन्
धर्मद्रुमं तरुणयन् परितोषमेति ॥ ६ ॥

सर्वाश्रयः सुखसमृद्धिविवृद्धि हेतुः
पापप्रपञ्च शमनाय महोच्चकेतुः
संसारसागर समुत्तरणाय सेतु—
धर्मद्रुमो जयति ताप हरो जनानाम् ॥ ७ ॥

श्री मालवीय कुलमौलि विभूषणस्य
विद्यालयस्य शुभसंस्कृत वाङ्मयस्य
प्राचार्यपंक्तिषु विशन्निह धर्मशास्त्रे
राजेन्द्र आलिखति पुस्तकरत्नमेतत् ॥ ८ ॥

धर्मद्रुमः
कामः
कामः
मोक्षः
कामः
मोक्षः
अर्थः
अर्थः
अर्थः
अर्थः
अर्थः
अर्थः
अर्थः
अर्थः
अर्थः
दानम्
अध्ययनम्
व्रतम्
यज्ञः
पर्व
कामः
मोक्षः
शाखाः
स्कन्धः — ईश्वरे विश्वासः
अंकुरम् — शास्त्रेषु प्रामाण्य-बुद्धि
बीजम् — आस्तिक्य-बुद्धिः
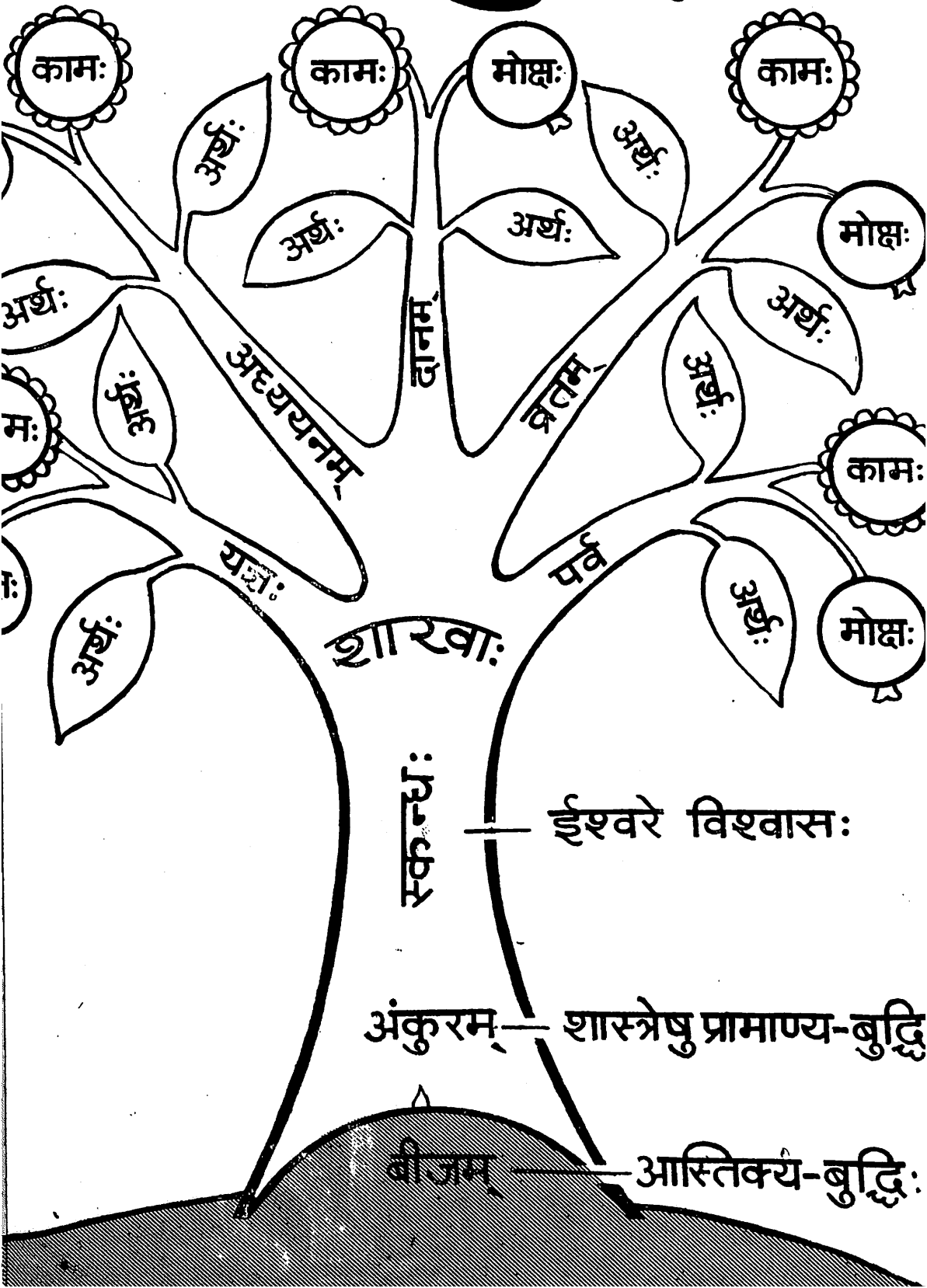
प्रस्तावना

आचार्य श्री बदरीनाथ शुक्ल, कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भारतीय संस्कृति का मूलाधार धर्म है। भारत धर्मप्राण देश है। ग्रीष्म, वसन्त आदि परस्पर विरुद्ध ऋतुओं के समावेश के समान आपात दृष्टि से परस्पर विरुद्ध रूप में प्रतीयमान धर्मों का समावेश और समन्वय यहीं सम्भव है। किसी भी देश की संस्कृति गम्भीरता, व्यापकता एवं विरोधसमन्वय की दृष्टि से इस सनातन संस्कृति की तुलना में नहीं आ सकती है। व्यष्टि का समष्टि में समन्वय इस देश की महनीय देन है। यहाँ धर्म ऐसा सनातन और विभु है कि इस के अन्तराल में अनेक देशों के धर्म-मात्र क्रमविवर्त्तमान अवस्थाओं के रूप में हैं। एक प्रदीप से अनेक दीपों में प्रभा की प्राप्ति के समान इस अक्षुण्ण धर्म से अनेक उपधर्म अपनी सत्ता लाभ करते हैं। इसके किसी एक अङ्ग के आचरण का निर्वाह करने के लिए अनेक उपधर्मों की उपस्थिति होती है, किन्तु ऊहापोह करने पर उसमें प्रभा-भास्वरता-प्रदायक यही सनातन तत्त्व है। इसी धर्मद्रुम के वे क्रमविवर्धमान शाखा, पल्लव आदि हैं। इसकी विभुता और समन्वयात्मकता भेद में अभेदरूप में अनुस्यूत है। काल और देश इस सार्वभौम सनातन का नामान्तर या औपाधिकभेद का जनक है। जैसे काम्य कर्म निष्काम में प्रतिष्ठित है; वैसे ही धर्मरहस्य समन्वय में प्रतिष्ठित है! "अविभक्तं विभक्तेषु" यह गीतावचन इसी का डिण्डिमघोष है।

भारतीय समाज की ही यह विशेषता है कि वह अपने शत्रुओं के भी अच्छे तत्त्वों को ग्रहण कर समन्वय के साथ उसे आत्मसात् कर लेता है। भारतीय धर्म का यह लचीलापन कसौटी पर खरा उतरता है। डेरियस और सिकन्दर के आक्रमण के साथ आगत बाह्य तत्त्व यहाँ के धर्म कल्पद्रुम में शाखा-मात्र के रूप में खोकर एकाकार हो गये! पारसियों, यूनानियों के आक्रमणों से अतिरिक्त भारत पर शक, सीथियन, हूण जैसी वर्वर जातियों के भी निर्मम आक्रमण हुए किन्तु यहाँ धर्ममन्दाकिनी ने उन्हें आत्मसात् कर पवित्र कर दिया और उसकी स्वतन्त्र सत्ता सर्वथा समाप्त हो गई। यह सत्य है कि यहाँ की संस्कृति में भी परिवर्तन हुए किन्तु वे मधुर मिश्रण थे, विरोध नहीं। पाश्चात्यों ने यहाँ के ऊपरी स्तर को अवश्य देखा किन्तु अन्तराल में प्रवेश कर अमृत को स्पर्श करने का प्रयास नहीं किया। यहाँ का धर्म अनेकत्व को निरास नहीं करता अपितु उसके गर्भ में प्रवेश कर 'एक' को खोजने का उपदेश देता है। इस विषय को दार्शनिक दृष्टि से अवगत करने के लिये हेगेल के पृष्ठसेवी दार्शनिक ब्रेडले के प्रसिद्ध ग्रन्थ (Appearence and Reality) को देखना चाहिए। परमतत्त्व में (Absolute) अन्तर्भुक्त विरोधी तत्त्व अपने विरोध के कारण परम-तत्त्व की एकात्मकता को विशृङ्खलित नहीं करते वरन् उसके सामञ्जस्यपूर्ण शरीर में विरोध को खोकर अङ्ग के रूप में अङ्गी की स्थिति की अक्षुण्णता का ही निर्वाह करते हैं।

भारतीय धर्म और संस्कृति भी इसी प्रकार अपनी सामञ्जस्यपूर्ण (Harmonious) सत्ता में आपाततः विरुद्ध अपने विरोध को इसकी एकात्मधारा के रूप में अपने को यथास्थान उचित शाखा के रूप में अवस्थित रखते हुए धर्मकल्पद्रुम के वास्तविक क्रमविवर्धन में सहायक होते हैं।

आलोचकों का यह आरोप कि भारतीय धर्म, संस्कृति गतिशील (Dynamic) नहीं है—यह कथन धर्मसागर के अन्तराल में प्रवेश न पाने के कारण धर्म के ऊपरी तल के स्पर्श का परिचायक है। गतिशीलता के बिना समन्वय की परिकल्पना ही नहीं हो सकती है। हेगेल की पद्धति से इसको समझने का प्रयास करने पर यह मानना होगा कि सम्वाद (Synthesis) की अवस्थिति, जो वाद (Thesis) और प्रतिवाद (Antithesis) के आपसी टकराव (Impact) से ही होती है, भारतीय धर्म की समन्वयात्मकता का स्पष्ट परिणाम है, किन्तु यह स्थितिशील (Static) है—यह कथन विचार श्रम के वैयर्थ्य का द्योतक नहीं तो और क्या है ?

आज का युग धर्म में आस्था खोता जा रहा है। कतिपय नवीन विचारकों का कथन है कि मनुष्य-मनुष्य में भेद का उत्पादक धर्म ही है। इसके भी अनेक उदाहरण अनेक देशों में विद्यमान हैं। जेरूसेलम को लेकर क्रिश्चियनों और मुसलमानों के युद्ध में भयङ्कर रक्तपात का साक्षी रक्तरञ्जित इतिहास के पन्ने आज भी वर्तमान हैं। भिन्न धार्मिक विश्वासों के कारण ही हजारों लोलार्डों को प्रज्ज्वलित अग्नि में भस्मावशेष किया गया। किन्तु, भारत में धर्म के आधार पर न युद्ध हुआ और न अत्याचार ही। यहाँ की धार्मिक भिन्नता रक्तपात का कारण न थी। आज भी तो इसके उदाहरण प्रत्येक गृह में उपलब्ध हैं। एक ही परिवार का एक सदस्य शाक्त, दूसरा वैष्णव और तीसरा शैव है। "ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा के वर्णन में स्पष्ट लिखा है कि सम्राट् हर्षवर्द्धन के परिवार में उसने सम्राट् को **'परम-माहेश्वर'** पाया तो उसकी बहन राज्यश्री को **बौद्धमतानुयायिनी**। गौडनरेश नारायणपाल स्वयं बौद्ध था, किन्तु उसकी माता हैहयवंश की राजकुमारी के सैकड़ों हरयज्ञ कराने में कोई बाधा न थी। अतः यह स्वीकृत तथ्य है कि भारतीय समन्वयवादी दृष्टिकोण अन्तः में ऐक्य पर ही बलाधान करता है। यह वही एकता है जहाँ सभी भेद अपने स्वरूप को समाप्त कर देता है। समन्वय दृष्टि के अभाव में क्या जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव का महत्त्व और दशावतार में महात्मा बुद्ध का स्थान हो पाता ? भारतीय धर्म देशकाल के अनुरोध से अपनी गतिशीलता से उन्मुक्त नहीं है। स्मरण रखें—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

यह सनातन **धर्मसर्वस्व** कोई अन्धविश्वास का विषय नहीं वरन् ज्ञान-विज्ञान की खान से निकाला हुआ और तर्क के हाथों तराशा हुआ एक रत्न है।

भारत का कण-कण धर्म की भावना से ओत-प्रोत है। तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है—यतः धर्म सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा है, संसार में प्रजा धर्म सम्पन्न के निकट जाती है, धर्म से पाप की निवृत्ति होती है। धर्म में ही सब प्रतिष्ठित है,

अतः धर्म श्रेष्ठ है। "धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति" । [तै. आ. १०।६३] भारतीय धर्म को सनातन या अपौरुषेय कहने पर आज के आलोचक आवेश में आ जाते हैं। अपौरुषेय या सनातन का आशय यह है कि किसी पुरुष विशेष ने इसे नहीं बनाया है। क्रिश्चियन, इस्लाम आदि धर्मों के प्रवर्तक ईसामसीह एवं मुहम्मद साहब पुरुष विशेष हैं। यह किसी पैगम्बर के द्वारा अन्यत्र से यह अपनी प्रज्ञा से आनीत नहीं है, अतः सनातन है। दूसरे शब्द में धर्म स्वयं अवतीर्ण है। भारतीय धर्म स्वभावतः विकसित है, अतः मानवता से सम्बद्ध, वैज्ञानिक और सनातन हैं। धर्म का पर्यवसान ज्ञान में नहीं आचार में है, आचार धर्म का मुख्य अङ्ग है, "आचारः परमो धर्मः।" धर्म की पूर्णता सर्वज्ञत्व, तृप्ति और अनासक्ति का जनक है। भेद में अभेद, प्राणिमात्र में स्वात्मविश्रान्ति, भारतीय धर्म की विशेषता है। इसीलिए यह अभ्युदय और निःश्रेयस् का साधक भी है। "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" (गी० ६।२९) की सबल भित्ति पर यहाँ का धर्म अवस्थित है। अपने में ही चराचर विश्व का साक्षात्कार का भाव कैसा उदात्त और उदार विचार है। अन्य इच्छा के अनधीन इच्छा का विषय सुख और सुखसाधन दुःखाभाव और उसका साधन ही तो भारतीय धर्म का साध्य है। स्पष्ट है, सभी कार्यों में इस प्रकार की जिज्ञासा उद्बुद्ध रहती है कि इदं किमर्थम्, इदं किमर्थम् ? किन्तु सुखार्थम् या दुःखाभावार्थम् कहने पर जिज्ञासा की विरति होती है। प्राणिमात्र के प्रति आत्मभावना ही धर्म को सकलजनसुखाय, सकलजनहिताय की सनातन भावना उद्बुद्ध करती है। ऐसा ही धर्मिष्ठ व्यक्ति मानवता से प्रेरित जागतिक सुख में भी दुःख के सान्निध्य से महाकरुणा के रूप में आनन्द की अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। वैषयिक आनन्द दुःख की ही मात्रा है, अतः धार्मिक व्यक्ति का चित्त प्राणिमात्र के प्रति करुणा की भावना से आर्द्र रहता है। आनन्दमयी माँ भी "सर्वोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता" रहती है। एक ओर अशेष आनन्द और दूसरी ओर महाकरुणा—यही भारतीय धर्म का उपक्रम और उपसंहार है।

भारतीय धर्म मजहब या रेलिजन नहीं है, यह अतिशय महत्त्वपूर्ण एवं रहस्यमय तत्त्व है—"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।" यतः यह इस भूमि की सहज सनातन सम्पत्ति है, अतः अन्य भाषा में इसका पर्याय कहाँ ? वास्तव में भारत और धर्म में समीकरण भाव है।

The basic Indian historic ideal across the centuries, particularly stressed in those epochs the country encountered invasion and aggression from out side, is that the land is Dharma and Dharma is the land. This has been the precious gift of the Ṛg-Vedic Aryans to the subcontinent. The fundamental conceptions that Bharat and Dharma are identieal and that neither Dharma nor its favoured home land can perish, i. spite of the vicissitudel of history have kept alive the faith of the people in political crises and defects through the millennium, (The culture and Art of India p. 379)

भारतीय धर्म भावकी पवित्रता से ही जीवन यात्रा निर्वाह का समर्थक नहीं है, अपि तु भाव और आचार एवं ज्ञान, इच्छा और क्रिया के सामञ्जस्य को लेकर चलता है। यदि क्रिया के द्वारा सदाचार की प्रधानता धर्म का सार नहीं रहता तो–'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्' का उद्घोष मनु के द्वारा न होता और न महाभारत ही 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां' 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' यह जयघोष करता। जो धर्म मानव समाज के जीवन स्तर को उन्नत करने हेतु मानव की अशुभ, हीन, निम्नगामिनी वासना सरित् की सहज प्रवृत्तियों को हटाकर उन्नत, उदार, शुभ विचारों को जन्म देकर सदाचार में प्रवृत्त करता है, वही महनीय मानव धर्म है। भारतीय धर्म मानव के सत्य, शिव और सुन्दर स्निग्ध भावों को जगाकर करुणा से आर्द्र कर शुभ मार्ग से वासना सरित् को प्रवाहित होने की बाध्यता सम्पादित करता है। भारतीय धर्म मानवता है, जिससे मानव सच्चे अर्थ में मानव बना रहता है।

प्रवृत्ति स्वार्थमूलक होती है, इसमें व्यभिचार कहाँ? किन्तु स्व से बहिर्भूत चराचर का अस्तित्व कहाँ? 'आत्मैवेदं सर्वं' स्व से परे किसी का अस्तित्व कहाँ? यतः, यह स्वार्थ मूलक प्रवृत्ति ही सनातन धर्म के आधार पर कारुण्यमूलक हो जाती है और लोकोपकारभावना इष्ट साधन बन जाती है। यह वही सनातन धर्म है जहाँ जागतिक सुख की तो चर्चा ही क्या, दुःख को भी अप्राकृत आनन्द का रूप प्रदान करती है। अष्टादश संस्कारों से शोधित पारा जैसे अपने योग से धातु विशेष को स्वर्ण में परिणत कर देता है, स्थायी भाव शोक अनुकूल वेदनीय करुण रस में अनुकूल होता है, वैसे ही अष्टादश संस्कारों से शोधित धर्माचार सम्पन्न पुरुष के योग से मानव पूर्ण मानवता से सम्पन्न हो जाता है। स्व की सर्वत्र विश्रान्ति एवं भोगत्याग के धरातल को आधार बनाकर किया जाने वाला आचार और भोग सदाचार एवं बहुजन के हित के रूप में रहता है, विषय भोग के रूप में नहीं रहता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

यही तो सनातन भारतीय धर्म का डिण्डिम नाद है। इसी लिए ईश्वर का भूतानुग्रह ही आत्मानुग्रह हो जाता है। "तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्", ज्ञान-धर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति।" (योगभाष्य पृ. ७८) इसीलिये "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।" (यो.सू. १।१।२८) इस योगसूत्र के द्वारा कहा गया है कि सनातन धर्म का उपदेष्टा मानव नहीं है किन्तु सबका गुरु ईश्वर है।

यह कालानवच्छिन्न ईश्वरोद्बुद्ध सनातन धर्म प्रवर्तक व्यक्ति विशेष से नियन्त्रित न होकर सकल चराचर का नियन्त्रण करता है। धर्म के द्वारा नियन्त्रित सबल दुर्बल को सताने का साहस नहीं कर सकता। धर्म कर्तव्य की दीक्षा से सभी का नियन्त्रण करता है, भारतीय धर्म श्रेयोरूप है। धर्म उग्र से भी उग्र है। क्षत्रिय अर्थात् राजा जिसको सभी का नियन्ता समझा जाता है, उसका नियन्ता धर्म ही है, धर्म से परे कुछ भी नहीं है। दुर्बल भी धर्मरूपी बल के द्वारा बलवान् व्यक्ति पर विजयी होता है। (तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान्बलीयांसमाशंसते, धर्मेण यथा राज्ञैवम्"। बृहदारण्यकोपनि० १।४।१४) इस श्रुति का आशय स्पष्ट करते हुए आचार्य शङ्कर

ने कहा है कि यह धर्म उद्दण्ड राजा का भी नियामक है। बलवान् पुरुषों के मध्य दुर्बल भी धर्माधिकरण में जयलाभ करता है। जैसे एक बलवान् राजा की सहायता से दुर्बल राजा विजयी होने में समर्थ होता है, वैसे ही बलवान् राजा के समान भारतियों के सम्मुख धर्म बलवत्तम है। भारतीय संस्कृति में धर्म ही एकमात्र स्वीकृत तथ्य है। भारतीय जीवन में गर्भाधान से परलोकपर्यन्त पुत्रपौत्रादि-परम्पराकम में प्रतिक्षण अनुष्ठित कर्मो के लिए, धर्म अपना प्रकाश प्रदान करता है। सनातन धर्म भारतीयों के निःश्वास प्रश्वास तक का नियन्त्रण करता है।

सम्प्रति धर्मातङ्क रोग से भारतीय आक्रान्त है। धर्म शब्द के उच्चारण से चन्दनादि का अनुलेपन, शस्त्र लेकर परराष्ट्र पर आक्रमण एवं अधिवासियों का अग्निदाह, लुण्ठन आदि धर्मविरुद्धाचरण प्रतीत होते हैं। इतिहास के साक्ष्य पर विशाल युद्ध का अनुष्ठान हिन्दुओं ने भी किया है, किन्तु भारतीय संस्कृति धर्म विसर्जन करना या धर्मान्तरानुगामी व्यक्ति को अपने धर्म में दीक्षित करना महान् अधर्म समझती है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' यह भारतीय नीति है। भारतीय धर्म को सार्वभौम सत्य की गूंजे प्रत्येक धर्म में सुनाई पड़ती है। चीन के कन्फ्युसियस ने कहा कि दूसरों के साथ वैसा व्यवहार मत करो जो अपने साथ नहीं चाहते हो। इस्लाम के प्रवर्त्तक मुहम्मद साहब ने भी कहा था कि दूसरे पर अत्याचार न करो तो वह भी तुम्हारे साथ अत्याचार नहीं करेगा। बाइविल का यह उद्घोष कि "Do unto others what you want to he done unto you" ये सनातन धर्म के प्रतिरूप हैं। भारत में जिस सनातन सत्य की स्थापना अनवच्छिन्न काल से धर्म के रूप में आ रही है—वह इसकी मौलिक देन है। प्रसिद्ध दार्शनिक Dr. D. M. Dutta ने इस तथ्य को प्रस्तुत करते हुए कहा है—

"It is fault that these ideas are not the monopoly of India, but can be found also in the greatest teacher's of all countries and times, it will only mean, what India has always beleived, that there is a bed-rock of human unity behind the superficial diver-sities of time and place, and that the greatest persons of many lands have often penetrat^d to it." (Contemporary philosophy. p. 531)

पूर्व विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि यह सनातन धर्म किसी सम्प्रदाय के नियामक व्यक्ति विशेष से प्रवृत्त नहीं है, अतः किसी सम्प्रदाय विशेष को लक्ष्य कर घोषित धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र भारत में यह धर्म अन्तर्भुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि जो नियम विश्व की स्थिति एवं मर्यादा को धारण में समर्थ एवं धारण किये हुए है—उस धर्म से निरपेक्षता कैसे सम्भव है ?

धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

"धारणाद्धर्मः" में धर्म शब्द की निष्पत्ति धारणार्थक धृञ् धातु से होती है, अतः धर्म धारणकर्ता है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है "धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।"

धर्म विश्व का आश्रयभूत है। सूर्य पृथ्वी आदि भी परस्पर उपकार्योपकारकभाव से एक दूसरे के धारक हैं। मनुष्य के मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा धर्म से है। "वेदप्रणिहितो धर्मः" (महा० शा० १०८।११) के अनुसार स्वयम्भू नारायण स्वरूप वेद से प्रतिपादित धर्म को कालानवच्छिन्न ही मानना पड़ेगा "वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम" (आ ६।१।४०)।

मानव के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ ही माने गये हैं। अभ्युदय और निःश्रेयस् का साधन होने से धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का अग्रज है। अग्रज का अवमान या इसके नियम के अनुसार आचरण न होने पर स्वभावतः ये तीनों क्रुद्ध हो जाते हैं और अपनी प्राप्ति नहीं होने देते हैं—"अग्रजस्यावमानेन त्रयः कुप्यन्ति चापरे"।

धर्म भारतीयों के वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित है, धर्म के लिए भारतीयों ने महान् मूल्य दिया है। धर्म का नियम किसी विशेष उद्देश्य से प्रणोदित होकर या व्यावहारिक या राजनैतिक क्षेत्र में अभीष्ट लाभ की प्राप्ति के लिए आचरण में नहीं लाते हैं। इसका इतना महत्त्व जीवन में दिया गया है कि कभी-कभी सर्वस्व का अन्त करके भी इसके नियमों का परिपालन करने के लिए भारतीयों को आगे बढ़ना पड़ा है। व्यावहारिक लाभ की चिन्ता धर्म के परिपालन में सर्वथा विसर्जित रहती है। धर्म के प्रति इतना अतिशय आग्रह मानवमात्र के हृदय में सन्निहित है कि कोई भी व्यक्ति अधर्मात्मा पुत्र नहीं चाहता है। अपने अधार्मिक या दुराचाररत पुत्र के प्रति सभी की घृणा रहती है। पुत्र चाहता है कि पिता धार्मिक हो। पत्नी अपने पति को धार्मिक चाहती है और पति धार्मिक पत्नी को चाहता है। मित्र धार्मिक मित्र ही चाहता है। एक दूकानदार धार्मिक ग्राहक चाहता है।

भारतीय धर्म में असीम समष्टि के कल्याण की भावना निहित है। यहाँ के धर्म में विश्व के प्राणिमात्र के प्रति परस्पर प्रेम मैत्री एवं साहाय्य की भावना अभिव्यक्त है : "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। (यजु० ३६।१८)

सामान्यतया यही देखा जाता है कि सम्बद्ध व्यक्ति के ही कल्याण की भावना की जाती है। किन्तु यहाँ का धार्मिक महर्षि विश्व के निखिल प्राणियों के साथ सद्भाव रखते हैं और सभी की इस प्रकार की भावना हो इसके लिए आग्रह करते हैं— 'याँश्च पश्यामि याँश्च न, तेषु मा समुर्पितं कृधि।"

भारतीय धर्म का महत्त्व भेद में अभेद दर्शन है। भेदभाव के निवारण के लिए तथा प्राणिमात्र में आत्मीयभाव के उद्बोधन हेतु भारतीयों की सनातन कामना सर्वविदित है। वेद की ऋचाओं से लेकर आज के सन्त साहित्यों में भेदभाव को हटाकर परदुःख से दुःखी और परसुख से सुखी होने की भावना का उच्च आदर्श निहित है। इस प्रसङ्ग में महात्मा गान्धी का मुसलमानों के प्रति सौहार्दभाव विश्व के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में अङ्कित है। योगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।" (यो० सू०)

भारतीय धर्म सार्वभौम है। यह चराचर विश्व धर्म कल्पद्रुम या ईश्वर का एक शरीर स्वरूप है।

> खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च
> ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्
> सरित्समुद्रांश्च हरेश्शरीरं
> यत्किञ्च न्यूनं प्रणमेदनन्यः ॥

एक द्रुम या एक शरीर के रूप में अवस्थित तत्त्व के किसी भी अङ्ग के उच्छेद की भावना इस धर्म में कथमपि सन्निहित नहीं हो सकती है। सभी में समन्वय के साथ अपने कर्तव्य पालन में कठोरता यह भारतीय धर्म या संस्कृति है।

श्री राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय आचार्य एवं अध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने अपने 'धर्मद्रुम' ग्रन्थ में भारतीय धर्म के इसी उदात्त स्वरूप को प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ में धर्म की परिभाषाओं, धर्म का ऐतिहासिक विकास क्रम, धर्मसम्बन्धी पुरातन निबन्ध ग्रन्थ, धर्म के सम्बन्ध में अर्वाचीन आलोचक विद्वानों के ग्रन्थ और निबन्धों के प्रतिपादनों को यथोचित रीति से विवेचित किया है। मेरे विचारानुसार हिन्दी भाषा के माध्यम से परम्परागत संस्कृत विद्वान् का लिखा हुआ यह प्रथम ग्रन्थ है। जिसमें धर्म का सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है और उसके सम्बन्ध में नवीनतम विचारों की समीक्षा की गई है। मेरा विश्वास है कि भारतीय धर्म के जिज्ञासुओं को इस ग्रन्थ से पूरा लाभ होगा और इस विषय के अनुसन्धित्सु विद्यार्थी और विद्वानों को सहायता प्राप्त होगी।

मैं इस उत्तम ग्रन्थ की रचना के लिए श्री पाण्डेय जी को बधाई देते हुए यह अनुरोध करना चाहूँगा कि ये धर्मशास्त्र और मीमांसा के विषय में ऐसे और ग्रन्थों की रचना कर उक्त विषय के जिज्ञासुओं को उपकृत करें।

आमुख

साम्बं शिवं शिवकुमारमपारसारं
ध्यायन्नभीष्टफलदं च गुरुं सुधीन्द्रम् ।
लोकोपकारनिरतं वरणीयवृत्तं
ग्रन्थं सनातनमताय पुरस्करोमि ॥

मोक्षो यस्य फलं प्रसूननिचयः कामोऽर्थ एवोत्तमः ।
प्रत्यग्रोऽरुणपल्लवो, मखमुखाः शाखाः प्रभोः प्रत्ययः ॥
स्कन्धः, शाखचये प्रमाणलसिता बुद्धिर्नवीनोऽङ्कुरो ।
बीजं चास्तिकतेति सोऽति सुदृढो धर्मद्रुमो राजते ॥

धर्म अलौकिक श्रेय (Divine Bliss) की प्राप्ति का साधन है। सनातन धर्म विशाल वृक्ष (द्रुम) की भाँति भारतीय धरातल पर अनादिकाल से लौकिक एवं पारलौकिक सुख के लिये पत्र, पुष्प एवं फल के रूप में अर्थ, काम, मोक्ष प्रदान कर रहा है। न केवल भारतवासी वरन् सम्पूर्ण विश्व के निवासी सनातन धर्मद्रुम की शीतल छाया एवं अमर फल की प्राप्ति की अभिलाषा करते हैं। धर्म की असीम शक्ति की ओर उपनिषद्, महाभारत एवं मनु हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं—

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं
प्रजा उपजीवन्ति धर्मेण पापमपनुदति धर्मे
सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति"[1]

हमारे ऋषियों ने धर्म की शक्ति का अपने प्रातिभ चक्षुओं से परिज्ञान कर इसे सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया। इसे सम्पूर्ण विश्व का आश्रय (आधार या शरण) बतलाया। ब्रह्म को धर्म के प्रतीक रूप में भी प्रतिपादित किया गया है—

'कृष्णं धर्मं सनातनम्' 'रामो विग्रहवान् धर्मः'

यद्यपि धार्मिक क्रियायें प्रत्यक्ष रूप में देखी जाती हैं परन्तु धर्म को इन चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। उसे देखने के लिये तो ज्ञानचक्षुओं को खोलना पड़ेगा क्योंकि वह "अदृष्ट" नाम से भी अभिहित किया जाता है। वेदों की पवित्र वाणी ही उस 'अदृष्ट' की उपलब्धि का मार्गदर्शन कर सकती हैं। गौतम एवं मनु की वाणी है—

"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"[2]

वेदों में धर्म का मूल सुप्रतिष्ठित है। अतः धर्म सम्बन्धी प्रकाश के लिये वेदों को ही प्रमाण माना जाता है। वनपर्व एवं मनुस्मृति दोनों में उद्घोषणा है कि जब धर्म का हनन

१.—तैत्तिरीयारण्यक १०।६३। २—गौतम धर्मसूत्र—१

(उल्लंघन) होता है तो वह हनन कर्ता को मार डालता है, जब इसकी रक्षा होती है तो यह मनुष्य की रक्षा करता है। यथा—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥[1]

वैदिक वाङ्मय में धर्म के जो भी तत्त्व मिलते हैं उन्हें एक वृक्ष के ही विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्ग के रूप में मैंने समझा है। असंख्य धार्मिक ग्रन्थों में जिन धार्मिक विधि-विधानों, तत्त्वों, तथ्यों एवं व्यवस्थाओं की व्याख्यायें की गई हैं, उन सबको एक धर्मद्रुम के रूप में ही चित्रित करने का प्रयास मैंने किया है। सनातन धर्म का यह विशाल वृक्ष आस्तिकता के धरातल पर ही जन्म ले सकता है। जिस मस्तिष्क में आस्तिक्य बुद्धि का अभाव है वहाँ धर्म के बीज ऊसर भूमि की भाँति अनुर्वर ही रहेंगे। शास्त्रों में विश्वास करने से बीज स्वयमेव अंकुरित हो जाता है। श्री शंकर भगवत्पाद का भी मन्तव्य है कि—

शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादिकारण ब्रह्मावगम्यत इत्यभिप्रायः'

'नावेदविन्मनुते त बृहन्तम्"

शास्त्र ही बतलाते हैं कि वह (ब्रह्म) सृष्टि, स्थिति, सहार का कारण है। शास्त्रों को प्रामाणिक न मानने से धार्मिक भावना का अंकुरण ही असम्भव है। अतः शास्त्र की ही उष्मा से धर्मबीज अकुरित होते हैं। कालान्तर में यह अंकुर धर्मद्रुम का रूप धारण कर लेता है।

वैदिक वाङ्मय दो खण्डों में विभक्त है—पूर्वखण्ड एव उत्तरखण्ड। पहले खण्ड में 'साध्य धर्म' की व्याख्या है, दूसरे खण्ड में 'सिद्ध धर्म' का प्रतिपादन किया गया है। निर्विकार, निराकार एव शून्य ब्रह्म की प्रतीति सबको नहीं हो सकती क्योंकि वह ज्ञान से बोधगम्य है!

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'रसो वै सः'
'ब्रह्मविदाप्नोति पर' 'ब्रह्मवेद ब्रह्म भवति'

'तरति शोकमात्मवित्'

उपर्युक्त आनन्द सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य नहीं है। इसलिये कथाओं एवं गाथाओं के माध्यम से शाश्वत सत्य को निरूपित किया गया। इतिहास-पुराण के हृदय में वेदवाणी ही प्रकाशित हो रही है। वेदों के सन्देश को जन साधारण तक पहुँचाने का श्रेय इतिहास-पुराणों को ही है।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति ॥

वेदार्थ का विस्तार करने वाले महाभारत एवं पुराणादि ग्रन्थ धर्मशास्त्र, राजशास्त्र तथा नीतिशास्त्रादि सभी विषयों का प्रतिपादन करते हैं। धर्मसम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर धर्म एवं धर्मशास्त्र का परिचय कराने का मेरा यह लघु प्रयास है।

१—मनुस्मृति ८।१५, वनपर्व ३१३।१२८

पूज्य आचार्य श्री बदरीनाथ शुक्ल के प्रति कृतज्ञता से मैं श्रद्धावनत हूँ जिन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रमों के अन्तर्गत भी पाण्डित्यपूर्ण प्रस्तावना लिखकर इस ग्रन्थ की गरिमा को बढ़ा दिया है। उनकी प्रेरणा से ही यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका है। अतएव मैं हृदय से उनका आभारी हूँ। अपने ज्येष्ठ चिरञ्जीवी हरिशंकर पाण्डेय, (इतिहास विभागाध्यक्ष, बी. एस. कालेज, लोहरदगा, राँची) को हृदय से आशीर्वाद देता हूँ, जिन्होंने मेरे विचारों एवं वाक्यों को लिपिबद्ध किया। भगवान् आशुतोष से अभ्यथना करता हूँ कि इन्हें असीम शक्ति दें ताकि वह अन्य ग्रन्थों का प्रणयन कर सकें। अपने कनिष्ठ चिरञ्जीवी डा० रमाशंकर पाण्डेय को स्नेह पूर्वक आशीष देता हूँ जो प्रकाशन सम्बन्धी कार्यों में सदा सक्रिय रहे। डा० विश्वनाथ पाण्डेय (पुराणेतिहास विभागाध्यक्ष, श्री भागवत् महाविद्यालय, अस्सी, वाराणसी) ने संपादन में अपना बहुमूल्य समय दिया है। एतदर्थ मैं उनको हार्दिक आशीष देता हूँ तथा उनके अभ्युदय की कामना करता हूँ। अपने अभिन्न मित्र प्रो० रतिनाथ झा (अध्यक्ष, दर्शन विभाग, संस्कृत महाविद्यालय, का० हि० वि० वि०), डा० कमलेशदत्त त्रिपाठी (अध्यक्ष, धर्मशिक्षा विभाग, का० हि० वि० वि०) एवं डा० रमागोविन्द त्रिपाठी, (अध्यक्ष, धर्मशास्त्र एवं पुराण विभाग, मायागिरि संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी) को हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर सत्परामर्श दिया है।

विक्रम पञ्चाङ्ग प्रेस के सचालक श्री श्याममूर्ति उपाध्याय एवं उनके कर्मचारी पुस्तक को यथाशीघ्र प्रकाश में लाने के कारण धन्यवादार्ह हैं। इस ग्रन्थ के उदीयमान प्रकाशक श्री नन्दकिशोर द्विवेदी, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, प्रकाशनादिभार वहन करने के कारण बधाई के पात्र हैं।

अन्त में मैं परमपिता परमेश्वर की असीम अनुकम्पा, अपनी पत्नी के सहयोग एवं गुरुजनों की कृपा के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने ज्ञात-अज्ञात रूप से इस ग्रन्थ के प्रणयन एवं प्रकाशन में मुझको उत्प्रेरित किया है।

यदि इस ग्रन्थ से धर्मशास्त्र के विद्यार्थियों, जिज्ञासुओं एवं अनुसन्धित्सुओं को कुछ लाभ मिल सका तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा। प्रूफ एवं मुद्रण सम्बन्धी कतिपय अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिसके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। अगले संस्करण में उन्हें दूर करने का यथासम्भव प्रयास करूंगा।

स्तुत्य: स एव गुणदोषविदोऽग्रगण्य:
दोषान् विहाय गुणमेव निषेवते य:।
श्लाघ्येष्वनेक विहगेषु मराल एव
वन्द्योऽम्बुवर्जन पुरस्सर दुग्धसेवी ॥ १ ॥
इंगाल सानुमति रत्नमिवावदातं
भस्मोच्चयेऽग्निमिव दीपमिवान्धकारे।
प्राप्य प्रसाद सुमुखस्य सुधीश्वरस्य
दोषे गुणग्रहणरूप निसर्गमीडे ॥ २ ॥

कार्त्तिकी पूर्णिमा
१९८०

—राजेन्द्र

"श्रीविश्वनाथःशरणम्"

धर्मद्रुम

प्रथम अध्याय

भारत धर्मप्राण देश है, यह अनादि काल से अनन्त एवं गम्भीर चतुर्दश विद्याओं के ग्रंथों से प्रेरणा एवं स्फूर्ति पाता रहा है। वैदिक धर्मरूपी वृक्ष (धर्मद्रुम) का ज्ञान १४ विद्याओं से प्राप्त होता है जैसा कि याज्ञवल्क्य स्मृति कहती है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

—(याज्ञ० १।३)

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, ६ वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष) ४ वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद) को धर्म का स्थान माना जाता है। इन्हीं विद्याओं को धर्म में प्रमाण भी कहा जाता है। किन्तु धर्म का मर्म वेद एवं धर्मशास्त्र ही बतलाते हैं। अन्य विद्यायें सहायिका हैं। मूलतः हमारा धर्म वेद एवं धर्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित है। इन ग्रंथों को अचिन्त्य शक्ति का शाब्दिक उन्मेष भी कहते हैं। वैदिक एवं धर्मशास्त्रीय ग्रंथ लोकातीत आर्षचक्षुर्मण्डित द्रष्टाओं की वाणी हैं जो सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक नैतिकता से परिपूर्ण हैं। यह वैदिक धर्म मनीषियों के प्रातिभचक्षु से साक्षात्कृत तथ्यों का प्रकाशपुंज है जो गहन अन्धकार को भी ज्योतिर्मय बना देता है।

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति

धर्म शब्द 'धृञ्' धारणे धातु से 'मन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति तीन ढंग से करते हैं।

(१) 'ध्रियते लोकः अनेन' अर्थात् धर्म वह है जिससे लोक का धारण किया जाय।

(२) 'धरति धारयति वा लोकम्' अर्थात् धर्म वह है जो संसार को धारण करे।

(३) 'ध्रियते लोकयात्रानिर्वाहार्थं यः सः धर्मः' अर्थात् धर्म वह है जिसे लोक-यात्रा निर्वाहार्थं सभी धारण करें।

इस प्रकार धर्म शब्द अपने स्वरूप का परिचय स्वयं देता है। फिर भी विविध शास्त्रों में इसकी प्रशंसित परिभाषायें पाई जाती हैं।

ऋग्वेद में धर्मशब्द—ऋग्वेद की ऋचाओं में धर्मन् शब्द विशेषण या संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। प्रायः यह शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। बहुत कम ऋचाओं में पुलिङ्ग के रूप में प्रयुक्त है। कुछ ऋचायें दी जा रही हैं जिससे धर्मन् का अर्थ स्पष्ट हो जाय—

आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।

—ऋ.वे. ४।५३।३

धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।

—ऋ.वे. ५।६३।७

द्यावा पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कमिते अजरे भूरि रेतसा।

—ऋ. ६।७०।१

उपर्युक्त स्थानों में धर्म अलौकिक शक्ति का बोधक है।

अचित्ती यत्र व धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः।

—ऋग्वेद ७।८९।५

यहाँ धर्म नियम या व्यवस्था का द्योतक है। इनसे आचरण सम्बन्धी नियम भी द्योतित होता है।

ऋग्वेद के ३।३।१ मंत्र में 'धर्माणि सनता' प्राचीन नियम या विधि का अर्थ प्रकट करता है। अथर्ववेद में भी ऋग्वेद के मंत्रों का प्रयोग मिलता है जिनमें धर्मन् शब्द का प्रयोग धार्मिक संस्कारों से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है—

जैसे— **ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।**
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं जले॥

—अथर्ववेद ११।९।१४

इसमें धर्म का अर्थ 'पुण्य फल' है। वैदिक साहित्य में धर्मन् शब्द धार्मिक विधि, धार्मिक क्रिया, निश्चित नियम एवं आचरण सम्बन्धी नियमों के रूप में प्रयुक्त हुआ। उपनिषद् साहित्य में वैदिक अर्थों के अतिरिक्त धर्म शब्द वर्णाश्रम

धर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ और इस शब्द से आश्रम के आधार एवं नियमों का बोध होने लगा। ऐतरेय ब्राह्मण में धर्म शब्द समस्त धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

धर्मस्य गोप्ता जनीति तमभ्युत्कृष्टमेवं विदभिवेक्ष्यन्नेतयर्चाभिमन्त्रयेत
—(ऐ. ब्राह्मण ८,१७)

कालक्रम से धर्मन् शब्द का अर्थ व्यापक होता गया एवं आर्य जाति के आचार-विचार का परिचायक बन गया। मानव जीवन के लिए कोई अधिकार हो, कर्तव्य हो, अनुशासन एवं आचरणसंहिता हो, समस्त नैतिक कार्य धर्म के अर्थ में समाहित हो गये। तैत्तिरीयोपनिषद् ऐसे ही धर्म की शिक्षा देता है। शिष्य को पठनोपरान्त गुरु से 'सत्यं वद' धर्मं चर....(१.११) आदि की शिक्षा मिलती थी। उपर्युक्त सन्दर्भ में ही उपनिषद् का 'धर्म' प्रयुक्त हुआ है। भगवद्गीता का 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' का धर्म (३।३५, भी इसी अर्थ का द्योतक है।

"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो-
ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्।
सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसास्थोऽमृतत्वमेति।"
—(छान्दोग्य २।२३।१)

उपनिषद् का यह वाक्य धर्म की व्याख्या तीन स्कन्धों में बताता है। (१) गृहस्थ धर्म अर्थात् यज्ञ, अध्ययन एवं दान (२) तापस धर्म अर्थात् तपस्या (३) ब्रह्मचर्य धर्म अर्थात् आचरणपूर्वक आचार्य के घर में रहकर विद्याओं का अध्ययन करना। उपनिषद् ने धर्म शब्द से आश्रम धर्म को उद्भासित किया है।

वेदों में सम्पूर्ण मानवजाति के लिए पूर्ण विकास (अर्थात् पूर्ण ब्रह्मरूपता) के सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। उन्नयन के इन सिद्धान्तों को धर्म नाम से अभिहित किया गया है। वेद आर्यजाति का पठनीय धर्मग्रंथ है, यह ज्ञान का आगार है। इसके उपदेश एवं आदेश हमें ज्ञान एवं कर्म की शिक्षा देते हैं, जिससे मनुष्य जाति पतनोन्मुख नहीं हो सकती। वेद में बुद्धि की पवित्रता देखी जा सकती है। प्रज्ञा का प्रकाश आत्मस्थ किया जा सकता है।

वेद में प्रथम धर्म की व्याख्या है—

समिध्यमानः प्रथमानु धर्मा समक्तुभिरज्यते विश्ववारः।
शोचिष्केशो घृतनिर्णिक्पावकः सुयज्ञो अग्निर्यजथाय देवान्॥
—(ऋ० सं० ३।१७।१)

अर्थात् संसार के लिए वरणीय यह अग्नि प्रथम धर्म के अनुसार प्रज्वलित की गई है और समिधा आदि के द्वारा अच्छी तरह बढ़ रही है। इसके केश (ज्वालायें) प्रदीप्त हैं, घी के द्वारा चमकी हुई यह पवित्र करने वाली सुन्दर यज्ञाग्नि देवताओं के यज्ञ के लिए है। यहाँ पर प्रथम धर्म का सूक्ष्मगत अर्थ है। सृष्टि की रचना के समय स्थूल चीजें नहीं थीं। इसलिए सूक्ष्म से स्थल की ओर आने के लिए भावयज्ञ एवं ज्ञानयज्ञ किये जाते थे। निम्नांकित मंत्र इसे स्पष्ट करता है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

—ऋ.वे. १०-९०-१६

देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ किया। वे प्रथम धर्म थे। ऐसा यज्ञ करके या प्रथम धर्म पालन करके देव महिमा से मण्डित और स्वर्गलोक के वासी हुए जहाँ पहले से साध्य और देव विद्यमान थे। प्रथम धर्म में यज्ञ से यज्ञ होता था। सृष्टि रचना के बाद यही प्रथम धर्म शाश्वत धर्म बन गया। यज्ञ शाश्वत नियम है जिसके नियामक जगन्नियन्ता परमेश्वर ही हैं। पुरुषसूक्त ने कालयज्ञ की ओर संकेत किया है जिसमें वसन्त-घी ग्रीष्म-इन्धन एवं शरद् को हवि का रूप प्रदान किया गया है। यथा—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

इस काल-यज्ञ में सरस वसन्त सृष्टि रूपी हवन कुण्ड में ग्रीष्म द्वारा प्रज्वलित प्राणाग्नि को घी द्वारा प्रदीप्त करती रहती है। शरद ऋतु शस्य सम्पदा की हवि से इसका संवर्धन करती रहती है। यह काल यज्ञ निरन्तर चल रहा है। इसके अभाव में सृष्टि ही समाप्त हो जायेगी।

अग्नि को वेद में सृष्टि-यज्ञ का होता माना गया है। यास्क के अनुसार अग्नि के तीन रूप हैं मित्र (सूर्य), वरुण (विद्युत अन्तरिक्ष की अग्नि), अग्नि (पृथ्वी पर निवास करने वाली), सबसे पहले सूर्य की उत्पत्ति हुई वह अपना धर्म पालन कर रहा है। तदनुरूप ही वरुण और पृथ्वी स्थित अग्नि भी अपने धर्म का पालन कर रहे हैं। अग्नि की प्रशंसा में यह मंत्र प्रसिद्ध है—

समिधानः सहस्रजिदग्ने धर्माणि पुष्यसि। देवानां दूत उक्थ्यः॥

हे अग्नि तुम सहस्रजित हो। प्रज्वलित होकर तुम धर्मों को पुष्ट करते हो और देवताओं के प्रशंसनीय दूत हो। यहाँ पर धर्म शब्द बहुबचन में प्रयुक्त हुआ है। धर्म का बहुवचन में प्रयोग यह सिद्ध करता है कि मनुष्य की भिन्न-भिन्न स्थितियों में धर्म का भिन्न-भिन्न रूप है जैसे व्यापारी के लिये जो धर्म है वह विद्यार्थी के लिये उपयुक्त नहीं है। अग्नि को धर्म का अद्भुत अध्यक्ष कहा गया है। यथा—

विशां राजानमद्भुतं अध्यक्षं धर्मणामिमम्। अग्निमोडे स उ श्रवत्।

—ऋ० वे० ८।४३।२४

इसमें अग्निदेव की स्तुति की गई है जो धर्म के अद्भुत अध्यक्ष हैं। सोम को बलवान एवं धर्म धारण करने वाला कहा गया है—

वृषा सोम द्युमां असि, वृषादेव वृषव्रतः वृषा धर्माणि दधि से।

—ऋ०वे० ९।६४।१

जो बलवान एवं समर्थवान हैं वे ही धर्म की पताका फहरा सकते हैं।

विश्वाधार्मानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रमोस्ते सतः परियन्ति केतवः व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजति। ऋ०वे० ९-८६।५।

हे विश्वचक्षु ! तुम संसार भर को देख रहे हो तुम प्रभु, ऋभु (दीप्तिमान) हो। तुम्हारी ध्वजा समस्त संसार में फैल रही है। तुम व्यापक हो, धर्मनिष्ठ व्यक्तियों के धर्मों से द्रवित होते हो। समस्त भुवनों के पालक के रूप में दीप्तिमान हो रहे हो।

धर्म का एक वचन में भी प्रयोग हुआ है। यथा—

विभ्राड् बृहत् सुमृतं वाजसातमं धर्मन् दिवो धरुणे सत्यमर्पितम्।
अमित्रहा, वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्यज्ञे असुरहा सपत्नहा॥

१०-१७०-२

द्यावा का धर्म एक ही है—प्रकाश करना। इस प्रकाश को परमात्मा ही जन्म देता है। द्यावा का प्रकाश बाहर एवं प्रज्ञा का प्रकाश अन्दर दोनों मिलकर अविनाशी सत्य को जन्म देते हैं। इसको जो पा गया उसके शत्रु, बाधाएँ, एवं असुर नष्ट हो जाते हैं।

त्वं विश्वस्माद्भुवनात्पासि धर्मणासुर्यात्पासि धर्मणा।

—ऋ०वे० १-१३४।५

यहाँ भी धर्म एक वचन में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ प्रार्थना की गई है कि हे देव! तुम धर्म द्वारा समस्त भुवनों को वस्तुजन्य दोषों से बचाते हो। धर्म द्वारा ही असुरों के घातक आक्रमणों से हमारी रक्षा करते हो। धर्म का यह स्वरूप सदाचार या पुण्य कर्म की ओर इंगित कर रहा है। ऋत एवं सत्य की महिमा वेदों में खूब गाई गयी है। यथा—

ऋतेन ऋतं धरूणं धारयन्त, यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्।
दिवो धर्मन्धरूणे सेदुषो नृञ्जातैरजातौं अभि ये ननक्षुः॥

—ऋ.वे. ५।१६।२

ऋत या सदाचार या सत्य के नियमों को पालन करते हुए जो सबके धारणकर्ता ऋत को अपने जीवन का अंग बना लेता है, वे यज्ञ के अद्भुत सामर्थ्य, परम व्योम से प्रकाश को धारण करने वाले धरूण (यज्ञस्तम्भ सूर्य) पर आसीन हम जातों की अपेक्षा अजात, प्रेरक देवताओं, दिव्य शक्तियों को सामने ही प्राप्त कर लेते हैं।

ऋत के वृहत् समुद्र, तंतु या पथ का वर्णन ऋग्वेद में आया है। तंतु वितत होता है अर्थात् फैलता है। समुद्र भी फैला हुआ है। पथ तो लम्बा होता ही है। ऋत का यह फैलाव ब्रह्माण्ड है। इन सबको धारण करने वाला तत्व धर्म है। वह दो शक्तियों से क्रियाशील है प्राण तथा अपान, मित्र या सूर्य प्राण है यानी आधान है, वरुण विघ्ननिवारक है अर्थात् एक शक्ति अन्दर कुछ देती है, दूसरी शक्ति अन्दर से दूषित अंशों को निकालती है। इसलिये मंत्र कहता है कि हम मित्र एवं वरुण के धर्म द्वारा बढ़ते हैं। यथा—

तरत् समुद्र पवमान उर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत्।
अर्षन् मित्रस्य वरूणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत्॥

मित्र वरुण की शक्ति से हम वर्द्धमान होकर वृहत् या व्यापक ऋत को (सत्य-नियम को) प्राप्त कर लेते हैं। इन्हीं नियमों के माध्यम से नियामक तक पहुँचा जा सकता है— **ऋतस्य तन्तु वितनं विचृत्य**—ऋत के समुद्र को पार कर नियामक का दर्शन किया जा सकता है। धर्म का एक वचनीय प्रयोग आध्यात्मिक क्षेत्र के लिये विशेष हुआ हैं। धर्म का बहुवचनीय प्रयोग सामाजिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक क्षेत्र के नियमों का लक्ष्य करता है। संसार प्रपंच से भरा हुआ हैं। धर्म ही मनुष्य को इससे पृथक् करता है। यही बहुत्व से एकत्व की ओर प्रेरित करता है। इसलिये ऋग्वेद कहता है—

सत्यस्यनावः सुकृतमपीपरन्। ऋ. वे. ९।७३।१

सत्य भाषण ऐसी नाव है जिस पर बैठकर सत्कर्म करनेवाले भवसागर पार कर जाते हैं। अमरकोषकार की दृष्टि में धर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं—**स्याद्धर्मम स्त्रियां पुण्य श्रेयसी सुकृतं वृषः धर्मस्तु तद्विधिः धर्माः पुण्ययमन्यायस्वभावाचारसोमपाः"** अर्थात्- पुण्य, वैदिक विधि—यागादि, यमराज, न्याय, स्वभाव, आचार एवं सोमरस पीने वाला इत्यादि। अन्य कोषों में कुछ और अर्थ मिलते हैं। धर्म का अर्थ भाग्य या अदृष्ट, (शास्त्रविहित कर्मों के करने से जो शुभ फल मिलता है), आत्मा, शरीर को धारण करने से जीवात्मा, आचार, वस्त्र का गुण, स्वभाव, उपमा, अहिंसा, न्याय, उपनिषद्, धर्मराज, सोमाध्यायी, सत्संग, धनुष, भाग्यवान् एवं दान आदि अर्थ प्राप्त होते हैं। व्याकरण की दृष्टि से धर्म का अर्थ धारण करना, आलम्बन देना या पालन करना होता है।

निरुक्त ने धर्म शब्द का अर्थ 'नियम' बतलाया है। व्याकरण एवं निरुक्त के अर्थों को ध्यान में रखकर धर्म उस नियम को कहा जा सकता है जिसने विश्व को धारण कर रखा है। अतः ऋषियों की वाणी **"धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्"** सत्य प्रतीत होती है।

महाभारतकार ने धर्म की बड़ी रोचक व्याख्या की है—

धारणाद्धर्म मित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्ममिति निश्चयः॥

—(कर्णप० ६९-५८)

धारण करने से इसे धर्म कहते हैं। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण से संयुक्त हो, वह धर्म है।

वैशेषिक दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण बताया है— **"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः"** अर्थात् जिससे इह लोक में उन्नति और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो वह धर्म है। धर्म से सुख की प्राप्ति होती है। सुख भी दो प्रकार के होते हैं—इहलौकिक एवं पारलौकिक। कणाद के अनुसार जिस नियम से दोनों प्रकार के सुख प्राप्त हों वही धर्म है।

श्रीमद्भागवतकार ने धर्म का मूल वेद को मानकर लिखा है कि—

"वेद प्रणिहितो धर्मोह्यधर्मस्तद्विपर्ययः" (६।१।४४)

अर्थात् वेद ने जो नियम बनाया है वही धर्म है, उसके विपरीत अधर्म है। गौतम धर्मसूत्रकार ने कहा है—'**वेदो धर्ममूलम्**' अर्थात् वेद धर्म का उद्गम है। मनु का भी वाक्य है कि– '**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**' इस कारण महर्षि व्यास ने वेद-विहित कर्म को ही धर्म माना है।

मीमांसा सूत्रकार महर्षि जैमिनि ने धर्म की व्याख्या करते हुए वेदविहित प्रेरक लक्षणों को धर्म के रूप में स्वीकार किया है। पूर्व मीमांसा सूत्र में धर्म का लक्षण लिखा है—'**चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः**' १।१।२ अर्थात् वेद में बताये गये प्रेरक नियम और लक्षण धर्म हैं, जैमिनी ने धर्म को एक ऐसा कार्य माना है जो मनुष्य का सबसे अधिक हित करने वाला है, वह एक प्रबोधकारी (वैदिक) वचन से विशेषता को प्राप्त है। चोदना शब्द का अर्थ है वह वाक्य जो कोई कार्य करने के लिये प्रेरित करता है या प्रबोधित करता है। चुद् प्रेरणे से चोदना शब्द की निष्पत्ति होती है। **चोदनेनैव लक्षणं प्रमाणं यस्य तादृशी योऽर्थः स धर्मः। चोदना—प्रवर्तको वेद विधिरूपः "विहित क्रियया साध्यो धर्मः। अतः "वेद बोधितेष्ट साधनताकः धर्मः। तद् व्यतिरिक्तमधर्म—इति।**

तैत्तरीय श्रुति कहती है—**"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा", लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।" अतः धर्म शब्देन—भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं—उभयं इह एव धर्म उच्यते।** हमारे शास्त्रकारों ने बार-बार उद्घोषित किया है कि **"यागादिरेव धर्मः", "वेद प्रतिपाद्य प्रयोजनवदर्थो धर्मः", "धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः", "श्रुति प्रमाणको धर्मः", 'श्रुति स्मृति विहितो धर्मः।'** इस प्रकार भारतीय धर्म का मूल वेद एवं स्मृति को ही माना जाता है। इनके आधार पर जो आचरण आचरित होते हैं, वे ही धर्म हैं।

धर्म की कुछ एकांगी परिभाषायें भी शास्त्रों में उल्लिखित हैं। यथा—**अहिंसा परमो धर्मः** (महाभा. अनुशा. पर्व. ११५।१) **आनृशंस्यं परो धर्मः** (वनपर्व–३७३-७६) **आचारः परमो धर्मः** (मनु १।१०८) इन परिभाषाओं में धर्म के लक्षण विद्यमान हैं किन्तु धर्म के किसी एक ही चरण पर लक्ष्य रखा गया है। अतः इन्हें पूर्ण परिभाषा की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

धर्म के उपादान

धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में धर्म के स्रोतों की विशद चर्चा है। गौतम धर्मसूत्र में पहला सूत्र है **"ॐ वेदो धर्ममूलम्" ।१।** । चारों वेद धर्म के मूल (प्रमाण) हैं।

दूसरा सूत्र है—**"तद्विदां च स्मृतिशीले"** ।२। अर्थात् वेदों के ज्ञाता मनु आदि की स्मृतियाँ तथा उनके धर्मानुकूल आचरण भी प्रमाण हैं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्रकार ने भी लिखा है—**"धर्मज्ञ समयः प्रमाणम्, वेदाश्च"** १।१।१।२, ३ अर्थात् धर्म को जानने वाले, वेद का मर्म समझने वाले व्यक्तियों का मत ही वेद का प्रमाण है। वशिष्ठ धर्मसूत्र का भी कहना है कि श्रुति एवं स्मृति द्वारा विहित आचरण एवं नियम धर्म है, इसके अभाव में शिष्ट जनों के आचार को प्रमाण माना गया है—**"श्रुतिस्मृति विहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। शिष्टः पुनरकामात्मा"**। मनुस्मृति का कथन है—

"वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ २।६॥

वेद, स्मृति (परम्परा से चला आया हुआ ज्ञान), वेदज्ञों के आचरण या साधुओं का आचार तथा आत्मा की तुष्टि को धर्म का मूल माना जाता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति भी मनु की बातों को दुहराती है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥ १।७॥

याज्ञवल्क्य की दृष्टि से धर्म के उपादान ५ हैं। (१) वेद (२) स्मृति (३) सदाचार (भद्र लोगों के आचार, व्यवहार) (४) जो आचरण स्वयं को रुचिकर (प्रिय) लगे तथा विवेक सम्मत हो (५) उचित संकल्प से उत्पन्न अभिकांक्षा या इच्छा।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि धर्मशास्त्रों में जो कुछ कहा गया है उसका आधार वेद ही है। वेदों ने जिस नियम या आचरण को मान्यता दी है उसी आधार पर धर्मसूत्रों के नियमों की रचना हुई है। काल के साथ-साथ वैदिक कर्मों में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। तब धार्मिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये धर्मसूत्र, गृहसूत्र एवं श्रौतसूत्रों की सृष्टि हुई ताकि विस्मृतिवश भी धर्मानुष्ठानों में विकृति नहीं आवे। गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वसिष्ठ, विष्णु, हारीत, शंख, लिखित, मानव, वैखानस, अत्रि, उशना, कण्व, कश्यप, गार्ग्य, च्यवन, जातुकर्ण्य, देवल, बुध, बृहस्पति, भरद्वाज, शतातप, सुमन्तु आदि महर्षियों ने धर्मसूत्रों की रचना की। आचार, विधि-नियम एवं क्रिया संस्कारों के लिये धर्मसूत्र रचे गये। ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित श्रौत अग्नि में सम्पाद्यमान यज्ञ-यागादिक अनु-

ष्ठानों के लिये श्रौतसूत्र रचे गये। श्रुति-प्रतिपादित महत्वपूर्ण यज्ञों का क्रमबद्ध वर्णन श्रौत सूत्रों में है। गृह्याग्नि में होने वाले यागों का एवं यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों की विस्तृत चर्चा गृह्यसूत्रों में की गई। वेदि के निर्माण की रीति का वर्णन शुल्व सूत्र में किया गया। ....

पुनः भारत की धार्मिक अवस्था की अवनति आरम्भ हुई। तप, विद्या एवं शारीरिक शक्ति का अधःपतन होने लगा तब तत्कालीन ऋषियों ने स्मृतियों की रचना कर पतनोन्मुख वैदिक संस्कृति को नवजीवन प्रदान किया। स्मृतियों में प्रायः आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त का सम्यक् विवेचन किया गया, यही धर्मशास्त्र कहलाया।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः

—मनु० २।१०

वेद को श्रुति कहते हैं तो स्मृति को धर्मशास्त्र कहा जाता है। वेद की संहिताओं में और ब्राह्मण ग्रन्थों में धर्मशास्त्रों के विषय प्रसंगतः प्रचूर मात्रा में उल्लिखित है, जैसे विवाह, उत्ताधिकार, श्राद्ध एवं नारी की स्थिति। काणे महोदय का भी विचार यही है कि कालान्तर में धर्मसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों में जो विधियां बतलायी गई, उनका मूल वैदिक साहित्य में अक्षुण्ण रूप में पाया जाता है। धर्मशास्त्रों ने वेद को जो धर्म का मूल कहा है, वह उचित ही है।[1]

धर्म का स्वरूप

वैदिक धर्म की उदारता, सहिष्णुता एवं सत्यवादिता के कारण ही भारतीय संस्कृति को गौरव प्राप्त हुआ। ...इतना वैज्ञानिक एवं आध्यात्मपरक वैदिक धर्म है कि किसी अन्य धर्म से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।

भारतीय संस्कृति उद्घोष करती है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः॥

जो धर्म किसी धर्म का विरोध नहीं करे अर्थात् सभी धर्मों का अविरोधी हो वही धर्म है। जो धर्म दूसरे धर्म में बाधा डालता है वह धर्म नहीं कुधर्म कहलाता है।

सृष्टि में तीन गुण विद्यमान है सत्व, रज और तम। सृष्टि की उत्पत्ति रजोगुण से होती है, सत्वगुण से उसका परिवर्धन होता है, तमोगुण से सृष्टि का

---

१. प्रो० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ७।

संहार होता है। जन्म विकास एवं मृत्यु में सृष्टि के ये गुण कार्य करते है। जिस कर्म से रजोगुण एवं तमोगुण से निवृत्ति हो और सत्त्वगुण की वृद्धि हो वही धर्म है। राजसी एवं तामसी प्रवृत्तियों को बढ़ाने वाला कर्म अधर्म कहा जाता है। भागवतकार ने सत्त्वगुण से सम्पन्न धर्म को ही भगवान् माना है। भगवान् ने कहा भी है कि **'धर्मोहं वृषरूपधृक्'** अर्थात् दया, तप, शौच एवं सत्य नामक चार पैर वाले वृषभ का रूप धारण करने वाला धर्म मैं (ईश्वर) स्वयं हूं। धर्म के आधार तो स्वयं परब्रह्म परमेश्वर है। जो व्यक्ति धर्म की रक्षा करता हैं, धर्म उसकी रक्षा करता है—**"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः"** भगवान् विष्णु के नामों में **'धर्मगुब्धर्मकृद्धर्मी'** नाम भी लोक विश्रुत है। अर्थात् विष्णु स्वयं धर्म के निर्माता हैं, रक्षक हैं एवं स्वयं धर्मस्वरूप है।

पाश्चात्य विद्वान "मेकेंजी" ने अपनी पुस्तक "हिन्दू एथिक्स" (Hindu Ethics) में भारतीय धर्म को चार तत्वों का सम्मिश्रण बतलाया है। हमारा धर्म मात्र अंग्रेजी के रिलीजन का पर्यायवाची ही नहीं है। रिलीजन (Religion) के अतिरिक्त वर्च्यु (Virtue) लॉ (Law) एवं ड्यूटी (Duty) के भाव भी समाहित है। अपने महान् गुणों के कारण ही हिन्दू धर्म समन्वय की शिक्षा देता रहा है। आदर्शवाद की स्थापना करना इसका उद्देश्य नहीं अपितु व्यावहारिकता के धरातल पर आदर्श का समन्वय करना इसका ध्येय है।

प्रो० मैक्समूलर (Maxmuler) ने अपने ग्रंथ ह्वाट कैन इण्डिया टीच अस (What Can India Teach us) में भारतीय धर्म की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—इसके अन्तर्गत न केवल पूजा एवं प्रार्थना आती थी बल्कि वह सब भी आता था जिसे हम दर्शन, नैतिकता कानून और शासन कहते हैं। भारतीयों का सम्पूर्ण जीवन उनके लिए एक धर्म के समान था और अन्य चीजें मानो इस जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के लिये निर्मित सुविधामात्र थी, हिन्दू धर्म की यह विशेषता रही है कि वह यथार्थवादी, आदर्शवादी, लौकिक, पारलौकिक एवं आध्यात्मिक गुणों से विभूषित है। अगर इस धर्म में चिरन्तन सत्य एवं चिरस्थायी तत्व नहीं होते तो हजारों वर्षो से यह उज्ज्वल संस्कृति को प्रकाशित नहीं करता।

हिन्दू धर्म की विशिष्टता आचार के कारण है। हिन्दू धर्मशास्त्र कोरा आदर्शवादी सिद्धान्त नहीं बल्कि वह व्यवहार में आचरण संहिता है। कहा भी है— **"आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः"** धर्म आचार से जन्म लेता है, जिसकी रक्षा स्वयं प्रभु अच्युतानन्द करते हैं। इसी कारण कहा है—

आचारः परमोधर्मः सर्वेषामिति निश्चयः ।
हीनाचार परितात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति ॥

—(वसि. धर्म ६।१।)

आचारहीनों को न इसलोक में सुख होता है और न परलोक में भले ही वह धर्मज्ञाता क्यों न हो । और भी—

आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य,
वेदाःषडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः ।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था
अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः ॥

—व. ध. सूत्र ६।४

अर्थात् वेदका ज्ञाता एवं अन्य शास्त्रों का पारंगत व्यक्ति आचार से भ्रष्ट होकर सुख नहीं पा सकता, जैसे अन्धे के हृदय में सुन्दर प्रियतमा की सौन्दर्यानुभूति का सुख उत्पन्न नहीं होता । इसी कारण हमारे धर्मशास्त्र बार-बार आचारवान् बने रहने की शिक्षा देते हैं—

आचारो भूति जनन आचारः कीर्ति वर्धनः
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्य लक्षणम्

सचमुच सम्मान, दीर्घ जीवन एवं सुख का कारण आचार ही है, जो धर्म का मूल भी माना जाता है । हिन्दूधर्म शाश्वत शिक्षा देता है—

धर्मं चरत माधर्मं सत्यं वदत मानृतम् ।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत मापरम् ।

—(व. ध. सू.)

धर्म का आचरण करो, अधर्म का नहीं । सत्य बोलो असत्य नहीं । दूरदर्शी बनो संकुचित दृष्टिवाला नहीं । हीन विचार देखकर हीन विचार मत अपनावो । श्रेष्ठ वस्तु देखो और लक्ष्य ऊँचा रखो ।

'आचारप्रभवो धर्मः'

सदाचार से धर्म का जन्म होता है । अतः इसे धर्मका मूल कहना न्यायसंगत है । विष्णु पुराण में सदाचार की बड़ी रोचक व्याख्या दी गई है—

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते ॥

—(वि. पु. ३।११।३)

सत् शब्द साधु का बोध कराता है। साधु वह है जो दोष-रहित है। ऐसे साधुजनों के आचरण को (सत्कर्म) सदाचार कहते हैं। महर्षि मनु के अनुसार—

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः॥
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

—(मनु० स्मृ० २।१८)

चारों वर्ण, चारों आश्रम एवं वर्णाश्रम से हीन जातिवालों के लिये निज-परम्परागत, प्राचीन सुसंस्कृत कर्तव्य या आचार ही सदाचार है। सदाचार (अहिंसा, शौच, सत्य आदि) को महर्षि मनु ने शाश्वत कहा है—

चतुर्णामपि वर्णानाम् आचारश्चैव शाश्वतः

—(मनु० स्मृ० १-१०७)

सृष्टि में सुव्यवस्था का जो भी दिग्दर्शन होता है, वह सदाचार के शाश्वत नियम का ही पुण्यफल है। शास्त्राचार या सदाचार उस शास्त्रोद्भासित अभ्यास का नाम है जिसमें रजो गुण (चंचलता आदि) तमो गुण (आलस्य आदि) एवं स्वाभाविक इन्द्रियवृत्तियाँ (वासना) प्रभावहीन रहती है। सदाचार से पुष्ट शरीर की प्राप्ति होती है बुद्धि का संमार्जन होता है। चित्त की चंचलता का निवारण होता है। तत्पश्चात् मानव मन ज्ञान-पथ (पुण्य-पथ) पर निर्बाध गति से अग्रसर होता है।

उपनिषदों में आचार की शुद्धि पर बहुत बल दिया गया है—

'आचारशुद्धौसत्त्वशुद्धिः'

आचार की शुद्धि से सत्त्व (अन्तःकरण या जीवन) की शुद्धि होती है।

'सत्त्वशुद्धौध्रुवास्मृतिः'

अन्तःकरण की शुद्धि से निश्चयात्मिका स्मृति या बुद्धि होती है।

'स्मृतिशुद्धौ सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'

स्मृति (मानसिक शक्ति) की शुद्धि से सभी प्रकार की ग्रन्थियों (बन्धनों) से विशेष प्रकार से मुक्ति मिल जाती है।

ऋषियोंकी वाणी से यह सिद्ध है कि आचार हमारी स्वाभाविक शक्ति का सम्वर्द्धन करता है।

महर्षि मनु ने सदाचार को धर्म का मूल मानकर, श्रुति एवं स्मृति द्वारा सम्यक् प्रकारसे उसका निरीक्षण और परीक्षण करके, आचरण करने का उपदेश मानव मात्र को दिया है—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः

—(मनु० ४।१५५)

कर्म की भाँति सदाचार के भी तीन भेद है (१) कायिक (२) वाचिक (३) मानसिक। जैन सम्प्रदाय में इसे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि एवं सम्यक् चरित्र—नाम से पुकारा जाता है।

स्नानादि से पवित्र होना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, अहिंसा एवं परोपकार में प्रवृत्त होना, देवपूजन करना—ये सब शारीरिक सदाचार हैं।

सत्य एवं प्रिय सम्भाषण, सद्ग्रन्थों का अध्ययन एवं ईश्वर भजन इत्यादि—ये सब वाचिक सदाचार हैं।

सौम्यता, करुणा, धैर्य, सहानुभूति, शुद्धभाव इत्यादि—ये सब मानसिक सदाचार हैं।

आचरण का सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा ही अमर एवं शाश्वत हैं। आत्मा के अभाव में शरीर तो दुर्गन्धमय है। अतः शरीर से पहले आत्मा के लिये ही आचरण करना चाहिए।

आचार का महत्त्व

मनुकी दृष्टि में सदाचार दीर्घजीवन का आधार है। अन्य सभी सुलक्षणों के अभाव की भी यह पूर्ति कर देता है।

"सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

—(मनु० स्मृ० ४-१५८)

सदाचारी न केवल दीर्घजीवी होता है वरन् अन्य दोषपूर्ण शारीरिक लक्षणों को भी मिटा देता है। यथा—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

—(मनु० ४।१५६)

इसी कारण 'आचारः परमो धर्मः" का दिव्य सन्देश महर्षि मनु ने दिया सदाचार को ही धर्म का मूल या धर्मद्रुम की जड़ कह सकते हैं। यथा—

धर्म्मोंऽस्यमूलान्यसवः प्रकाण्डो वित्तानिशाखाश्छदनानिकामाः।
यशांसिपुष्पाणिफलञ्चपुण्यमसौ सदाचार तरूम्महीयान्॥

सदाचार का मूल धर्म है (शास्त्रोक्त विधि का प्रतिपालन ही धर्म है)। सदाचाररूप वृक्ष का प्रकाण्ड या पेड़ आयु है। (अर्थात् सदाचार पालन से मनुष्य की आयु दृढ़ एवं लम्बी होती है)। सदाचार रूपी वृक्ष की शाखा धन है। सभी प्रकार की कामनायें उसके पत्र हैं। सदाचार वृक्ष का पुष्प यश है। (अर्थात् सदाचार-सम्पन्न व्यक्ति मनुष्यों में यश प्राप्त करता है)। सदाचार वृक्ष का फल पुण्य है (अर्थात् सदाचार से युक्त व्यक्ति पुण्य को प्राप्त करता है)। यहाँ पुण्य—पवित्रता, निष्पापता एवं चित्तशुद्धि के अर्थ में प्रयुक्त है।

इसकारण कोई भी कार्य आचार से संयुक्त होने पर ही फल देता है। यथा—

आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्

—(मनु० १-१०९)

✻

दूसरा अध्याय

धर्मसूत्रकारों का संक्षिप्त परिचय

सूत्र ग्रंथों का निर्माण युग की आवश्यकता को देखते हुए उत्तर वैदिक काल से प्रारम्भ हुआ। सूत्र ग्रंथ कल्पशास्त्र के अंग माने जाते थे। विष्णुमित्र ने ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कल्प का अर्थ स्पष्ट किया है कि **"कल्पो वेद-विहितानां कर्मणामानुपूर्वकेण कल्पना शास्त्रम्"** अर्थात् वेद में विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ-यागादि का विधान इतना विस्तृत बन गया कि उनको क्रमवद्ध करने की आवश्यकता हुई। कल्पसूत्र मुख्यतया ४ प्रकार के मिलते है (१) श्रौतसूत्र (२) गृह्यसूत्र (३) धर्मसूत्र (४) शुल्वसूत्र। प्रायः प्रत्येक संहिता के अपने सूत्रग्रंथ है।

ऋग्वेद से सम्बद्ध दो श्रौतसूत्र है (१) आश्वलायन (२) शाङ्खायन। गृह्यसूत्र भी इसी नाम से प्रसिद्ध है।

शुक्ल यजुर्वेद का कात्यायन श्रौतसूत्र है एवं पारस्कर गृह्यसूत्र है

कृष्णा यजुर्वेद का बौधायन श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र आपस्तम्ब श्रौतसूत्र एवं गृह्य सूत्र, अधिक प्रचलित है। हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र भी इसी शाखा के सम्बद्ध है। इसी नाम का गृह्यसूत्र भी है। भारद्वाज श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र भी इसी शाखा का है। काठक गृह्यसूत्र एवं वाराह श्रौतसूत्र कृष्ण यजुर्वेद शाखा का ही है।

सामवेद से सम्बद्ध लाट्यायन श्रौतसूत्र द्राह्यायण श्रौतसूत्र एवं जैमिनीय श्रौतसूत्र है गृह्यसूत्रों में खदिर, गोमिल एवं जैमिनीय गृह्यसूत्र प्रसिद्ध है।

अथर्ववेद से सम्बद्ध वैतान श्रौतसूत्र एवं कौशिक गृह्यसूत्र है।

विषय वस्तुओं के आधार पर गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में काफी साम्यता है। गृह्यसूत्रों में गृहाग्नि, गृहयज्ञ, उपासना, हवन, वार्षिक यज्ञ, संस्कार, स्नातक-नियम मधुपर्क एवं श्राद्धकर्म वर्णित है। ये विषय दैनिक गृहचर्य्या से सम्बन्धित हैं। धर्म सूत्रों में भी विवाह संस्कार, छात्रों एवं स्नातको से सम्बन्धित नियम, श्राद्ध एवं मधुपर्क की विवेचना है। किन्तु घरेलू जीवन से सम्बन्धित क्रिया संस्कारों की व्याख्या धर्मसूत्रों में अधिक मात्रा में नहीं पाई जाती। धर्मसूत्रों के प्रतिपाद्य विषय

हैं—आचार, विधि-नियम एवं क्रिया संस्कारों की विशद् व्याख्या एवं विवेचन। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र में अत्यधिक सूत्र एक ही हैं।

गौतमधर्मसूत्र
(६०० ईसा पूर्व से ४०० ई० पू० तक)

उपलब्ध धर्मसूत्रों में गौतमधर्मसूत्र प्राचीनतम माना जाता है। अन्य सूत्रकार इनसे प्रभावित हुए हैं तथा गौतम एवं उनके सूत्रों का उल्लेख भी किये हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार गौतमधर्मसूत्र का सम्बंध सामवेद से था। वेद की इस शाखा का यही सूत्र-ग्रंथ था। निश्चय ही गौतम नाम सामवेद से सम्बद्ध लाट्यायन एवं द्राह्यायण श्रौत्रसूत्रों में आया है, किन्तु यह कहना कठिन है कि महर्षि गौतम, जो सूत्रकार थे, उनकी ओर ही श्रौतसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों ने इंगित किया है। धर्मग्रंथों में गौतम नाम इतनी बार आया है कि यह एक विवाद का विषय हो गया है। सामवेद की राणायनीय शाखा के ९ उपविभाग हैं जिसमें एक उपविभाग के शाखाकार आचार्य गौतम थे। गोभिलगृह्यसूत्र ने प्रमाण के रूप में गौतम को उद्धृत किया है। **कठोपनिषद्** में नचिकेता और उसके पिता के लिये गौतम नाम आया है। छान्दोग्य उपनिषद् में हारिद्रुमत के गौतम नामक आचार्य (४.४.१-छान्दो.) का नाम आया हैं।

धर्मसूत्रकार गौतम का काल क्या रहा होगा ? यह विवादास्पद है, किन्तु सूत्रग्रंथ की सामग्रियों के आधार पर उसके प्रणयन काल का अन्दाज लगाया जाय तो निश्चित ही गौतमधर्मसूत्र की रचना बौद्ध काल से पहले मान सकते हैं। यास्क के बाद गौतम का काल आता है। पाणिनि व्याकरण का पूर्ण प्रयोग इस धर्मसूत्र में नहीं हुआ है, इससे लगता है कि या तो पाणिनि के पहले यह ग्रन्थ जन्म ले चुका था या ग्रंथनिर्माण के समय तक पाणिनि का व्याकरण प्रचलित नहीं हो पाया था। अगर प्रचलित होता तो गौतम 'द्वाविंशत्' की जगह 'द्वाविंशतेः' नहीं लिखते। बौद्धों ने हिन्दूधर्म एवं धर्मग्रंथों पर अनेक प्रहार किये जिसकी चर्चा इस धर्मसूत्र में नहीं है। अतः बौद्ध काल के पहले ही इस ग्रन्थ का रचनाकाल माना जा सकता है। डा० पी० वी० काणे के अनुसार ६०० ई० पू० के पहले यह ग्रंथ प्रणीत हो चुका था।

अन्य ग्रंथों में गौतम के उद्धरण

बौधायन धर्मसूत्र में गौतम का प्रभाव प्रायश्चित्त प्रकरण में देखने को मिलता है। गौतम धर्मसूत्र का २९ वाँ अध्याय बौधायन ने साधारण परिवर्तन के बाद अपना लिया है।

वसिष्ठ ने भी अपने धर्मसूत्र का २२ वाँ अध्याय गौतम के १९ वें अध्याय को आधार मानकर लिखा है। दोनों के सूत्र एक जैसे हैं। मनुस्मृति में भी गौतम के नाम का उल्लेख आया है। याज्ञवल्क्य ने गौतम को धर्मशास्त्रकारों की श्रेणी में गिना है। कुमारिल ने अपने ग्रन्थ तंत्रवार्तिक में लगभग १ दर्जन सूत्र गौतमधर्मसूत्र से लिये हैं। विश्वरूप ने भी अपनी याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका में गौतम के सूत्रों की ओर इंगित किया है। मेधातिथि ने भी अनेक उद्धरण गौतम से लिये हैं जिसे मनुस्मृति की टीका में देखा जा सकता है।

मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि एवं माधव ने भी कई श्लोकों को गौतम द्वारा रचित स्वीकार किया है—अपरार्क एवं हेमाद्रि ने वृद्धगौतम तथा दत्तकमीमांसा में वृद्धगौतम तथा बृहद्गौतम दो (पृ० ७२) नामों के उल्लेख हैं। वस्तुत: वृद्धगौतम स्मृति और बृहद्गौतम नाम धर्मसूत्रकार गौतम के बाद के हैं।

धर्मसूत्रकार गौतम

मनुस्मृति में गौतम को उतथ्य का पुत्र (३.१६) कहा गया है। वे कहाँ के रहने वाले थे कहना कठिन है। उनका धर्मसूत्र सम्पूर्ण भारत के लिये समादरणीय था। बौधायन ने निर्देश दिया है कि चाहे दक्षिण हो या उत्तर गौतम के नियम सबके लिये हैं। गौतम धर्मसूत्र में ३ प्रश्न एवं २८ अध्याय हैं। इनमें राजधर्म, वर्णधर्म, नित्यकर्म तथा प्रायश्चित्त का विशेष विवेचन है। गौतम ने धर्मशास्त्रकारों में मनु का नाम लिया है अतः उसके बाद की यह कृति है।

बौधायनधर्मसूत्र
(५०० ई० पू० से २०० ई० पू०)

आचार्य बौधायन कृष्णयजुर्वेद शाखा के थे। इनकी जन्मभूमि का सही ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया है। आजकल बौधायन के अनुयायी बौधायनीय अधिक संख्या में दक्षिण भारत में रहते हैं, इस कारण बौधायन को दक्षिण भारतीय माना जा सकता है। डा० काणे का विचार है कि "बौधायन ने **दक्षिणापथ के** लोगों को मिश्रित जातियों में गिना है, अत: वे दक्षिणी नहीं हो सकते, क्योंकि वे अपने को नीच जाति में क्यों रखते ?"[१] किन्तु निष्पक्ष धर्म या न्यायवेत्ता सत्य लिखने या बोलने से अपने को नहीं रोकता है। बौधायन हो सकता है दक्षिणापथ के नहीं हों, उसके पड़ोसी राज्य के निवासी हों बाद में उनके अनुयायी या उनके वंशज दक्षिणा-पथ में रहने लगे हों।

---

१. धर्मशा. का इति., पृ. १९, भाग-१।

बौधायन धर्मसूत्र में कण्वबौधायन का नाम मिलता है। इस धर्मसूत्र के टीकाकार श्री गोविन्द स्वामी ने भी बौधायन को काण्वायन कहा है।[1] इस आधार पर कण्वबौधायन को सूत्रकार बौधायन का पिता या पूर्वज मान सकते हैं। दक्षिण भारत के वेद-भाष्यकार सायण बौधायनीय थे।

गौतमधर्मसूत्र के बाद बौधायनधर्मसूत्र रचा गया। गौतम की चर्चा इस धर्मसूत्र में आयी है। इस धर्मसूत्र में भी पाणिनि के नियमों का परिपालन हर **स्थल** पर नहीं किया गया है। बौधायन ने उपनिषदों को उद्धृत किया है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह धर्मसूत्र उपनिषद् काल के बाद की रचना है। इस सूत्र का बहुत अधिक प्रभाव आपस्तम्बधर्मसूत्र पर पड़ा है, जो इसके बाद की रचना है। अपने धर्मसूत्र में बौधायन न अनेक धर्मशास्त्रकारों एवं धर्मग्रंथों के नाम लिख डाले हैं—जैसे कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मनु, मौद्गल्य, हारीत एवं इतिहास, पुराण, ६ वेदाङ्ग, वेद संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्।

विषयवस्तु—प्रथम प्रश्न (खण्ड) में धर्म, आचार, ब्रह्मचारी एवं स्नातक के नियम, अशौच, यज्ञ, चार वर्ण, राजा के कर्तव्य, अष्ट विवाह आदि वर्णित हैं। द्वितीय प्रश्न में प्रायश्चित्त, **वसीयत के नियम,** गृहस्थ के कर्तव्य, पंच महायज्ञ, श्राद्ध, पापों से मुक्ति के लिये व्रत आदि का वर्णन है। तृतीय प्रश्न में यायावर एवं शालीन नामक गृहस्थों की जीविका, साधुके कर्तव्य, पापमोचन के उपाय, प्रायश्चित्त, आदि उल्लिखित हैं। चतुर्थ प्रश्न में कतिपय पापों के मोचन के लिये प्राणायाम आदि, गुप्त प्रायश्चित्त, जप, होम द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का उपाय आदि विवेचित है, चौथा प्रश्न क्षेपक जैसा लगता है, क्योंकि चतुर्थ खण्ड के ८ अध्यायों में अधिकांश गद्य है तथा पहले की शैली भी भिन्न है। गोविन्द स्वामी ने विद्वत्तापूर्ण इसको टीका लिखी है। वर्तमान उपलब्ध ग्रंथ में ३९ अध्याय हैं। इस पर बौधायन-गृह्यसूत्र का अमिट प्रभाव है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र

आपस्तम्ब के श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र तीनों उपलब्ध हैं, किन्तु तीनों के रचयिता एक ही आपस्तम्ब होंगे यह कहना कठिन है। गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र में समानता होने के कारण एक रचनाकार की कृति मानी जा सकती है। अभी तक आपस्तम्ब के निवास स्थान का ठीक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका है। श्राद्ध कर्म का

---

१. धर्मशा० का इति० भाग १ पृष्ठ-१५।

वर्णन करते हुए उदीच्यों की विलक्षण श्राद्ध परम्परा का उल्लेख है। इस धर्मसूत्र के टीकाकार श्री हरदत्त ने शरावती के उत्तर के देश को उदीच्य कहा है, जो सम्भवतः आपस्तम्ब का घर रहा हो। महार्णव के अनुसार नर्मदा के दक्षिण-पूर्व में, आज कल जहाँ आन्ध्र प्रदेश है, आपस्तम्बीय लोग रहते थे।[1]

आपस्तम्ब को कुछ विद्वान उत्तर भारत के पंजाब प्रदेश का मानते हैं। आपस्तम्ब गृह्य सूत्र में यमुना के तीर पर साल्व देश की स्त्रियों का उल्लेख आया है। साल्व देश रावी नदी के पास आधुनिक पंजाब का एक भाग था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है यमुना और रावी नदी के आसपास इनका निवास-स्थान होगा।[2]

आपस्तम्ब काल—भाषा की दृष्टि से यह धर्मसूत्र पाणिनि के पहले का लिखा हुआ लगता है। पाणिनि के व्याकरण का पूर्ण प्रयोग इस सूत्रग्रंथ में नहीं किया गया है। सम्भवतः पाणिनि के नियम प्रचलित नहीं हो पाये थे या उस समय तक अष्टाध्यायी का निर्माण नहीं हो पाया था। बौद्ध धर्म ने हिन्दू संस्कारों एवं ब्राह्मण-वाद पर आक्षेप किये, उसकी भी चर्चा इस ग्रंथ में कहीं नहीं मिलती। लेखक ने बौद्धों का प्रतिवाद भी कहीं नहीं किया है। इससे लगता है कि बौद्धों के सुधार-आन्दोलन के पूर्व ही यह ग्रंथ जन्म ले चुका था। इस धर्मसूत्र का उल्लेख याज्ञवल्क्य एवं शंख-लिखित धर्मशास्त्रकारों ने किया है। इस आधार पर इसकी रचना ६०० ई० पूर्व से ३०० ईसा पूर्व के बीच मानी जा सकती है।

आपस्तम्ब ने सूत्रग्रन्थ लिखते समय वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, छन्द, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा एवं अपने से पूर्व के धर्मशास्त्रकारों की सामग्रियों से सहायता ली है। दस धर्मशास्त्रकारों की चर्चा भी उन्होंने की है यथा—कण्व, काण्व, कुणिक, कुत्स, कौत्स, पुष्करसादि, वार्ष्यायणि, श्वेतकेतु हारीत एवं एक। गौतम धर्मसूत्र की चर्चा इसमें नहीं की गई है, फिर भी गौतम को आपस्तम्ब से बाद का नहीं कहा जा सकता है।

आपस्तम्ब की विशेषता

आपस्तम्ब मीमांसक थे। इसी वजह से इस धर्मसूत्र में मीमांसा के अनेक शब्द एवं सिद्धान्त मिलते हैं। शबर ने भी जैमिनी के पूर्वमीमांसा सूत्र का भाव

---

१. धर्मशास्त्र का इति. भाग १ पृष्ठ २०
२. आपस्तम्बगृह्यसूत्र—प्रस्तावना पृष्ठ ५, काशी १९२८

लिखते समय आपस्तम्ब को उद्धृत किया है। कुमारिल ने अपने तंत्रवार्तिक में, शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य एवं बृहदारण्यकभाष्य में, आपस्तम्बधर्मसूत्र के उद्धरण दिये हैं। इससे लगता है कि यह धर्मसूत्र प्रामाणिक माना जाता था। न केवल कृष्णयजुर्वेद की तैत्तरीय शाखावालों के लिए बल्कि अन्य शाखावाले भी इससे लाभान्वित हुए। इसमें कुल दो प्रश्न (खण्ड) हैं, २२ पटल हैं, और ६१ कण्डिकायें हैं। विद्यमान धर्मसूत्रों में यह संक्षिप्त एवं अधिक ठोस है।

विषयवस्तु—

प्रश्न एक में—धर्म के उपादान, चार वर्ण, उपनयन संस्कार, स्नातक के नियम, अध्ययन-विधि, पञ्चयज्ञ, व्यभिचार, सुरापान आदि पापों के प्रायश्चित्त, अभिशप्त के लिये प्रायश्चित्त, परिधान-ग्रहण, नैतिक दोषों से दूर रहने के नियम हैं। प्रश्न—२ में विवाह के उपरान्त गृहस्थ के लिये नियम। वैश्वदेव, अतिथि-सत्कार एवं दैनिक कर्मों को न करने पर प्रायश्चित्त, ब्राह्मणों एवं अन्य जातियों के विशेष कर्म, ६ प्रकार के विवाह, श्राद्ध, चार आश्रम, राजाओं के लिये नियम आदि वर्णित हैं।

इस धर्मसूत्र के व्याख्याकार श्री हरदत्त हैं। व्याख्या का नाम उज्ज्वला वृत्ति है।

हिरण्यकेशि—धर्मसूत्र
(४०० ई. पू. से २०० ई. पू.)

यह धर्मसूत्र हिरण्यकेशि-कल्प का २६ वाँ एवं २७ वाँ प्रश्न है। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र से अनेकों सूत्र ज्यों के त्यों हिरण्यकेशि ने अपने धर्मसूत्र में ग्रहण कर लिये हैं। अतः यह स्वतंत्र सूत्र ग्रंथ नहीं कहा जा सकता।

निवास स्थान—हिरण्यकेशीय ब्राह्मण आजकल भी **रत्नागिरि** जिले में निवास करते हैं। महार्णव के अनुसार हिरण्यकेशी लोग सह्य पर्वत तथा परशुराम क्षेत्र (कोंकण) के समुद्र के दक्षिण पश्चिम में रहते थे। कोंगू राजा के दानपत्र में भी हिरण्यकेशी ब्राह्मणों की चर्चा है।[1]

काल—आपस्तम्ब धर्मसूत्र के बाद ही यह ग्रंथ लिखा गया होगा। उद्धरणों के आधार पर ऐसा लगता है यह ग्रंथ ४०० ई. पूर्व के बाद ही लिखा गया होगा। महादेव ने इस धर्मसूत्र की व्याख्या की है जिसका नाम उज्ज्वला है। हरदत्त की व्याख्या से यह मिलती-जुलती व्याख्या है।

---

१. धर्मशा. इति—पृष्ठ १० भाग १

वसिष्ठधर्मसूत्र
(३०० ई० पू० से १०० ई० पू०)

गौतम, बौधायन एवं आपस्तम्ब की शृंखला में यह धर्मसूत्र भी एक बाद की कड़ी है। अपने पूर्व रचे गये धर्मसूत्रों से इसने अनेक सामग्रियाँ ग्रहण की है। गौतम की शैली और उनके सूत्र इसमें पर्याप्त हैं। गद्य-पद्य मिश्रित इस धर्मसूत्र ने ऋग्वेद एवं वैदिक संहिता ग्रंथों से भी अनेक उद्धरण ग्रहण किये हैं। यत्र तत्र ऐतरेय एवं शतपथ ब्राह्मण की भी चर्चा आई है। अभी भी यह सन्देहास्पद है कि यह किस शाखा का सूत्र ग्रंथ है।

निवास स्थान—वसिष्ठ कहाँ के रहने वाले थे–यह अभी भी विवादास्पद है। बुहलर के अनुसार इस धर्मसूत्र के अनुयायी नर्मदा के उत्तर में रहते थे। किन्तु अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि यह किस शाखा का धर्मसूत्र था? कुमारिल का कहना है कि ऋग्वेद के विद्यार्थी इस धर्मसूत्र का अध्ययन करते थे। किन्तु यह मत निर्विवाद नहीं है। वसिष्ठ धर्मसूत्र का न गृह्यसूत्र है न श्रौतसूत्र। इसलिये इसको स्वतंत्र ही माना जा सकता है। किसी वैदिक शाखा से सम्बद्ध करना उचित प्रतीत नहीं होता है।

तीवरदेव ने रागिम ताम्रपत्र में इस धर्मसूत्र का उल्लेख किया है। यह ताम्रपत्र ८ वीं शताब्दी का है।

वसिष्ठधर्मसूत्र की विशेषता

यह धर्मसूत्र अनेक तथ्यों का संग्रह है। वैदिक संहिताओं के अलावे ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदाङ्गों से उद्धरण लिये गये हैं। इतिहास-पुराण की भी चर्चा है। व्याकरण, ज्योतिष, आचार एवं व्यवहार का अद्भुत समन्वय इस सूत्रग्रंथ में है। मनुस्मृति से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ४० श्लोक मनु के इसमें गद्य रूप में वर्णित हैं। डा० काणे का मत है कि मनु से वसिष्ठ ने उधार नहीं लिया है, बल्कि कालान्तर में मनु एवं वसिष्ठ के ग्रंथों का संशोधन हुआ हो और तथ्यों तथा पद्यों की अदला-बदली हो गई हो।

धर्मसूत्र के प्रमुख विषय—कुल ३० अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में धर्म की परिभाषा, नैतिक पाप, ६–प्रकार के विवाह एवं आचार वर्णित हैं। १ अध्याय से १४ अध्याय तक आचार के भिन्न-भिन्न नियम बताये गये हैं। आचार पर अत्यधिक बल दिया गया है यथा—

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः ।
हीनाचार परीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति ॥

(वसिष्ठ० ६।१)

आचार से हीन व्यक्ति के लिये लोक भी नष्ट होता है एवं परलोक भी असिद्ध होता है। अतः आचार ही सबसे बड़ा धर्म है। इतना ही नहीं—

आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः ।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्थः अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः ॥

(वसिष्ठ ६।४)

आचार रहित व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण याग तथा वेद-वेदाङ्ग उसी प्रकार प्रीति उत्पन्न नहीं करते जिस प्रकार अन्धे के हृदय में सुन्दरी भार्या।

सातवें, ८ वें अध्यायों में चारों आश्रमों एवं गृहस्थों के लिये कर्तव्यों का वर्णन है तथा १४ वें अध्याय तक विभिन्न आश्रमों के लिये आचारसंहिता दी गई है, जो आज भी अनुकरणीय है। तत्कालीन समाज को सही रूपरेखा ये नियम बतलाते हैं। १६ वां अध्याय न्यायशास्त्र का वर्णन करता है। राजा नाबालिगों का अभिभावक है। १७वें अध्याय में १२ प्रकार के पुत्रों की चर्चा है। धन सम्पत्ति का विभाजन, नियोग के नियम, अविवाहित युवती के लिये नियम, वसीयत के नियम तो बहुत ही लोकप्रिय एवं व्यावहारिक हैं। १८ एवं १९ वें अध्याय में क्रमशः प्रतिलोम जातियां तथा राजा के कर्तव्य वर्णित हैं। २० से २५ अध्यायों तक प्रायश्चित्तों का वर्णन है। २६ से ३० अध्याय तक प्राणायाम, गायत्री, नारी, दान, ब्रह्मचर्य, तप, धर्म, सत्य एवं ब्राह्मण की प्रशंसा है।

इस ग्रंथ में मौलिकता है एवं प्रौढ़ विवेचना है। यथा—विद्यार्जन उपादेय है किन्तु व्यवहार अर्थात आचार के रूप में परिणत किये बिना वह भार स्वरूप है। अन्तिम अध्याय में तो वसिष्ठ ने धर्मशास्त्र का निचोड़ रख दिया है।

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत मानृतम् ।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत मापरम् ॥

(वसिष्ठ ३०।१)

धर्म का आचरण करो। अधर्म का आचरण मत करो। सत्य बोलो, झूठ मत बोलो। दूर दृष्टि रखो। संकुचित दृष्टि मत रखो। हीन वस्तु देखकर नीच मत बनो

अर्थात् छोटी बातों से अपने विचारों को हीन मत बनाओ । श्रेष्ठ वस्तु देखो । जीवन का लक्ष्य सदा ऊँचा बनाये रखो ।

काल निर्धारण—वसिष्ठ ने अपने धर्मसूत्र में म्लेच्छ भाषा के शिक्षण का निषेध किया है-**"न म्लेच्छभाषां शिक्षेत"** (६।४१) इससे लगता है कि यूनानी आक्रमण के बाद यूनानियों का सम्पर्क जब भारत से हुआ, उस समय वे विद्यमान थे। यूनानी भाषा से संस्कृत को श्रेष्ठ ठहराने का प्रयोजन और क्या हो सकता है ! इस प्रमाण से इस धर्मशास्त्र का समय **ईसा पूर्व ३०० के आस** पास रखा जा सकता है ।

याज्ञवल्क्य की टीका में वृद्धवसिष्ठ का नाम आया है। मिताक्षरा में वृहद्-वसिष्ठ के नाम का उल्लेख का है, स्मृतिचन्द्रिका में ज्योतिर्वसिष्ठ आये हैं। लगता है कि वृद्धवसिष्ठ नामक प्राचीन धर्माचार्य ही गोविन्द स्वामी के मत से वसिष्ठ धर्मसूत्र के टीकाकार यज्ञस्वामी थे ।

विष्णुधर्मसूत्र
(३०० ई० पू० से १०० ई० पू०)

जीवानन्द ने १८७६ में "धर्मशास्त्रसंग्रह" में इसे प्रकाशित करवाया था। डा० जाली ने १९०९ में सम्पादित करवाया था। वैजयन्ती टीका बताती है कि यह धर्मसूत्र यजुर्वेद के कठ शाखा से सम्बन्धित है। वाचस्पति ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है। विष्णु नामक सूत्रकार के सम्बन्ध में विशिष्ट परिचय या साधन उपलब्ध नहीं है। १०० अध्यायों में वर्णित यह धर्मसूत्र गौतमधर्मसूत्र की तरह प्राचीन नहीं है।

सरल शैली में, व्याकरण के नियमानुकूल इसके सूत्र लिखे गये हैं। मनुस्मृति और इस धर्मसूत्र में १६० स्थल बिल्कुल समान हैं। इसलिये कुछ विद्वान यह कहते हैं कि मनुस्मृति से अनेक उद्धरण विष्णु ने लिया है। डा० जाली का मत है कि विष्णु से याज्ञवल्क्य ने शरीर विज्ञान सीखा, किन्तु सच्चाई यह है कि चरक एवं सुश्रुत बहुत पहले ही शरीर-शास्त्र पर अपना ग्रंथ लिख चुके थे। याज्ञवल्क्यस्मृति के बाद विष्णु ने धर्मसूत्र लिखा। इस धर्मसूत्र में मनु, याज्ञवल्क्य एवं व्यास के वाक्यों को प्रमाण स्वरूप माना गया है। वैदिक संहिताओं ब्राह्मण, वेदांग, इतिहास-पुराण के उद्धरण भी इस धर्मसूत्र में हैं। मिताक्षरा, अपरार्क-टीका एवं स्मृतिचन्द्रिका में

१—धर्मधारा का इति काणे-पृष्ठ-२३-भाग १।

बार-बार विष्णु के नामों के उल्लेख आये हैं, इस ग्रंथ के व्याख्याकार श्री नन्दपण्डित माने जाते हैं। टीका का नाम वैजयन्ती है।

प्रमुख विषय—पृथिवी को कच्छप द्वारा समुद्र से उठाना, कश्यप द्वारा पूछे जाने पर कि पृथिवी को कौन सम्हालेगा ? विष्णु ने उत्तर दिया–वर्णाश्रम धर्म का पालन जो करेंगे वे ही पृथ्वी को धारण करेंगे। पृथिवी ने चार वर्णों का कर्तव्य पूछा। तत्पश्चात् विष्णु द्वारा प्रतिपादित वर्णधर्म, राजधर्म वर्णित है। मिश्रित विवाह, मिश्रित जातियां, वसीयत के नियम, अशौच, श्राद्ध, स्त्री-धर्म, संस्कार, पाप के तीन कारण–काम, क्रोध एवं लोभ, पन्च महापातक, कतिपय उपपातक, पाप प्रतिकारार्थ प्रायश्चित्त, गृहस्थ-धर्म, देवपूजन, भोजन एवं भोग के नियम, कार्तिक-स्नान, दान एवं भगवत्स्तुति, अंत में धर्मसूत्र के अध्ययन का फल वर्णित है।

हारीतधर्मसूत्र

(६०० ई० पू० से ३०० ई० पू०)

धर्मसूत्रों की परम्परा में हारीत का नाम प्रमुख धर्मशास्त्रकारों के साथ आदर पूर्वक लिया जाता है। बौधायन, आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ जैसे सूत्रकार भी हारीत के सूत्रों को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किये हैं[1]। हारीत का धर्मसूत्र पूरा नहीं मिलता है फिर भी इसकी प्राचीनता एवं विशिष्टता का आभास इससे मिल जाता है। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में गौतम के साथ हारीत की गणना की है। इससे लगता है कि यह प्रमुख धर्मसूत्र रहा होगा। विश्वरूप से लेकर अन्त तक के धर्मशास्त्रकारों द्वारा हारीत का नाम लिया जाता रहा है।

हारीत धर्मसूत्र में 'कफेल्ल' नामक कश्मीरी शब्द आया है जिस आधार पर हारीत को कश्मीरवासी माना जाता है।[2] डा० पी० वी० काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में लिखा है कि एक हस्तलिखित प्रति हारीतधर्मसूत्र की नासिक निवासी स्व० वामनशास्त्री इस्लामपुरकर को मिली थी, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आई है।

१—धर्मशास्त्र का इति. भाग १, पृष्ठ–२५।

२—"पालङ्क्या-नालिका-पौतीक-शिग्रु-सृसुक-वार्ताक-भूस्तृण-कफेल्ल माष-मसूर-कृत-लवणानि च श्राद्धे न दद्यात्" (हारीत) इस पर हेमाद्रि का कहना है—कफेल्ल अरण्यविशेषः कश्मीरेषु प्रसिद्ध इति हारीतस्मृतिभाष्यकारः।

विशेषता—मानवश्राद्धकल्प और हारीतधर्मसूत्र में बहुत समानता है। इसलिये इनको भी कृष्ण यजुर्वेद का सूत्रकार मान जाता है। आपस्तम्ब एवं बौधायन ने इनके बहुत उद्धरण लिये हैं। इसलिये विद्वानों की राय है कि हारीत भी उसी वेद के अनुयायी थे जिसके आपस्तम्ब एवं बौधायन थे। किन्तु वास्तविकता यह है कि हारीत ने अपने धर्मसूत्र में सभी वेदों, संहिता ग्रंथों एवं उपनिषदों से सामग्री ली है। इस आधार पर किसी एक वेद से उनको सम्बद्ध नहीं किया जा सकता है।

गद्य के साथ इस धर्मसूत्र में अनुष्टुप छन्द भी मिलते हैं। लगता है हारीत ने अपने समकालीन एवं पहले के सूत्रकारों की सामग्रियों को ही अपने ग्रंथ का आधार बनाया। अन्य धर्मसूत्रों की तरह यह ग्रन्थ भी धर्म के उपादान, चार आश्रम, अशौच, श्राद्ध, आचार, पञ्चयज्ञ, राजधर्म, न्याय, व्यवहार, कर्तव्य, पाप, प्रायश्चित्त एवं मार्जन, स्तुति आदि विषयों पर प्रकाश डालता है।

८ प्रकार के विवाहों में हारीत ने दो को छोड़ दिया है—प्राजापत्य एवं आर्ष और दो नये नाम जोड़ दिये हैं–क्षेत्र एवं मानुष। वसिष्ठ ने इसी मत को अपनाया है। हारीत के अनुसार नारी दो प्रकार की होती है (१) ब्रह्मवादिनी (२) सद्योवधू। ब्रह्मवादिनी नारियां उपनयन, अग्निहोत्र एवं पूजन करने की अधिकारिणी है, वेदाध्ययन कर सकती है। १२ प्रकार के पुत्रों का भी वर्णन इस सूत्र ग्रन्थ में है। अभिनेता की बड़ी आलोचना हारीत ने की है।

शंख–लिखित का धर्मसूत्र

(३०० ई० पू० से १०० ई० पू०)

शंख–लिखितधर्मसूत्र का अध्ययन शुक्लयजुर्वेद के वाजसनेयी शाखा के लोग करते हैं। कुमारिल ने अपने तंत्रवार्तिक में इस धर्मसूत्र से उद्धरण लिया है। महाभारत में शंख एवं लिखित की कथा आई है।[1] याज्ञवल्क्य एवं पराशर स्मृति में इस धर्मसूत्र की चर्चा आई है। गद्य एवं पद्य मिश्रित यह धर्मसूत्र आज पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है। उद्धरणों के रूप में ही यह जीवित है।

जीवानन्द के स्मृतिसंग्रह में इस धर्मसूत्र के १८ अध्याय एवं शंख स्मृति के ३३० तथा लिखित स्मृति के ९३ श्लोक पाये जाते हैं। मिताक्षरा में इस धर्मसूत्र के ५० श्लोक वर्णित हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रमुख टीकाकार विश्वरूप ने, जो ९ वीं

1—शान्तिपर्व, अध्याय २३।

शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए थे, शंख-लिखित को वेद एवं मनु द्वारा घोषित धर्म का गम्भीर अध्येता सिद्ध किया है। पराशरस्मृति में एक श्लोक आया है, जिसके अनुसार सत्ययुग में मनु, त्रेता में गौतम, द्वापर में शंख-लिखित एवं कलियुग में पराशर धर्मसम्बन्धी प्रमाण माने जाते हैं। इस आधार पर शंख-लिखित प्रामाणिक सूत्रकार थे। याज्ञवल्क्य ने प्रमुख धर्मशास्त्रकार उनको माना है। इस पर भाष्य भी लिखा गया था जिसकी चर्चा कल्पतरु, विवादरत्नाकर एवं विवादचिन्तामणि में है।

विशेषता—अपने पूर्व के सभी धर्माचार्यों का विचार-मन्थन करने के बाद ही शंख-लिखित ने धर्मसूत्र तथा स्मृति ग्रंथों की रचना की होगी। इसलिये कई स्थलों में गौतम और आपस्तम्ब से भी ये लोग प्रगतिशील हैं–विशेषकर सम्पत्ति विभाजन और वसीयत के नियमों में। भाषा शुद्ध और परिमार्जित है। व्याकरण के नियमों का परिपालन हुआ है। जो भी उद्धरण शंख-लिखित के मिलते हैं उसमें वेद, वेदाङ्ग, सांख्य, योग एवं धर्मशास्त्र की ओर इशारा है। पौराणिक विषय वस्तुओं को भी इसमें स्थान मिला है जैसे—सृष्टि एवं भौगोलिक ज्ञान।

विषयवस्तु एवं विवेचन प्रणाली के आधार पर इस धर्मसूत्र का काल आपस्तम्ब धर्मसूत्र के बाद ही रखा जा सकता है। क्योंकि याज्ञवल्क्य ने इनको धर्माचार्य माना है। इसलिये याज्ञवल्क्यस्मृति के पहले की यह रचना है। इस ग्रंथ का निर्माण काल ३०० ई० पू० से १०० ई० पू० के बीच माना जा सकता है।[1]

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

(ई० पू० ३००)

१९०९ में कौटिल्य का अर्थशास्त्र डा० शामशास्त्री ने प्रकाशित करवाया था। अर्थशास्त्र पर यह सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। याज्ञवल्क्य के अनुसार अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र की एक शाखा है।[2] राजा के कर्तव्य एवं अधिकार की चर्चा धर्मशास्त्र करता है, अर्थशास्त्र राजा की अर्थव्यवस्था एवं राजनीति पर प्रकाश डालता है, अतः यह धर्मशास्त्र ग्रंथ माना गया है। शौनक ने इसे अथर्ववेद का उपवेद बताया है। स्वयं अर्थशास्त्रकार ने कहा है कि "पृथिवी के लाभ-पालन के लिये साधनों का उपाय करना"[3] उनका उद्देश्य है।

१—धर्मशा० का इति० पृष्ठ-२७ भाग १।

२—धर्मशास्त्रान्तर्गतमेव राजनीतिलक्षणमर्थशास्त्रमिदं विवक्षितम्' मिताक्षरा (याज्ञ० २.२१)।

३—तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायानां शास्त्रमर्थशास्त्रमिति-कौटिल्य-१५-१।

कौटिल्य का नाम विष्णुगुप्त भी मिलता है। कामन्दक, दण्डी, बाण, क्षेमेन्द्र, सोमदेव, शूद्रक आदि लेखकों ने अपने ग्रंथों में विष्णुगुप्त की चर्चा की है।

अर्थशास्त्र में कुल १५० अध्याय, १८० विषय एवं ६०० श्लोक हैं। गद्य-पद्य मिश्रित यह ग्रंथ है। गद्यभाग को छोड़कर ३४० श्लोक हैं। प्राचीन भारत की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति पर यह ग्रंथ सम्यक् प्रकाश डालता है। कुल पन्द्रह अधिकरणों में यह ग्रंथ वर्णित है।

दूसरे अधिकरण तक राजा, राज्य एवं न्याय शासन के नियम हैं। न्याय, विधि, विवाह, दम्पति-कर्तव्य, स्त्री धन एवं १२ प्रकार के पुत्रों का वर्णन यह ग्रंथ करता है। ४ था अध्याय राष्ट्रीय विपत्तियों की चर्चा करता है। ५ वां अध्याय दरबारियों के आचरण से सम्बन्धित है। ६ ठां अध्याय, मण्डल रचना, षडविधि राजनीति एवं तीन प्रकार की शक्तियों पर प्रकाश डालता है। ७वें अध्याय में राज्य मण्डल की ६ नीतियां हैं। ८ वें में राजा-राज्य के कष्ट वर्णित हैं। ९ वें में शत्रु-मित्र का वर्णन है। १० वें में युद्ध का वर्णन है। ११ वें में नगरपालिका एवं व्यवसाय-निगम का वर्णन है। १२ वें में जीतने के उपाय हैं। १३ वें में **युद्धकौशल, फूट डालना,** विजित प्रान्त में शान्ति स्थापना का वर्णन है। १४ वें में गुप्त साधन, शत्रु की हत्या और मंत्र का प्रयोग है। १५ वें अध्याय में इस कृति का विभाजन एवं निदर्शन है।

मनु एवं याज्ञवल्क्य से भी पुराना यह अर्थशास्त्र माना जाता है। अतः याज्ञवल्क्य ने ही अर्थशास्त्र से उद्धरण लिया है। दोनों की भाषा में समानता भी है। धर्मस्थानीय प्रकरणों के आधार पर इस अर्थशास्त्र की २०० ई० पू० से नीचे और ३०० ई० पू० से ऊपर निर्माण तिथि नहीं मानी जा सकती है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कुछ धर्माचार्यों के नाम गिनाये हैं—कात्यायन, किञ्जल्क, कौणपदन्त, घोटकमुख, चारायण, पराशर, पिशुन, पिशुनपुत्र, बाहुदन्तिपुत्र, भारद्वाज, व्याधि, विशालाक्ष। महाभारत में भी कुछ दण्ड नीतिकार के नाम आये हैं जिनमें मुख्य हैं—मनु, भारद्वाज, विशालाक्ष, बृहस्पति, इन्द्र। कौटिल्य ने चारों वेद, वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की चर्चा की है। बौद्धों की भी एक जगह चर्चा आयी है कि देव, पितृ कार्यों में **बौद्धभिक्षु को आमन्त्रित** करने पर १०० पण देना पड़ता था[1]। म्लेच्छ सन्तानों का वर्णन आया है। म्लेच्छसन्तान

१—शाक्याजीवकादीन् वृषलप्रव्रजितान् देवपितृकार्येषु भोजयतः शत्यो दण्डः। कौ० ३-२०।

बिकते थे और दास रखे जाते थे। कौटिल्य को औषधियों का भी ज्ञान था। जैसे रसद, रस-विद्ध (पारामिश्रित सोना) रसः काञ्चनिकाः (स्वर्णयुक्त जलीय पदार्थ) एवं हिंगुलक की चर्चा की गई है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र बतलाता है कि दुर्ग के बीच देवताओं के मन्दिरों की स्थापना की गई थी। यथा शिव एवं लक्ष्मी की। पाणिनि के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि मौर्यों ने धनलोभ के लिये मूर्तियाँ स्थापित की थी[1]। इस प्रकार यह ग्रंथ अपने काल का सच्चा विकास प्रस्तुत करता है।

वैखानस धर्मप्रश्न

गौतम एवं बौधायन के बाद यह ग्रंथ रचा गया। महादेव ने सत्याषाढ-श्रौतसूत्र पर अपनी वैजयन्ती टीका में वैखानस श्रौतसूत्र की चर्चा की है। अन्य धर्मसूत्रों में वैखानस शब्द वानप्रस्थ के लिये आया है।[2] किन्तु बौधायन, वसिष्ठ एवं मनु के अनुसार वैखानस वह है जो वैखानस-शास्त्र या वैखानसमत का मानने वाला हो।[3] इस धर्मप्रश्न में तीन प्रश्न (खण्ड) हैं एवं ४१ अध्याय हैं। प्रथम प्रश्न में चारों वर्ण, चारों आश्रम और ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ के कर्तव्य वर्णित हैं।

दूसरे प्रश्न में वानप्रस्थ आश्रम का विस्तारपूर्वक वर्णन है। तीसरे प्रश्न में गृहस्थ एवं संन्यासी के आचार-नियम वर्णित हैं। इस कृति पर वैष्णवधारा की गहरी छाप है।

अत्रि

मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि अत्रि धर्मशास्त्रकार थे। डेकान कालेज के हस्तलिखित प्रतियों में ९ अध्यायों में आत्रेय धर्मशास्त्र भी है। यह गद्य-पद्य मिश्रित है। मनुस्मृति से इसके कुछ श्लोक मेल खाते हैं। कुछ लम्बे सूत्र मिलते हैं, जो सम्भवतः भाष्यकारों के भाष्य से लिये गये हैं। पाँचवें अध्याय में तो वसिष्ठ-धर्मसूत्र के कुछ श्लोक ग्रहण कर लिये गये हैं। सातवें एवं ८ वें अध्याय में गुप्त प्रायश्चित्त वर्णित हैं। नवम अध्याय में योग एवं उसके अंग वर्णित हैं।

आत्रेय धर्मशास्त्र के अलावे अत्रिस्मृति एवं अत्रिसंहिता का भी उल्लेख जीवानन्द ने किया है। इसके अतिरिक्त अत्रि नाम के और कई ग्रंथ मिलते हैं। जैसे—वृद्धात्रेय स्मृति, लघु अत्रि-स्मृति। विषयविस्तार एवं भाषा-शैली के आधार पर ईसा की १ ली शताब्दी की रचना, यह लगती है।

१—पाणिनि महाभाष्य, ५।३।९९।

२—गौतम धर्मसूत्र-३-२.

३—वैखानसमते स्थितः मनु-६-२१.

विशेषता—आपस्तम्ब, यम, व्यास, शंख, शतातप एवं स्वयं अत्रि के नाम इस धर्मशास्त्र में लिये गये हैं। वेदान्त, योग, सांख्य एवं पुराणों की चर्चा भी इस ग्रंथ में हैं। अत्रि ने सात प्रकार के निम्न जातियों (अन्त्यज) के नाम गिनाये हैं, जिनमें धोबी, चर्मकार, नट, बुरूड, कैवर्त (मल्लाह), मेद और भिल्ल । अस्पृश्यता निम्नांकित जगह नहीं लगती–विवाह काल, मेला, वैदिक यज्ञ एवं उत्सव में। मगध तथा मथुरा के ब्राह्मण बृहस्पति के समान विद्वान् होने पर भी श्राद्ध के समय आहृत नहीं होते। इनकी प्रसिद्ध उक्ति है—

श्रुतिः स्मृतिश्च विप्राणां नयने द्वे प्रकीर्तिते।
काणः स्यादेकहीनोऽपि द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः ॥
न श्रुतिर्न स्मृतिर्यस्य शीलं न कुलं यतः।
तस्य जन्म वृथा ज्ञेयं त्वन्धकस्यात्रिरब्रवीत् ॥

उशना (औशनसधर्मसूत्र)

यह धर्मशास्त्रकार थे, जिसकी जानकारी कौटिल्य, कास, विश्वरूप एवं मेधातिथि को थी।

ये राजनीति के भी पण्डित थे। सम्भवतः इन्होंने राजनीति पर कोई ग्रंथ भी लिखा था, जिसका ज्ञान महाभारत से मिलता है। डेकान कालेज में औशनसधर्म-सूत्र की दो हस्तलिखित प्रतियां हैं। ये अभी अप्रकाशित हैं।

उशना ने १४ विद्याओं का नाम गिनाया है। ४ वेद, ६ वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र एवं पुराण, ये ही धर्म की १४ विद्यायें हैं। अपना धर्मसूत्र उशना ने गद्य-पद्य मिश्रित भाषा में लिखा। यह कृति नवीन तथ्यों को नहीं प्रकट करती। अधिकतर श्लोक या गद्य बौधायन और मनु से मिलते-जुलते हैं। हरदत्त ने भी अपनी व्याख्या में उशना की चर्चा की है। मिताक्षरा की उक्ति है कि जीविका के साधनों के लिये उशना एवं मनु की कृतियों को पढ़ना चाहिये। उशना की लिखी हुई स्मृति भी हैं। यह कृति वसिष्ठ, हारीत, शौनक के बाद की है।

कण्व एवं काण्व

आपस्तम्बधर्मसूत्र ने जानकारी दी है कि कण्व एवं काण्व धर्मशास्त्रकार भी थे। इनके मतों की चर्चा स्मृतिचन्द्रिकाकार ने भी की है। गौतमधर्मसूत्र के व्याख्याकार हरदत्त ने भी कण्व का उल्लेख किया है। श्राद्ध एवं आचार के संबंध

में कण्व की उक्ति होगी। इसलिये आचारमयूख और श्राद्धमयूख में कण्व का नाम आया है। मिताक्षरा की व्याख्या में भी कण्व के एक श्लोक का उद्धरण आया है।

कश्यप एवं काश्यप

बौधायन ने अपने धर्मसूत्र में लिखा है कि—

क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते।
सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कश्यपोऽब्रवीत्॥

—(१.११.२०)

किन्तु स्मृतिचन्द्रिका में यह श्लोक कात्यायन का है। महाभारतकार ने काश्यप की गाथा अपने वनपर्व में उद्घृत किया है। महाभारत के अनुसार काश्यप सहिष्णुता, उदारता एवं विनम्रता के अवतार थे। यह कहना कठिन है कि कश्यप एवं काश्यप दो स्वतंत्र धर्मशास्त्रकार थे या एक।

काश्यप के धर्मसूत्र की विशेषता :—दैनिक जीवन के लिये काश्यप ने जो नियम बनाये हैं, वह बड़ा ही वैज्ञानिक है। प्रतिदिन की धार्मिक क्रियायें वर्णित हैं। श्राद्ध, प्रायश्चित्त, अशौच का वर्णन भी बड़ा रोचक है। यज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप ने काश्यप को प्रमाण माना है। इनका धर्मसूत्र गद्य–पद्य मिश्रित है।

काश्यप के सूत्र को अशौच प्रकरण में हारलता ने उद्धृत किया है। कश्यप एवं काश्यप स्मृति का भी उल्लेख मिलता है। पराशर ने 'काश्यपधर्माः' की चर्चा की है। काश्यपस्मृति, उपस्मृति के रूप में वर्णित है जिसकी चर्चा सरस्वतीविलास एवं स्मृतिचन्द्रिका में भी है।

गार्ग्य

नित्याचार प्रदीप ने गर्ग एवं गार्ग्य को दो स्वतंत्र स्मृतिकार घोषित किया है। पराशर ने गार्ग्य को धर्मशास्त्रकार माना है। मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका में गार्ग्यधर्मसूत्र के कई उद्धरण लिए गये हैं। यह धर्मसूत्र अधिकतर श्राद्ध एवं प्रायश्चित्त से सम्बन्धित था। गार्गी संहिता ज्योतिष का ग्रंथ है। उसके उद्धरण भी मिले हैं। यह ज्ञात नहीं हो सका है कि ज्योतिगार्ग्य, बृहद्गार्ग्य और गार्गी एक ही व्यक्ति थे या अलग-अलग।

च्यवन

च्यवन के श्लोक उद्धरण रूप में ही मिलते हैं। इनका विरचित धर्मसूत्र अभी प्रकाश में नहीं आया है। मिताक्षरा एवं अपरार्क में प्रमाण स्वरूप च्यवन के श्लोक उद्धृत हैं।

गोदान एवं कुत्ता, श्वपाक, शव, चिताधूम, सुरा, सुरापात्र आदि के स्पर्श से उत्पन्न प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में च्यवन ने विशेष रूप से लिखा था जिसके उद्धरण मिलते हैं।

जातूकर्ण्य

याज्ञवल्क्यस्मृति के व्याख्याकार विश्वरूप ने जातूकर्ण्य नामक धर्मवक्ता का नाम लिखा है। जातुकर्ण, जातूकर्ण्य एवं जातुकर्णि ये तीनों एक ही नाम हैं। ये उप-स्मृतिकार थे। इनके द्वारा लिखी गई स्मृति गद्य में थी। इनका लिखा एक धर्मसूत्र भी था जिसमें आचार एवं श्राद्ध की विशेष विवेचना थी। इस धर्मसूत्र के श्लोकों को मिताक्षरा, हरदत्त एवं अपरार्क ने अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है। अपरार्क ने जो अंश जातूकर्ण्य के धर्मसूत्र से उद्घृत किया है उसमें कन्या राशि आई है जिसके आधार पर डा० काणे तीसरो या चौथो शताब्दी का यह ग्रंथ मानते हैं, दुर्भाग्यवश यह ग्रंथ अप्राप्य है।

देवल

देवल की स्वतंत्र कृति उपलब्ध नहीं है फिर भी अनेक धर्मशास्त्र के ग्रंथों में उनके उद्धरण हैं। आचार, व्यवहार, श्राद्ध, प्रायश्चित्त परदे वल की उक्तियाँ काफी प्रचलित थीं। मिताक्षरा, अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका में उनके उद्धरण कई बार आये हैं। आनन्दाश्रम ने देवल स्मृति प्रकाशित करवाई है, जो ९० श्लोकों की है। महाभारत देवल के सिद्धान्तों को सजोकर रखा है।

सम्पत्ति-विभाजन, स्त्री-धन, वसीयत एवं कर्म पर यह स्मृति विशेष रूप से पढ़ने योग्य है। डा० काणे के अनुसार बृहस्पति एवं कात्यायन के समकालीन देवल थे।

पैठीनसि

गोहत्या के प्रायश्चित्त का वर्णन करये हुये विश्वरूप ने पैठीनसि का नाम लिखा है। डा० जाली इनको अथर्ववेदी कहते हैं। मिताक्षरा ने भी पैठीनसि के मत

का उल्लेख करते हुये लिखा है कि मातृकुल से पाँच और पितृकुल से सात पीढ़ियां छोड़ कर विवाह करना चाहिए। हरदत्त और अपरार्क ने भी इनके उद्धरण दिये हैं।

बुध

वीरमित्रोदय, हेमाद्रि एवं जीमूतवाहन ने बुध का उल्लेख किया है। यह आश्चर्य है कि बुध अगर प्राचीन सूत्रकार या धर्मशास्त्रकार थे तो याज्ञवल्क्य एवं पराशर ने इनका उल्लेख क्यों नहीं किया? इनका धर्मसूत्र बहुत ही संक्षिप्त है। वह भी गद्य में है। उपनयन आदि संस्कार एवं पञ्चयज्ञ, पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, बहुत संक्षेप में वर्णित हैं। श्राद्ध और राजधर्म का वर्णन है, किन्तु इसे प्राचीन ग्रंथ न मानकर बृहद् ग्रंथ का संक्षिप्त संस्करण माना जा सकता है।

बृहस्पति

भारत के धार्मिकसाहित्य में बृहस्पति का नाम कई बार आया है। लगता है भारत में कई बृहस्पति हुए थे। कौटिल्य के अनुसार बृहस्पति अर्थशास्त्रकार थे। महाभारत ने भी अर्थशास्त्रकार के रूप में इनकी प्रशंसा की है।[१] कामसूत्र के अनुसार भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से अर्थ पर बृहस्पति ने ग्रंथ लिखा था। संस्कृतनाटकों में बृहस्पतिनीति एवं उनके राजशास्त्र की चर्चा आई है।

याज्ञवल्क्य ने बृहस्पति को धर्मवक्ता कहा है[२]। मिताक्षरा एवं अन्य टीकाओं में व्यवहार के क्रम में ७०० एवं आचार आदि के सम्बन्ध में करीब १०० श्लोक बृहस्पति के पाये जाते हैं। डा० काणे के अनुसार यह एक अलग ग्रंथ है।

भरद्वाज एवं भारद्वाज

ये दोनों नाम एक ही हैं। इनका रचित एक धर्मसूत्र था। ये श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र के भी रचयिता थे। कौटिल्य भारद्वाज को अर्थशास्त्र का लेखक मानते हैं तो महाभारत उन्हें राजशास्त्र का लेखक कहता है। यशस्तिलक के आधार पर भारद्वाज राजशास्त्र के लेखक थे। विश्वरूप, अपरार्क एवं सरस्वतीविलास में इनके व्यवहारशास्त्र के उद्धरण हैं।

१—अनुशासन पर्व–(३९.१०.११)

२—याज्ञवल्क्यस्मृति–(१.४.५)

शातातप

शातातप धर्मवक्ता थे। याज्ञवल्क्य एवं पराशर ने इनको धर्म का ज्ञाता कहा है। याज्ञवल्क्यस्मृति एवं गौतमधर्मसूत्र के टीकाकार विश्वरूप एवं हरदत्त ने शातातप के कई श्लोक उद्धृत किये हैं। शातातप की कई स्मृतियां भी हैं। जीवानन्द के संग्रह में कर्मविपाक नामक शातातप स्मृति है जिसमें ६ अध्याय एवं २३१ श्लोक हैं। मनसुख राय मोर ने स्मृति संदर्भ के प्रथम भाग में प्रायश्चित्त वर्णन करने के बाद इसी शातातप स्मृति का प्रकाशन करवाया है। इस स्मृति के आधार पर विश्वरूप ने कई प्रमाण दिये है। इस स्मृति की उक्ति है—

महापातकजं चिह्नं सप्तजन्मानि जायते।
उपपापोद्भवं पञ्च त्रीणि पापसमुद्भवम्॥

दुष्कर्मजा नृणां रोगा यान्ति चोपक्रमैः शमम्।
जपैः सुरार्चनैर्होमैर्दानैस्तेषां शमो भवेत्॥

अपरार्क ने वृद्धशातातप का उल्लेख किया है। हेमाद्रि एवं मिताक्षरा ने भी इनका वर्णन किया है।

सुमन्तु

आचार, अशौच एवं प्रायश्चित्त पर सुमन्तु ने धर्मसूत्रग्रन्थ की रचना की। महाभारत में सुमन्तु को व्यास का शिष्य कहा गया है। याज्ञवल्क्य एवं पराशर ने सुमन्तु का नाम धर्मसूत्रप्रणेता के रूप में नहीं लिया है। भागवतपुराण के अनुसार सुमन्तु जैमिनी के शिष्य थे। अपरार्क, मिताक्षरा एवं सरस्वतीविलास ने सुमन्तु के धार्मिक नियमों को अपने ग्रन्थों में स्थान दिये हैं। हारलता ने सुमन्तु का अशौच प्रकरण अधिकमात्रा में स्वीकार किया है।

तीसरा अध्याय

स्मृतिकारों का संक्षिप्त परिचय

स्मृतियों को धर्मशास्त्र भी कहते हैं। स्मृति धर्म का उपादान है। बहुत प्राचीन काल में स्मृति ग्रंथ कम थे। गौतम ने मनुस्मृति को ही उद्धृत किया है। प्राचीनधर्माचार्यों की उक्तियों से निम्नांकित धर्मशास्त्रकार थे—

बौधायन के अनुसार—औपजंघनि, कात्यायन, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मौद्गल्य एवं हारीत =७

वसिष्ठ के अनुसार—गौतम, प्रजापति, मनु, यम एवं हारीत अर्थात् ५ हैं।

आपस्तम्ब के अनुसार—एक, कुणिक, पुष्करसादि कुल १० हैं।

मनु के अनुसार—मनु, अत्रि, उतथ्यपुत्र, भृगु, वसिष्ठ, बैखानस एवं शौनक—कुल सात हैं।

याज्ञवल्क्य ने २० धर्मवक्ताओं के नाम लिखे हैं [1] जिसमें बौधायन छूट गये हैं। पराशर अपने को छोड़कर १९ नाम दिये हैं। दोनों की सूची में अन्तर है। बृहस्पति, यम, व्यास को पराशर ने अपनी सूची में छोड़ दिया है और काश्यप, गार्ग्य एवं प्रचेता को जोड़ लिया है।

पैठीनसि ने ३६ स्मृतियों के नाम लिखे हैं। अपरार्क के अनुसार भविष्यत् पुराण में भी ३६ स्मृतियों के नाम आये हैं। निर्णयसिन्धु एवं नीलकण्ठ के अनुसार स्मृतियों की संख्या १०० हैं। कई काल का प्रतिनिधित्व ये स्मृतियां करती हैं। ईसा से कई शताब्दी पहले गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन धर्मसूत्रों का प्रणयन हुआ होगा। मनुस्मृति भी उसी काल की मानी जा सकती है। ईसा के बाद पहली शदी में याज्ञवल्क्य, पराशर एवं नारद स्मृतियां लिखी गईं। शेष सभी स्मृतियां ४०० ई० से १००० ई० के बीच लिखी गईं! ठीक-ठीक समय का ज्ञान सरल नहीं है।

---

१. मन्वत्रिविष्णुहारीत याज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।
यमापस्तम्बसम्वर्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥ (याज्ञ० ४।५)

मनुस्मृति

(३०० ई. पू.—१०० ई. पू.)

मनुस्मृति में १२ अध्याय एवं २६९४ श्लोक हैं। इतने बड़े ग्रंथ का रचयिता मनु को माना जाय तो प्रश्न उठता है कि मनु कौन थे? इन प्रश्नों के उत्तर मनुस्मृति में नहीं लिखे गये हैं। ऋग्वेद में मनु को मानव का पिता कहा गया है। मनु ने ही सर्वप्रथम यज्ञ किया तदनन्तर यह सृष्टि प्रारम्भ हुई। इस आधार पर मनु का काल सृष्टि का आदिकाल माना जा सकता है। मनु भी कई हुये हैं—स्वायंभुवमनु, वैवस्वतमनु एवं प्राचेतसमनु आदि इनमें से किसकी कृति मनुस्मृति है? यह स्मृतिग्रंथ अपने रचयिता के सम्बन्ध में पूरी जानकारी नहीं देता। महाभारत में मनु की चर्चा आई है। मनु मानव जाति के आदि पूर्वज थे। उनकी कृति इस स्मृति को माना जाय तो ये नियम भी आदिकाल के ही माने जायेंगे। नारद स्मृति में वर्णन आया है कि मनु ने एक लक्ष श्लोकों का एक धर्मशास्त्र लिखा। शान्ति पर्व में आया है कि ब्रह्मा ने १ लक्ष अध्यायों में धर्म का वर्णन किया जो विभिन्न ऋषियों द्वारा संक्षिप्त होता गया। मनु वर्णित धर्मशास्त्र को पहले नारद ने पढ़ा एवं इसको १२००० हजार श्लोकों में संक्षिप्त कर दिया और मार्कण्डेय को पढ़ाया। मार्कंण्डेय जी ने ८००० श्लोकों में इस स्मृति को संक्षिप्त किया और सुमति भार्गव को सौंप दिया। भार्गव ने इसे ४००० श्लोकों में संक्षिप्त कर ऋषियों को सुनाया। वर्तमान मनुस्मृति भृगु का व्याख्यान है। डा० काणे के अनुसार नारद की उक्ति भ्रामक है।

ग्रंथ प्रणेता के सम्बन्ध में मनुस्मृति जो प्रमाण देती है, वह विचारणीय है।

यथा—

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥१।५८॥
एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥५९॥
ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिमनुना भृगुः।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥६०॥

ब्रह्मा ने विराट् को उत्पन्न किया। (विरजमसृजत्प्रभुः) विराट् ने मनु को जन्म दिया। मनु से मानव का जन्म हुआ। इन्हीं कारणों से ऋग्वेद में मनु को

मानव पिता कहा गया है[१]। यास्क ने अपने निरुक्त में व्यवहार शास्त्र के प्रणेता के रूप में मनु का उल्लेख किया है। शतपथ ब्राह्मण भी मनु और शतरूपा की कहानी की याद दिलाता है। ये ही मनु मनुस्मृति के आदि प्रणेता थे या कोई और यह कहना कठिन है। किन्तु अन्त:साक्ष्यों के आधार पर मनुस्मृति को प्राचीनतम धर्मशास्त्रग्रन्थ माना जा सकता है। स्वयं मनु ने भी कहा है कि यह धर्मशास्त्र ब्रह्मा ने उनको पढ़ाया तत्पश्चात् मरीचि आदि मुनियों ने श्रवण किया। मनु की शिष्य-परम्परा में भृगु जी भी हैं, उन्होंने ही मनु के उपदेशों को निबन्धीकृत किया जिसका अन्य ऋषियों ने अध्ययन किया। मुनियों ने धर्मसम्बन्धी प्रश्नों को भृगु से पूछा एवं उन्होंने प्रत्युत्तर में इस स्मृति का प्रणयन किया जो मनु की उक्तियों पर आधारित है। महाभारत काल में जो धर्मशास्त्र था वह स्वायंभुवमनु कृत बताया जाता है। वर्तमान मनुस्मृति उसी का संक्षिप्त रूप हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि धर्मशास्त्रग्रन्थ हर काल में था। इसको प्राचीन एवं पवित्र सिद्ध करने के लिये ब्रह्माप्रणीत बताया गया है। छान्दोग्य ब्राह्मण ने कहा है कि 'मनुर्वै यत्किंचदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः' अर्थात् मनु ने जो कुछ कहा वह औषध है। धर्म के क्षेत्र में इस ग्रन्थ की महत्ता प्राचीन काल से ही अक्षुण्ण है। बृहस्पति का कथन इसकी प्राचीनता का द्योतक है।

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते॥
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च।
धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते॥

चतुर्वर्गचिन्तमणि एवं संस्कारमयूख आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने जो धर्मशास्त्र मनु को सुनाया एवं पढ़ाया उसको चार महर्षियों ने निबद्ध किया। भृगु, नारद, बृहस्पति एवं अंगिरा की स्मृतियों में ब्रह्मकृत धर्मशास्त्र ही वर्णित है। प्राचीनटीकाकारों एवं धर्मशास्त्र लेखकों ने भृगु की उक्तियों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। विश्वरूप एवं अपरार्क के द्वारा उद्धृत भृगु के वाक्य मनुस्मृति में नहीं मिलते। हो सकता है कि कुछ श्लोक वर्तमान संस्करण में नहीं समाविष्ट हों।

मनुस्मृति का वर्ण्य विषय—(१) सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन (२) धर्मतत्त्व का वर्णन (क) ब्रह्मचर्य का वर्णन (ख) कर्त्तव्याकर्त्तव्य का वर्णन (ग) स्नातक विवाह

१. ऋग्वेद १।८०।१६, १।११४।२; २।३३।१३।

एवं कर्म का वर्णन (३) गृहस्थों के पंचमहायज्ञ (४) गृहस्थाश्रम का वर्णन (५) अभक्ष्य का वर्णन (क) शुद्धि का वर्णन (ख) स्त्री-धर्म का वर्णन (६) वानप्रस्थाश्रम का वर्णन एवं संन्यासाश्रम का वर्णन (७) राज्य-शासन-धर्म का वर्णन (८) राज्यधर्म दण्डविधान का वर्णन (९) शक्तिस्वरूपा स्त्री-रक्षा का वर्णन (१०) वर्णों के भेदों एवं विवेक का वर्णन (क) चतुर्वर्णों का वृत्ति वर्णन (ख) वृत्ति जीविका का वर्णन (११) कर्मों के प्रतिरूपों का वर्णन, प्रायश्चित्त वर्णन, तप-महत्त्व-फल वर्णन (१२) कर्मों के शुभाशुभ फल का वर्णन, धर्मनिर्णयकर्तृक पुरुषों का वर्णन।

१२ अध्यायों में वर्णित यह धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ, सरल, धाराप्रवाह एवं सरस शैली में प्रणीत है। शब्दरचना पर पाणिनि के व्याकरण का प्रभाव है। भाषा एवं भाव के क्षेत्र में कई स्थल पर कौटिल्य[1] के अर्थशास्त्र से स्मृतिग्रन्थ मेल खाता है।

काल निर्धारण—मनुस्मृति में यवनों, कम्बोजों, शकों, पह्लवों, चीनों के नाम आए हैं। यूनानी आक्रमण के बाद ये जातियाँ भारत के सम्पर्क में आईं। इस आधार पर तीसरी शताब्दी ई० पू० में इस ग्रन्थ का प्रणयन माना जा सकता है। पाणिनि के व्याकरणसम्मत भाषा के प्रयोग के कारण यह ग्रन्थ पाणिनि के बाद का माना जाता है। गौतमधर्मसूत्र की शैली से भिन्न है। मनुस्मृति में अत्रि, उत्तथ्य-पुत्र (गौतम), भृगु, शौनक एवं वसिष्ठ के नाम आये हैं। नियम के वर्णन एवं साहित्य निर्माण की दृष्टि से मनुस्मृति को धर्मसूत्रों के बाद की रचना मानते हैं। गौतमधर्मसूत्र के बाद अगर ग्रंथ लिखा गया तब भी तीसरी शताब्दी ई०पू० के आस-पास इसका काल निर्धारित किया जा सकता है। डा० काणे का मत है कि 'वेद बाह्याः स्मृतयः' शब्द लिखकर मनुस्मृतिकार ने बौद्धों एवं जैनों की ओर संकेत किया है। मनु को बौद्धों के संघ एवं व्यावसायिक श्रेणियों का ज्ञान प्राप्त था। यह ग्रंथ जब श्रवण कराया गया, उस समय आस्तिकता एवं नास्तिकता की चर्चा होती होगी। इसलिये वेदनिन्दकों की ओर मनु ने संकेत किया है। इस आधार पर भी तीसरी शताब्दी में या उसके बाद यह ग्रन्थ जन्म लिया।

मनु ने वेद, आरण्यक, वेदाङ्ग एवं धर्मशास्त्रों की चर्चा की है, लगता है इन ग्रन्थों के सम्यक् अध्ययन के बाद ही यह ग्रंथ प्रकाश में आया।

---

१ मनु— अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्—७।१०१

कौटिल्य— अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षिणी रक्षितविवर्धनी
वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादिनी च। ७।३।४।

महाभारत में अनेक स्थल आये हैं जहाँ 'मनुराजधर्मा:', 'मनुरब्रवीत्' एवं 'मनुशास्त्र' आदि लिखा है। इन उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि महाभारत के समय मनुशास्त्र रहा होगा जिसमें धर्म एवं राजनीति की विशद् चर्चा की गई होगी। हो सकता है, वर्तमान मनुस्मृति उसके बीज से उत्पन्न हुई हो। ई० पू० दूसरी शताब्दी में भृगु ने मनुस्मृति का संशोधन किया होगा। इसलिये प्राचीन मनुस्मृति के कई उद्धरण जो अन्य पुस्तकों में हैं, नहीं मिलते। संशोधन के समय कुछ पद्य हटा दिये गये और कुछ जोड़ दिये गये। भार्गव ने मनुस्मृति को चार हजार श्लोकों में संक्षिप्त किया, किन्तु वर्तमान कलेवर में यह ग्रन्थ २६९४ श्लोकों का ही है। लगता है कुछ अंश अभी भी अप्राप्य हैं।

ईसा की पहली शती से ही यह ग्रन्थ धर्मप्रामाण्य ग्रन्थ बन गया था। मृच्छकटिक में पापी ब्राह्मण को दण्ड देने के लिये मनु द्वारा धर्मशास्त्र का सहारा लिया गया। कुमारिल ने तंत्रवार्तिक में सभी स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों से मनुस्मृति को प्राचीन माना है। शबर स्वामी जो जैमिनि सूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार थे, मनु की चर्चा किये हैं। बृहस्पति एवं अंगिरा ने मनु की बृहद् प्रशंसा की है। चम्पा के अभिलेख में मनु के श्लोक उद्धृत हैं। बर्मा का धम्मथाट मनुस्मृति से अत्यधिक प्रभावित है। बालिद्वीप का प्रचीन कानून मनु पर ही आधारित है।

इस ग्रंथ के टीकाकार—सबसे प्राचीन मेधातिथि थे। इसके बाद गोविन्दराज, कुल्लूक की टीका मिलती है। नारायण, राघवानन्द, नन्दन एवं रामचन्द्र ने भी टीकायें लिखी हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति

(१०० ई. पू०—३०० ई.)

उपलब्ध स्मृतियों में याज्ञवल्क्यस्मृति सबसे अधिक सुव्यवस्थित है। याज्ञवल्क्यस्मृति में ३ ही अध्याय हैं; आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त। इसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन १०१२ श्लोकों में किया गया है।

विषय—(१) आचाराध्याय—ब्रह्मचर्यप्रकरण, विवाहप्रकरण, वर्णजातिविवेक का वर्णन, गृहस्थ-धर्म प्रकरण, स्नातक-धर्म प्रकरण, भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण, द्रव्यशुद्धि, दान प्रकरण, श्राद्ध प्रकरण, विनायकादिकल्प प्रकरण, ग्रहशान्ति प्रकरण, राजधर्म।

(२) व्यवहाराध्याय—सामान्य न्याय प्रकरण, ऋणदान प्रकरण, उपनिधि प्रकरण, साक्षी प्रकरण, लिखित प्रकरण, दिव्य प्रकरण, दाय विभाग प्रकरण, सीमा विवाद प्रकरण, स्वामिपाल का विवाद प्रकरण, अस्वामी का विक्रय प्रकरण, दत्ता प्रदानिक प्रकरण, क्रीतानुशय प्रकरण, वेतनादान प्रकरण, द्यूत समाह्वय प्रकरण, वाक्पारुष्य प्रकरण, दण्डपारुष्य प्रकरण, साहस प्रकरण, सम्भूय समुत्थान प्रकरण, स्त्री-संग्रहण प्रकरण।

(३) प्रायश्चित्ताध्याय--अशौचप्रकरण, आपद्धर्मप्रकरण, वानप्रस्थधर्म का वर्णन, पतिधर्म का वर्णन, प्रायश्चित्त प्रकरण।

सम्पूर्ण याज्ञवल्क्यस्मृति अनुष्टुप छन्द में लिखी हुई है। शैली सरस एवं धारावाहिक है। एक-आध स्थल छोड़कर पाणिनि के नियमों का ही पालन हुआ है।

रचयिता—वैदिक साहित्य में याज्ञवल्क्य का नाम प्रख्यात है। शुक्लयजुर्वेद के वे प्रणेता माने जाते हैं। वैशम्पायन ऋषि ने वेद की जो शिक्षा दी थी। गुरु अवमानना के कारण वापस माँगा। याज्ञवल्क्य ने वेद के उस ज्ञान को उगल दिया और सूर्य की उपासना करके शुक्लयजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। बृहदारण्यक उपनिषद् भी याज्ञवल्क्य का आख्यान उद्धृत करता है। महर्षि जनक के यज्ञ में याज्ञवल्क्य भी मिथिला पहुँचे थे। १ हजार गायों को दान के रूप में याज्ञवल्क्य ने ग्रहण किया था। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी ब्रह्मवादिनी थी। ये ही याज्ञवल्क्य इस स्मृति के रचयिता थे; यह कहना कठिन है। याज्ञवल्क्य का एक श्लोक[1] यह बताता है कि वे स्मृति, आरण्यक एवं योगशास्त्र के प्रणेता थे। सूर्य से ही स्मृतिकार को ज्ञान प्राप्त हुआ था। ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य को इस स्मृति का रचयिता बतलाकर इसके सम्मान को बढ़ाना है। किन्तु अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर वैदिक ऋचाओं के द्रष्टा याज्ञवल्क्य को ही इस स्मृति का रचयिता मानना भूल कही जायेगी। यह हो सकता है कि याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य को धर्म की शिक्षा दी हो जिसने गुरु के नाम से स्मृति का प्रणयन किया हो। मिताक्षरा इस मत का समर्थन करती है कि धर्मशास्त्र को संक्षिप्त करके याज्ञवल्क्य के शिष्य ने इसको निबद्ध किया। शुक्लयजुर्वेद से इस स्मृति का भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। वेद की इस शाखा के ही व्यक्ति के द्वारा यह ग्रंथ प्रणीत हुआ। हो सकता है कि मनु

---

१. ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्।
योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता॥ ३।११०।

के बाद कोई दूसरे याज्ञवल्क्य हुए हों, जो अनेक धर्मशास्त्रीय ग्रंथों के मनन के बाद इस स्मृति का प्रणयन किये हों। मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख-लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप एवं वसिष्ठ ये २० धर्मशास्त्रप्रवक्ता माने गये हैं। याज्ञवल्क्य इनकी स्मृतियों से अवगत थे।

अग्निपुराण एवं याज्ञवल्क्य स्मृति में बहुत-सी बातें एक समान मिलती हैं। व्यवहार सम्बन्धी अध्याय लिखते समय याज्ञवल्क्यस्मृति की छाप अग्निपुराण एवं गरुडपुराण पर पड़ी हो। गरुडपुराण ने तो याज्ञवल्क्यस्मृति से सामग्री ग्रहण करने के कारण स्मृतिकार का नाम भी लिया है किन्तु अग्निपुराण में चर्चा भी नहीं है। शंख एवं लिखित नामक धर्मशास्त्रकारों ने याज्ञवल्क्य का नाम लिया है और याज्ञ-वल्क्य ने उन लोगों को धर्मशास्त्र प्रणेता माना है। हो सकता है कि शंख, लिखित के सामने याज्ञवल्क्य का कोई धर्मशास्त्रीय ग्रंथ रहा होगा जो अब अप्राप्य है।

रचना काल—मनु के बाद की रचना के पक्ष में डा० काणे तर्क देते हैं कि मनुस्मृति के अनेक श्लोकों से याज्ञवल्क्यस्मृति के श्लोकों का मेल बैठता है। मनु की बहुत बातें याज्ञवल्क्य नहीं मानते हैं। विषय एवं प्रसंग को देखकर मनुस्मृति के बाद की रचना कहना ही श्रेयस्कर होगा। विष्णुधर्मसूत्र से याज्ञवल्क्य ने बहुत से नियम ग्रहण किये हैं, किन्तु इस स्मृति में चर्चा नहीं की गई है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भी छाप इस स्मृति पर है। अतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र के बाद की रचना यह मानी जाती है। मानवगृह्यसूत्र एवं विनायक शान्ति से याज्ञवल्क्य ने सामग्रियाँ ली हैं। पारस्करगृह्यसूत्र एवं कात्यायनश्राद्धकल्प से भी यह स्मृति काफी समता रखती है। लगता है अपने समकालीन १४ विद्याओं का सम्यक् अध्ययन करने के बाद ही इस स्मृतिकार ने इस ग्रंथ का प्रणयन किया।

विश्वरूप इस स्मृति के टीकाकार थे। उनका काल ९वीं शदी का पूर्वार्द्ध है। उनके पहले भी टीकाकार हुए थे जिनकी चर्चा उन्होंने की है। शंकराचार्य ने जो ८वीं शदी के महान् धर्मरक्षक थे, वे भी इस स्मृति का उल्लेख किये हैं।[1] इस स्मृति का प्रतिपाद्य विषय यह बताता है कि यह ग्रंथ ईसा से १०० वर्ष पहले एवं ईसा के दो सौ वर्ष बाद के अन्तराल में कभी लिखा गया होगा।

---

१. ब्रह्मसूत्रभाष्य में याज्ञवल्क्यस्मृति के श्लोक ३।२२६ का भावार्थ वर्णित है।

याज्ञवल्क्य नाम की और कृतियाँ हैं। वृद्धयाज्ञवल्क्य, योगयाज्ञवल्क्य एवं बृहद्‌याज्ञवल्क्य ये तीनों याज्ञवल्क्य स्मृतिकार के पहले हो चुके थे। याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका लिखते समय टीकाकारों ने इनके वचनों को उद्‌धृत किया है। योगयाज्ञवल्क्य में १२ अध्याय हैं, ४९५ श्लोक हैं। डेकान् कालेज में इसकी हस्तलिखित प्रति है। याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मा से योगशास्त्र सीखा और पत्नी गार्गी को सिखाया। विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क ने वृद्धयाज्ञवल्क्य को उद्‌धृत किया है, एवं जितेन्द्रिय ने बृहद्-याज्ञवल्क्य का नाम उद्‌धृत किया है। किन्तु ये ग्रंथ धर्मशास्त्रीय ग्रंथ नहीं हैं।

विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क, शूलपाणि इस स्मृति के प्रसिद्ध टीका-कार थे।

पराशरस्मृति

(१०० ई० से ५०० ई० तक)

याज्ञवल्क्य ने प्राचीन धर्मशास्त्रकारों में पराशर को गिना है। **'कलौ पाराशरीस्मृता'** कलियुग में पराशरस्मृति अनुकरणीय है, यह विद्वानों का कहना है। वर्तमान पराशरस्मृति के १२ अध्याय हैं। इसमें कुल ५९३ श्लोक हैं। इस स्मृति में निम्नांकित विषय प्रतिपादित हैं। (१) धर्मोपदेश, तल्लक्षणों का वर्णन आचारधर्म का वर्णन (२) गृहस्थधर्म का वर्णन (३) अशौच-व्यवस्था का वर्णन (४) अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त (५) प्रायश्चित्त का वर्णन, श्रौताग्निहोत्र-संस्कार का वर्णन (६) प्राणिहत्या प्रायश्चित्त वर्णन, ब्राह्मण के महत्व का वर्णन (७) द्रव्यशुद्धि का वर्णन, स्त्री-शुद्धि का वर्णन, (८) धर्माचरण का वर्णन, निन्द्य-ब्राह्मण का वर्णन, गो-ब्राह्मण की रक्षा के लिए उपदेश (९) गोसेवा का वर्णन, गाय-बैल को मारने का प्रायश्चित्त (१०) अगम्यागमन का प्रायश्चित्तवर्णन (११) अभक्ष्य भक्षण के प्रायश्चित्त का वर्णन, शुद्धि-वर्णन (१२) प्रायश्चित्त का वर्णन।

कालनिर्धारण—पराशरस्मृति में १९ धर्मवक्ताओं के नाम आये हैं। वसिष्ठ, काश्यप, गार्गेय, गौतम, मनु, उशनस, अत्रि, विष्णु, साम्वर्त्त, दक्ष, अङ्गिरस, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, प्राचेतस, आपस्तम्ब, शङ्ख एवं लिखित ये १९ स्मृति-कार एवं धर्मशास्त्र-वक्ता पराशरस्मृति की रचना के पहले हो चुके थे। व्यास आदि मुनियों ने पूछा कि—

> **"सर्वे धर्म्माः कृते जाताः सर्वे नष्टाः कलौयुगे।**
> **चातुर्वर्ण्यसमाचारं किञ्चित् साधारणं वद ॥"**

सब धर्म कलियुग के अनुकूल नहीं, अतः युग के अनुरूप साधारण धर्म बतलाइये। महर्षि पराशर ने अपने पूर्व रचित धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का अवलोकन करते हुए धर्म की व्याख्या की एवं नियमों का निर्देश किया।

विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क एवं हेमाद्रि ने इस स्मृति से बहुत श्लोक उद्धृत किये हैं। निःसन्देह यह स्मृति ९वीं शताब्दी के पहले पूर्ण प्रमाणित हो चुकी थी। याज्ञवल्क्यस्मृति के बाद की रचना इसे मानते हैं। प्रो० काणे ने इन्हीं तथ्यों के चलते प्रथम शताब्दी से ५वीं शताब्दी के बीच इनका समय माना है।

पाणिनि ने भिक्षुसूत्र नामक ग्रन्थ को पराशर्य लिखा है। निरुक्त में भी पराशर के मूल की चर्चा आई है। गरुड पुराण के १०७वें अध्याय के करीब ३९ श्लोक पराशर स्मृति से पूर्णतः मेल खाते हैं। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में पराशर की चर्चा की है, जो शायद राजनीतिशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे थे। लगता है कई पराशर हुये होंगे। अन्यथा प्राचीन काल में भी पराशरस्मृति रही होगी जिसका संशोधन करके आधुनिक रूप दिया गया है। संशोधन के कारण बहुत बातें बदल गई हैं। वर्त्तमान रूप एवं विषयवस्तु को देखकर ही याज्ञवल्क्य के बाद की रचना इसे स्वीकार करते हैं। यद्यपि याज्ञवल्क्य ने पराशर का भी नाम लिया है।

पराशरस्मृति के अतिरिक्त एक बृहत्पराशर-संहिता भी है। इस ग्रन्थ में भी १२ अध्याय हैं। बृहत्पराशरस्मृति एक अलग ग्रन्थ है। इसमें भी १२ अध्याय हैं। वर्णाश्रम धर्म से प्रारम्भ कर योगाभ्यास वर्णन तक विभिन्न आश्रमों के आचार एवं प्रायश्चित्त आदि का विशद् विवेचन है। यह पराशर स्मृति से बृहद् है।

इस स्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार माधव थे, जो डा० काणे के अनुसार पराशर-स्मृति के व्यवहार खण्ड के लेखक भी हैं। अपरार्क ने एक वृद्ध पराशर का भी नाम लिया है।

नारदस्मृति

अभी दो रूपों में नारदस्मृति प्राप्य है। एक संक्षिप्त संस्करण एवं एक बृहद्-संस्करण दोनों का सम्पादन डा० जाली ने किया है। विश्वरूप ने दस धर्मशास्त्र-वक्ताओं में नारद को भी एक माना है। याज्ञवल्क्य एवं पराशरस्मृति में नारद का नाम नहीं है।

स्मृति की विषयसूची—३ अध्यायों में न्याय सम्बन्धी विधि का वर्णन है। जैसे-जैसे धर्म का ह्रास हुआ, नियंत्रण के लिये व्यवहार की प्रतिष्ठा की गई[1]।

1—नष्टे धर्मे मनुष्येषु व्यवहारः प्रकल्पितः ना. स्मृ. १।२

इसी के लिये राजा दण्डनीति का धारण करनेवाला बनाया गया[1]। व्यवहार के निर्णय में साक्षी और लेख दो बातें रखी गईं। दो पक्षों में विवाद होने पर साक्षी और लेख का विधान हुआ। विवाद का मौलिक कारण काम एवं क्रोध को बताया गया[2]। धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र में मतभेद हो तो धर्मशास्त्र मान्य होना चाहिए[3]। राजा को व्यवहार के निर्णय में सहायता के लिये संसद का विधान, सभासद् के नियम का आश्रय लेना चाहिये। इसके बाद १८ तरह के विवादों का वर्णन है। (१) ऋणदान प्रथम विवाद पद (ऋण की प्राप्ति), (२) उपनिधिक द्वितीय विवाद पद (जमा, ऋण देना, बन्धक), (३) सम्भूय-समुत्थान तृतीय विवाद पद (सहकारिता या साझेदारी), दत्ताप्रदानिक चतुर्थ विवाद पद (दान एवं उसका पुनर्ग्रहण), अभ्युपेत्याशुश्रूषा पञ्चम विवाद पद (नौकरी के ठेके को तोड़ना), वेतनस्य-अनपाकर्म षष्ठ विवाद पद (वेतन का न देना), अस्वामिविक्रय सप्तम विवाद पद (बिना स्वामित्व के विक्रय), विक्रीया सम्प्रदान अष्टम विवाद पद (बेंचकर न देने का विवाद), क्रीत्वानुशयो नवम विवाद पद (क्रेता खरीदने के बाद सामान ठीक नहीं समझे तो वापस करने पर विवाद), समयस्यानपाकर्म दशम विवाद पद (समय का अनपाकरण, अर्थात् पाखण्डी से राजा को बच कर रहना चाहिए), क्षेत्रविवाद एकादश विवाद पद (सीमा-निर्णय), स्त्रीपुंसयोग (वैवाहिक सम्बन्ध सम्बन्धी विवाद), दाय विभाग त्रयोदश विवाद पद (विभाजन एवं अधिकार), साहस चतुर्दश विवाद पद (बल प्रयोग से उत्पन्न अपराध यथा—हत्या, डकैती, बलात्कार आदि), वाक् पारूष्य पञ्चदश विवाद पद (मानहानि एवं पिशुनवचन), दण्ड पारुष्य षोडश विवाद पद (विविध प्रकार की चोटें), द्यूत समाह्वय सप्तदश विवाद पद (जुआ से सम्बन्धित विवाद), प्रकीर्णकमष्टादश (प्रकीर्ण विवाद) दिव्य प्रकरण। ये १८ प्रकार के विवाद निर्णय के साथ वर्णित हैं। इसमें कुल श्लोकों की संख्या १०२८ है।

कालनिर्धारण—नारदस्मृति का एक श्लोक जीमूतवाहन की व्यवहारमातृका एवं पराशरमाधवीय में उद्धृत है। इस श्लोक का अर्ध भाग विक्रमोर्वशीय

१—द्रष्टा च व्यवहाराणां राजा दण्डधरः कृतः ना. स्मृ. १।२

२—कामात्क्रोधाच्च लोभाच्च त्रिभ्यो यस्मात् प्रवर्तते। १।२१

३—यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद् धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः। अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत्॥ १।३३,

में भी मिलता है। इस आधार पर कालिदास के पूर्व नारद का समय निर्धारित किया जा सकता है। नारदस्मृति में कथित 'दीनार' नामक सिक्का भी काल निर्णय में सहायक है। रोमनों का यह सिक्का शकों द्वारा प्रथम शताब्दी में यहाँ प्रचलित किया गया। इस आधार पर प्रथम शताब्दी के बाद इस स्मृति का प्रणयन काल निश्चित किया जा सकता है।

विषय वस्तु की दृष्टि से इस स्मृति में मनु एवं याज्ञवल्क्य से बहुत सामग्री नारद ने ली है। मनु के अनेक श्लोकों से इसके श्लोक मिलते हैं। याज्ञवल्क्य ने दिव्य के पाँच प्रकार बताये हैं तो नारद ने सात प्रकार का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य ने नारद को धर्मशास्त्र वक्ता के रूप में नहीं माना है। हो सकता है नारद याज्ञवल्क्य के बाद स्मृतिकार बने। महाभारत और नारदस्मृति के कुछ श्लोकों में बहुत समता हैं। उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर १०० से ३०० ई० के बीच इस स्मृति का प्रणयन काल रखा जा सकता है।

नारद ने अपने निवास स्थान का कहीं संकेत नहीं किया है। कोई मध्य प्रदेशी कहता है तो कोई नेपाली। अभीतक यह निर्णय नहीं हो सका है कि नारद कहाँ के रहने वाले थे। डा० भण्डारकर ने नारद का एक नाम पिशुन (चुगलखोर) भी बतलाया है जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आया है। यह मत सर्वमान्य नहीं है। पुराणों में नारद को झगड़ा लगाने वाला अवश्य कहा गया है किन्तु स्मृतियों के आधार पर यह तर्क संगत एवं समीचीन नहीं लगता है।

ज्योतिर्नारद, बृहन्नारद का उल्लेख क्रमशः भट्टोजी एवं रघुनन्दन ने की है। निर्णय सिन्धु में लघुनारद का नाम आया है। विश्वरूप, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि, पराशरमाधवीय आदि नें नारदस्मृति से उद्धरण लिये हैं।

बृहस्पति

(२०० ई० से ४०० ई०)

बृहस्पतिस्मृति सम्पूर्ण रूप में अप्राप्य है। अनेक प्राचीन ग्रंथों में इस स्मृति के उद्धरण मिलते हैं। डा० जाली ने विभिन्न ग्रंथों से ७११ श्लोक एकत्र किये हैं। मनसुखरायमोर द्वारा प्रकाशित स्मृति सन्दर्भ में केवल ८१ श्लोक ही संग्रहीत हैं। जिसमें केवल स्वर्णदान एवं पृथ्वीदान का फल वर्णित है। याज्ञवल्क्य ने बृहस्पति को धर्मशास्त्रकार माना है। जो भी श्लोक अभी तक मिल पाये हैं उनके आधार पर

बृहस्पति परमव्यावहारिक माने जा सकते हैं। विषय वस्तुकी दृष्टि से बृहस्पति, मनु के अनुयायी लगते हैं। मनुस्मृति के कथनों, वाक्यों एवं श्लोकों को बृहस्पति ने अधिक मात्रा में अपना लिया है। मनु[1] के व्यवहारशास्त्र को बहुत कम परिवर्तन करके बृहस्पति ने उद्धृत किया है। व्यवहार अभियोग के चार स्तर बृहस्पति के द्वारा बताये गये हैं। चार प्रकार के प्रमाण (तीन मानवीय एवं एक दैवी क्रिया), बारह प्रकार के गवाह एवं दस प्रकार के लेख प्रमाण वर्णित हैं।

१८ स्वत्व एवं ९ प्रकार के दिव्य का उल्लेख है। ऋणदान, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, समूयसमुत्थान, दत्ताप्रदानिक, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, वेतनस्यापाकर्म, स्वामिपालविवाद, संविदव्यतिक्रम, विक्रिया सम्प्रदान, पारूष्य २ प्रकार, साहस ३ प्रकार, स्त्रीसंग्रहण, स्त्रीपुंस धर्म, विभाग, द्यूत, समाह्वय, प्रकीर्णक, (नृपाश्रय व्यवहार), इन विषयों को मनु एवं नारद ने भी इसी रूप में उल्लेख किया है।

बृहस्पति ने व्यवहार को दो भागों में बाँटकर बताया कि धन से सम्बन्धित विवादों एवं हिंसा से सम्बन्धित विवादों (माल एवं फौजदारी G. n. l & Criminal) का युक्ति के द्वारा निर्णय किया जाना चाहिए। केवल शास्त्र से मुकदमे की परख नहीं की जा सकती है। अपने व्यवहार शास्त्र को व्यावहारिक बनाने के लिए उन्होंने तार्किक एवं न्यायोचित प्रणाली का सहारा लिया। आधुनिक न्याय-प्रणाली के निकट बृहस्पति के व्यवहारशास्त्र को रखा जा सकता है।

कालनिर्धारण—यह एक कठिन समस्या है कि देवताओं के गुरु बृहस्पति को इस स्मृति का रचयिता माना जाय या मनु, याज्ञवल्क्य, नारद के बाद किसी बृहस्पति ऋषि को। महाभारत में भी बृहस्पति कई बार आये हैं। कहीं अर्थशास्त्री, कहीं धर्मसूत्रकार और कहीं स्मृतिकार, इन कई रूपों में कोई एक ही बृहस्पति नहीं

१—तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥
सीमाविवादधर्मश्च पारूष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥ मनु ८-४-७

हुये होंगे। बृहस्पतिस्मृति को मनु एवं नारद के बाद की कृति माना जा सकता है। विषय सामग्री मनु से ही इन्होंने अधिक लिया है। नाणक और दीनार का भी उल्लेख उनकी स्मृति में है। डा० जॉली छठीं एवं ७वीं शताब्दी के बीच का स्मृतिकार इनको मानते हैं। डा० काणे अन्तः एवं बाह्यसाक्ष्यों के आधार पर २०० से ४०० के बीच इनका काल निर्धारित करते हैं। कात्यायन, मेधातिथि, विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क ने इनको धर्मशास्त्रकार के रूप में उद्धृत किया है।

वृद्धबृहस्पति को अपरार्क ने एवं ज्योतिर्बृहस्पति को हेमाद्रि ने अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है। अभी तक ये सब ग्रंथ मूल रूप में अप्राप्य हैं।

कात्यायन

मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार मेधातिथि एवं विश्वरूप ने व्यवहारशास्त्र के क्षेत्र में त्रिरत्न मण्डल (नारद–बृहस्पति एवं कात्यायन) का नाम लिये हैं। लगता है मेधातिथि के समय तक कात्यायन काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। उनका लिखा ग्रंथ पूर्णरूप से अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। कात्यायन के जो कुछ उद्धरण मिलते हैं, उससे लगता है कि वे बृहस्पति एवं नारदस्मृति के अनुयायी हैं। कई धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में कात्यायन की उक्तियाँ पाई जाती हैं जिनकी संख्या हजार से ऊपर है। कई जगह भृगु का नाम लेकर कात्यायन ने श्लोक लिखे हैं। भृगु का मत, जो कात्यायन द्वारा उद्धृत है, कुछ मनुस्मृति में उपलब्ध हैं और कुछ श्लोक मनु में भी नहीं मिलते। लगता है वर्तमान मनुस्मृति के कुछ अंश और होंगे जो कात्यायन के काल में उपलब्ध होंगे परन्तु आज अप्राप्य हैं। मनु के नाम से जितने उद्धरण कात्यायन ने उद्धृत किये हैं, वे सभी वर्तमान मनुस्मृति में नहीं पाये जाते।

स्त्रीधन के सम्बन्ध में कात्यायन बहुचर्चित हैं। अध्यग्नि, अध्यावहनिक, प्रीतिदत्त, शुल्क, अन्वाधेय, सौदायिक नामक स्त्रीधन के कुछ प्रकार बताये हैं। मनु एवं बृहस्पति के कई श्लोक कात्यायन में अक्षरशः मिल जाते हैं। 'वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः' याज्ञवल्क्य एवं कात्यायन दोनों में यह श्लोकार्थ आया है।

कात्यायन के अनुसार उग्र वाद-विवाद के बाद जो निर्णय दिया जाता है 'पश्चात्कार' कहलाता है और जब प्रतिवादी अपराध स्वीकार कर लें तब जो निर्णय दिया जाता था उसको 'जयपत्र' कहा जाता था।

कालनिर्धारण—मनु एवं याज्ञवल्क्य के बाद ही कात्यायन आते हैं, भाषा, शैली, विषयवस्तु को देखकर यह निश्चित हो गया है कि बृहस्पति और नारद भी

कात्यायन से पहले हो चुके थे। मेधातिथि, विश्वरूप एवं विज्ञानेश्वर, नारद, बृहस्पति के समान ही कात्यायन के श्लोंको को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। अतः कात्यायन को भी उनमें समकालीन या उनके निकट कालीन माना जा सकता है। ३ री या ४ थी शताब्दी में ही कभी कात्यायन रहे होंगे। डा० काणे ४ थी से ६ ठवीं शताब्दी के बीच इनका काल मानते हैं।

जीवानन्द संग्रह में एक कात्यायन ग्रंथ प्रकाशित है। ५०० श्लोकों में अनुष्टुप एवं इन्द्रवज्रा छन्दों में कर्मप्रदीप नाम से यह ग्रंथ प्रसिद्ध है। इस कर्मप्रदीप में यज्ञोपवीत धारण विधि, मार्जन विधि, गणेश, मातृका पूजा, श्राद्ध विवरण, पूताग्निप्रतिष्ठा, अपराधियों एवं वस्तुओं का विवरण, प्राणायाम, नित्यकर्म विधि, संध्या, अशौच एवं पत्नी-कर्तव्य वर्णित हैं।

यह कर्मप्रदीप व्यवहारशास्त्र के रचयिता कात्यायन की ही कृति है या किसी अन्य कात्यायन की कृति है, यह विवादास्पद है। मिताक्षरा एवं अपरार्क ने इसके अनेक प्रमाण उद्धृत किये हैं। अतः ११ वीं शताब्दी के पहले यह ग्रंथ प्रामाणिक माना जाता था। सम्भवतः यह ग्रंथ कात्यायनस्मृति के लेखक की ही कृति है। कात्यायन ग्रंथ बृहद् रहा होगा जिसके कई अंश अभी लुप्त हैं।

आङ्गिरसस्मृति

थियोसोफिकल सोसाइटी के अधीन अड्यार पुस्तकालय, मद्रास के सौजन्य से स्मृति सन्दर्भ में प्रकाशित आङ्गिरसस्मृति दो खण्डों में है। जीवानन्द के संग्रह में जो आंगिरसस्मृति है उसमें केवल ७२ श्लोक हैं। यह अत्यन्त संक्षिप्त संस्करण है। मनसुख राय मोर ने आङ्गिरसस्मृति का बृहद्संस्करण प्रस्तुत किया है। पूर्वाङ्गिरसम् में १११३ श्लोक हैं एवं उत्तराङ्गिरसम् में १६४ श्लोक हैं तथा १२ अध्याय हैं। प्रतिपाद्यविषय हैं—पूर्वाङ्गिरसस्मृति में—

(१) श्राद्ध पाकानन्तर अशौच निर्णय (२) शिखा निर्णय वर्णन (३) स्त्रियों के पुनर्विवाह के प्रायश्चित्त का वर्णन (४) गृहस्थ का रात्री में गर्म स्नान निषेध (५) माता-पिता द्वारा देने और लेने का विधान (६) भ्राता के पुत्रादि का परिग्रह वर्णन (७) सपत्नी माता का औपासन अग्नि में श्राद्ध (८) श्राद्ध के योग्य का दिव्य शाकवर्णन (९) 'नमंत्रण योग्य विप्र का वर्णन (१०) परिवेषण में पूर्वापर का विचार (११) श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण का पूजन वर्णन (१२) अन्यगोत्रदत्तक पुत्रकृत्य वर्णन।

उत्तराङ्गिरसस्मृति में—(१) धर्मपर्षत्प्रायश्चित्तों का वर्णन (२) परिषद् उपस्थानलक्षण (३) प्रायश्चित्त विधान (४) परिषल्लक्षण वर्णन (५) प्रायश्चित्तनियन्तृकथन (६) प्रायश्चित्ताचार कथन (७) पापपरिगणन (८) शूद्रान्न-गर्हितत्व का वर्णन (९) अभक्ष्यभक्षण प्रायश्चित्त (१०) हिंसा प्रायश्चित्त कथन (११) गोवध प्रायश्चित्त कथन (१२) कृच्छ्रादिस्वरूप कथन

कालनिर्धारण—याज्ञवल्क्य स्मृतिमें अंगिरा को धर्मशास्त्रकार माना गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार विश्वरूप ने इनके वचनों को प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है। ९वीं शताब्दी के पहले यह ग्रंथ प्रणीत हो चुका था एवं धर्मशास्त्र में प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में आया या रहा होगा तभी तो विश्वरूप और उनके बाद के अन्य टीकाकार इनके श्लोकों को उद्धरण के रूप में उद्धृत किये हैं। भाषा, शैली एवं विषय वस्तु की दृष्टि से यह ग्रंथ छठी शताब्दी के आस पास का लगता है। अतः छठी से ७ वीं शताब्दी के बीच इसका प्रणयन काल निश्चित किया जा सकता है।

शैली में यह स्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति के बाद की रचना लगती है। बड़े प्राञ्जल एवं ललित शब्दों में धार्मिक कर्म वर्णित हैं।

ब्राह्मण की महिमा से इस स्मृति का पर्यवसान होता है।

समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतवः
समुत्थितापत्कुलधूमकेतवः
अपारसंसारसमुद्रसेतवः
पुनन्तु मां ब्राह्मणपादपांसवः ॥

दक्षस्मृति

याज्ञवल्क्य ने दक्ष को भी धर्मशास्त्रकार के रूप में स्मरण किया है। विश्वरूप एवं विज्ञानेश्वर ने दक्ष के कई श्लोकों को उद्धृत किये हैं। मनसुख राय मोर ने जो दक्षस्मृति प्रकाशित करवाई है, वह सात अध्यायों में है। इसमें कुल २०८ श्लोक हैं। इसके प्रमुख विषय हैं—(१) आश्रमवर्णन (२) ब्राह्ममुहूर्तादि दिनचर्य्याकृत्य वर्णन, वैदिककर्मगृहस्थाश्रमगुण वर्णन। (३) गृहस्थी के नवकर्म विधान, सुखसाधन कर्म का वर्णन, (४) स्त्रीधर्म वर्णन (५) वाह्याभ्यन्तर शौचवर्णन (६) जन्म-मरणाशौच, समाधियोग वर्णन (७) इन्द्रियनिग्रह अध्यात्मयोगसाधन तथा द्वैतानुभवोद्योग त्रिकालस्मृति महत्त्व वर्णन। इन सातों अध्यायों में बड़ी रोचक शैली में दक्ष ने आश्रम एवं आचार का वर्णन किया है।

दक्ष के ये प्रसिद्ध श्लोक कई टीकाकारों द्वारा उद्धृत हैं।

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम्
तपोदानापमानौ च नव गोप्यानि यत्नतः ॥३।१२॥
सामान्यं याचितं न्यास आधिर्दाराश्च तद्धनम्।
क्रमायातञ्च निक्षेपः सर्वस्वञ्चान्वये सति ॥३।१७॥
आपत्स्वपि न देयानि नव वस्तूनि सर्वदा।
यो ददाति स मूढात्मा प्रायश्चित्तीयते नरः ॥१८॥
न क्लेशेन विना द्रव्यं द्रव्यहीने कुतः क्रिया।
क्रियाहीने न धर्मः स्याद्धर्महीने कुतः सुखम् ॥२२॥
सुखं वाञ्छन्ति सर्वे हि तच्च धर्मसमुद्भवम्
तस्माद्धर्मः सदा कार्यः सर्ववर्णैः प्रयत्नतः ॥२३॥
पत्नीमूलं गृहं पुंसां यदिच्छन्दोऽनुवर्तिनी
गृहाश्रमसमं नास्ति यदि भार्य्या वशानुगा ॥४।१॥

कालनिर्धारण—विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क आदि प्राचीन टीकाकारों ने इस स्मृति से प्रमाण उद्धृत किये हैं। ९वीं शताब्दी के पहले यह प्रामाणिक धर्मग्रंथ बन चुका था। हो सकता है याज्ञवल्क्य के समय बृहद् दक्षस्मृति हो जिसका संक्षिप्त संस्करण अभी प्राप्त है। वर्तमान स्मृति की भाषा, विषयवस्तु एवं शैली को देखकर इसे छठी शताब्दी के पूर्व का नहीं माना जा सकता। छठी से ८वीं शताब्दी के बीच की यह रचना लगती है।

व्यास

(२०० ई० से ५०० ई०)

(वेद) व्यासस्मृति महर्षि वेदव्यास द्वारा बिरचित है। जीवानन्द एवं आनन्दाश्रम के संग्रह में जो व्यासस्मृति है, उसमें ४ अध्याय हैं एवं १५० श्लोक हैं। मनसुखराय मोर के स्मृतिसन्दर्भ में जो व्यासस्मृति प्रकाशित है उसमें २४१ श्लोक हैं। विषय सामग्री—

१. धर्माचरण देशप्रयुक्त-वर्ण-षोडश संस्कार-वर्णन।

२. विवाह विधि वर्णन, गृहस्थ धर्म वर्णन, स्त्रीधर्माभिधानवर्णन, स्त्रियों के नित्यकर्म, सपातिव्रत रजस्वला धर्म निरूपण।

३. सस्नानादि विधि, पूर्वाह्न कृत्य वर्णन, तर्पण विधि, पाक यज्ञादि विधि निरूपण, गृहस्थाह्निक वर्णन।

४. गृहस्थाश्रम प्रशंसा पूर्वक तीर्थ धर्म वर्णन, दान धर्म, दान धर्म प्रकरण में सत्पात्र निरूपण वर्णन, ब्राह्मण प्रशंसा वर्णन। इस स्मृति में लोक प्रचलित अनेक उदाहरण हैं।

पत्युः पूर्वं समुत्थाय देहशुद्धिं विधाय च
उत्थाप्य शयनाद्यानि कृत्वा वेश्मविशोधनम् ॥२।२०

गुरूभक्तो, भृत्यपोषी दयावाननुसूचकः
नित्यजापी च होत्री च सत्यवादी जितेन्द्रियः
स्वदारे यस्य सन्तोषः परदारनिवर्तनम्
अपवादोऽपि नो यस्य तस्य तीर्थफलं गृहे ॥४।४

परदारान् परद्रव्यं हरते यो दिने-दिने
सर्वतीर्थाभिषेकेण पापं तस्य न नश्यति ॥४।५

प्रतिश्रयं पादशौचं ब्राह्मणानाञ्च तर्पणम्।
न पापं संस्पृशेत्तस्य बलिं भिक्षां ददाति यः ॥४।७

यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम्।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि ॥४।१७

यदि नाम न धर्माय न कामाय न कीर्तये
यत्परित्यज्य गन्तव्यं तद्धनं किं न दीयते ॥४।२०

ऐसे ही अनेक उद्धरण ९वीं शताब्दी से ही व्याख्याकारों एवं धर्मसंग्रह कर्त्ताओं ने उद्धृत किया है।

कालनिर्धारण—महाभारत और इस व्यासस्मृति के रचयिता एक ही व्यास थे; यह अभी भी कुछ विद्वानों की दृष्टि में सन्देहास्पद है। मेधातिथि एवं विश्वरूप ने व्यासकृत श्लोकों को प्रमाण में गिनाया है जो महाभारत में भी पाये जाते हैं। व्यवहार विधि पर भी व्यास ने कुछ लिखा होगा जिसके उद्धरण स्मृति चन्द्रिका में मिलते हैं। अपरार्क भी व्यास के व्यवहारशास्त्र का संकेत करते हैं। व्यास के अनुसार उत्तर चार प्रकार के होते हैं—(१) मिथ्या, सम्प्रतिपत्ति, कारण एवं प्राङ्न्याय। तीन प्रकार के लेख प्रमाण होते हैं—स्वहस्त, जानपद एवं राज-

शासन। व्यासस्मृति में पुराण, इतिहास की बहुत चर्चा है।[1] लगता है इतिहास पुराण के रचयिता की वाणी स्मृति में भी अपनी छाप नहीं भूली है। महाभारत के श्लोकों से इनके श्लोकों में बहुत समता भी है। निष्क नामक सिक्के का वर्णन है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह रचना दूसरी शताब्दी के पहले की नहीं हो सकती। दूसरी शताब्दी से ५ वीं शताब्दी के बीच इस ग्रंथ का कभी प्रणयन हुआ होगा। लघु व्यास संहिता या स्मृति भी मिलती है। इसमें दो अध्याय हैं। सफल स्नान-विधि, संध्या-विधि एवं कर्तव्यकर्मविशेष का वर्णन १२३ श्लोकों में है। व्यासस्मृति की शैली पर यह लघुव्यासस्मृति भी निबन्धित है। **इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थमुपवृंहयेत्** (लघुव्यास० सं० २।८५) यह श्लोक बताता है कि व्यासकृत ग्रंथों में यह भी एक है। बल्लाल सेन ने दानसागर में महाव्यास, लघुव्यास एवं दानव्यास के नाम लिखे हैं। मिताक्षरा में बृहद्व्यास का नाम आया है।

हारीत

(४०० ई० से ७०० ई०)

हारीत धर्मशास्त्रकार के रूप में बहुत पहले ही प्रसिद्ध हो चुके थे। याज्ञवल्क्य ने २० धर्मवक्ताओं में हारीत का नाम भी गिनाया है। हारीत लिखित दो स्मृतियाँ मिलती हैं—लघुहारीतस्मृति एवं वृद्धहारीतस्मृति। लघुहारीत में सात अध्याय एवं १९२ श्लोक हैं। वृद्धहारीत में आठ अध्याय एवं २५२९ श्लोक हैं। लघुहारीत के प्रधान विषय हैं—वर्णाश्रम धर्म, चार वर्णों के धर्म का वर्णन, ब्रह्मचर्याश्रमधर्म, गृहस्थाश्रमधर्म, वानप्रस्थाश्रमधर्म, संन्यासाश्रमधर्म एवं योगवर्णन। वृद्धहारीतस्मृति के प्रधान विषय हैं—पंचसंस्कार का प्रतिपादन, वैष्णवों के संस्कार का वर्णन, वैष्णव मंत्र के विधान एवं भगवत् समाराधनविधि का वर्णन, समाराधनविधि में कृषि का वर्णन, राजधर्म का वर्णन, भगवन्नित्यनैमित्तिक समाराधनविधि का वर्णन, भगवान के महोत्सव का वर्णन, महापातकादि प्रायश्चित्त का वर्णन, नानाविधोत्सवों के विधानों का वर्णन, विष्णु-पूजा की विधि का वर्णन।

हारीत परम वैष्णव एवं परम धर्मज्ञ थे। राजा अम्बरीष ने हारीत से धर्म के विषय में पूछा और धर्मवेत्ता ने धर्मशास्त्र के विविध अंगों का प्रतिपादन

१—इतिहासपुराणानां वेदोपनिषदां द्विज:, व्यासस्मृति ३।१०
धर्मशास्त्रेतिहासादि सर्वेषां शक्तित: पठेत् ३।१२
इतिहासपुराणानि स भवेद्वेदपारग: ४।४५

कर दिया। हारीतस्मृति में मनु, भृगु, वशिष्ठ, मरीचि, दक्ष, अङ्गिरा, पुलः, पुलस्त्य, अत्रि के नाम आये हैं। इन धर्मशास्त्रवेत्ताओं को जगद्गुरू कहकर राजा अम्बरीष ने प्रणाम किया है। हारीत द्वारा वर्णित राजधर्म तथा दण्डधर्म याज्ञवल्क्य के समान हैं। लगता है हारीत ने याज्ञवल्क्यस्मृति को ही ध्यान में रखकर राजधर्म की शिक्षा दी होगी। स्मृतिचन्द्रिका में हारीत का श्लोक उद्धृत है—

स्वधनस्य यथा प्राप्तिः परधनस्य च वर्जनम्।
न्यायेन यत्र क्रियते व्यवहारः स उच्यते॥

यह व्यवहार की उचित परिभाषा है।[1] नारद, कात्यायन का नाम भी हारीत ने लिया है। नारद की तरह ही व्यवहार के चार स्वरूप उन्होंने बताया—धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं नृपाज्ञा।

कालनिर्धारण—नारद, कात्यायन के समकालीन या उनके कुछ बाद हारीत का काल निर्धारित किया जा सकता है। वैष्णव धर्म की अभूतपूर्व चर्चा इन्होंने की है। तदनुरूप इनका युग भी प्रतिविम्बित हो रहा है। ४०० ई० से ७०० के बीच यह स्मृति अवश्य प्रणीत हो गई होगी।

यम

लघुयमस्मृति, बृहद्यमस्मृति, एवं यमस्मृति ये तीनों ग्रंथ पूर्ण या अपूर्ण अवस्था में प्राप्त हैं। यम प्रणीत ये स्मृतियाँ बहुत प्राचीन हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र में यम की स्मृति से उद्धरण लिये गये हैं। बहुत से यम के श्लोक मनु से मिलते हैं। अतः मनु की छाप यम की स्मृतियों पर अधिक है। याज्ञवल्क्य ने यम की धर्म वक्ताओं के रूप में गिना है।

लघुयमस्मृति में नानाविध प्रायश्चित्तों का वर्णन है। प्रायश्चित्त के क्रम में धर्मकार्य करने की शिक्षा भी दी गई है। यथा—

इष्टापूर्तं तु कर्त्तव्यं ब्राह्मणेन प्रयत्नतः।
इष्टेन लभते स्वर्गं पूर्ते मोक्षं समश्नुते॥६८॥
वित्तापेक्षं भवेदिष्टं तडागं पूर्तमुच्यते।
आरामश्च विशेषेण देवद्रोण्यस्तथैव च॥६९॥

१—याज्ञ०—स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाऽधर्षितः परैः।
आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्॥ याज्ञ० स्मृ० २।५

वापी कूप तडागानि देवतायतनानि च ।
पतितान्युद्धरेद्यस्तु स पूर्तफलमश्नुते ॥७०॥

इसमें कुल ९९ श्लोक हैं ।

बृहद्यमस्मृति में भी नानाविध प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में चान्द्रायणविधि का वर्णन है। तीसरे अध्याय में प्रायश्चित्त की विधि वर्णित है। चौथे अध्याय में गोवध प्रायश्चित्त का वर्णन है। पाँचवें अध्याय में श्राद्धकाल में पत्नी रजस्वला हो जाय तो उसका निर्णय है।

इसमें कुल १८२ श्लोक हैं।

यमस्मृति के ७८ श्लोकों में चारों वर्णों के प्रायश्चित्तों और उनकी शुद्धि के विधान बताये गये हैं।

इन तीनों स्मृतियों का प्रकाशन मनसुखराय मोर ने स्मृति-सन्दर्भ के चतुर्थ भाग में करवाया है। लेकिन प्राचीन व्याख्याकारों के ग्रंथों एवं धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों के उद्धरणों को जोड़ा जाय तो यमस्मृति का कलेवर बृहद् हो जायेगा। धर्मशास्त्र के अनेक विषयों पर यम ने अपने वचन दिये हैं जो यम स्मृति में अनुपलब्ध हैं।

कालनिर्धारण—विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका, हरदत्त एवं स्मृतिरत्नाकर ने यम, लघु एवं बृहद्यम स्मृतियों के उद्धरण उद्धृत किये हैं। महाभारत में भी यम की गाथा मिलती है। मनु को यम ने आदर्श माना है। मनुस्मृति के कई पद इन्होंने मामूली हेरफेर के साथ प्रायश्चित्त वर्णन में लिख दिया है। याज्ञवल्क्य के प्रायश्चित्त विधान से भी यम प्रभावित हुये थे। याज्ञवल्क्य के बाद ही इनका काल निर्धारित किया जा सकता है। तीसरी शताब्दी से छठवीं शताब्दी के बीच ये स्मृतियाँ रची गई होंगी।

बौधायनस्मृति

गद्य-पद्य मिश्रित यह स्मृति बहुत प्राचीन है। बौधायन धर्मसूत्रकार भी हैं। इनकी स्मृति कहीं-कहीं सूत्रवत् हो गई है।[1] इस स्मृति में कुल चार प्रश्न (खण्ड) हैं। प्रधान विषय है—सशिष्ट धर्मवर्णन, इसमें धर्म की परिभाषा दी गई है जिसकी व्याख्या १२ अध्यायों में की गई। 'उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम" 'तस्यानुव्याख्या-

१—परिकीर्तिता ३।२।१९, समूहेति ३।३।२४

स्याम:" 'स्मार्तो द्वितीय:' 'तृतीय: शिष्टागम:' बौधायन ने शिष्टागम की परिभाषा की हैं—विगतमत्सरनिरहंकारकुम्भीधान्यालोलुपदम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिता:'। ब्रह्मचारिधर्म का वर्णन, स्नातकधर्म का वर्णन, कमण्डलुचर्याभिधान का वर्णन, शुद्धि प्रकरण—बौधायन की शुद्धि के सम्बन्ध में प्रसिद्ध उक्ति है—जो मनु में भी इसी रूप में है।

अद्भिः शुध्यन्ति गात्राणि बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।
अहिंसया च भूतात्मा मनः सत्येन शुध्यति॥ इति

बौधा० स्मृ० १।५।२ —(मनु० ५।१०।९)

अन्य विषय हैं—यज्ञाङ्गविधि का निरूपण, ब्राह्मणादिवर्ण का निरूपण, सङ्कर जाति का निरूपण, राजधर्म, अष्ट विवाह का वर्णन, अनध्याय-काल, प्रायश्चित्त, दायविभाग, देवादि तर्पण-विधि, सन्ध्योपासन-विधि, मध्याह्न-स्नान की विधि, पंचमहायज्ञ की विधि, आश्रमधर्म, शालीन यायावरों की प्राणाहूति, पंक्तिपावनों के द्वारा श्राद्ध में अग्नि कार्य का विधान, सत्पुत्रप्रशंसा, संन्यास विधि, शालीन यायावरों के धर्म, पचमानक, अपचमानक वानप्रस्थ के दो भेद, ब्रह्मचारियों के अभक्ष्यभक्षण का प्रायश्चित्त, अघमर्षणकल्प का व्याख्यान, दुरित क्षयार्थ एक प्रस्थ-यव के हवन का विधान, कुष्माण्डहोम-विधि, चान्द्रायणकल्पाभिधान, निहारव्रत जिस अंग से जो पाप किया जाय उनका पृथक् प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त की विधि, कृच्छ्रशान्तपनादिव्रत की विधि, मृगारेष्टि, पवित्रेष्टि का विधान, पाप कर्म से निवृत्त होकर पुण्यकर्म में प्रवृत्त होने पर वेद-मंत्रों के पाठ का विधान, गणहोमकार फल।

इस स्मृति के उद्धरण, विश्वरूप, विज्ञानेश्वर एवं मेधातिथि ने उद्धृत किये हैं। भाषा शैली की दृष्टि से यह स्मृति बहुत प्राचीन लगती है। मनु के कथनों की छाप इस स्मृति पर भी दिखाई पड़ती है। स्त्री स्वातन्त्र्य के कथन में बौधायन ने मनु का श्लोक[1] उसी रूप में ग्रहण कर लिया है। ऐसे कई स्थलों पर मनु की नकल देखी जाती है। लगता है मनु के बाद यह स्मृति लिखी गई है।

आपस्तम्बस्मृति

आपस्तम्ब प्रसिद्ध सूत्रकार एवं स्मृतिकार भी थे। किन्तु यह सन्देहास्पद है कि धर्मसूत्र के प्रणेता ने ही इस स्मृति को लिखा हो। १९८ श्लोकों में वर्णित यह स्मृति

१—पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तुस्थविरेभावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हतीति॥
मनु—९।३, बौधायनस्मृति २।२।५२

दस अध्यायों में बँटी हुई है। इसके प्रमुख विषय हैं—कृषि-कर्म एवं गोपालन में अनुचित कर्म का प्रायश्चित्त, शुद्धयशुद्धि का वर्णन, अपरिचित अन्त्यज के गृह में रहने का प्रायश्चित्त, चाण्डाल के कूप से जलपान का प्रायश्चित्त, उच्छिष्ट भोजन का प्रायश्चित्त, नीले रंग के वस्त्र धारण करने का प्रायश्चित्त, विवाह के पूर्व कन्या के रजस्वला होने पर प्रायश्चित्त, पात्रों को शुद्ध करने का वर्णन, अपेय पान, अभक्ष्य भक्षण का प्रायश्चित्त, भोजन करने के नियम, यम, नियम की परिभाषा एवं अग्निहोत्र का विधान। स्मृति चन्द्रिका, मेधातिथि एवं विज्ञानेश्वर ने आपस्तम्ब के उद्धरण उद्धृत किये हैं। मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति की स्पष्ट छाप इस स्मृति पर भी दिखाई देती है। हो सकता है कि आपस्तम्ब के किसी शिष्य या अनुयायी ने दूसरी शताब्दी के बाद इस स्मृति की रचना की हो।

वृद्ध गौतमस्मृति

गौतमधर्मसूत्र के रचयिता की यह कृति नहीं है। गौतम नाम से अभिहित यह स्मृति अत्यन्त प्राचीन नहीं है। सम्पूर्ण स्मृति में मुख्यतया धर्म की महिमा गायी गई है। धर्म-प्रशंसा, दान, विप्र के गुण, दोष, जीवों का शुभ-अशुभ कर्म, सर्वदान फल, पंचमहायज्ञ, कपिलदान, कपिलगोप्रशंसा, ब्रह्मघातक, धर्मशौच की विधि, द्वादश मासों के धर्मकृत्य, एकभुक्त का फल, दान-फल, तीर्थलक्षण, भक्तार्चन विधि एवं शूद्रधर्म।

२२ अध्यायों में यह स्मृति मनसुखराय मोर द्वारा स्मृति सन्दर्भ में प्रकाशित है। इसमें कुल १६११ श्लोक हैं।

युधिष्ठिर की शंका को केशव के वचनों का उद्धरण देकर वैशम्पायन दूर करते हैं। युधिष्ठिर एवं केशव सम्वाद के रूप में यह पूरी स्मृति है। वैष्णव धर्म की अद्भुत महिमा गायी गई है। महाभारत का स्पष्ट प्रभाव इस पर दिखाई पड़ता है। तीसरी शदी से पाँचवीं शदी के बीच यह स्मृति रची गई होगी।

शंख एवं लिखित

शंख एवं लिखित के सम्बन्ध में एक कथा महाभारत में आई है कि दोनों भाई थे। शंख तपस्वी और योग में बढ़े-चढ़े थे। लिखित भी तपस्वी थे किन्तु बड़े भाई शंख के समकक्ष नहीं थे। शंख की अनुपस्थिति में लिखित उनके आश्रम में आये। भूख मिटाने के लिये लिखित कुछ फल तोड़कर खा लिये, उसी समय शंख ऋषि आ गये। लिखित के द्वारा बताये जाने पर शंख ने अनुज को इस अपराध से मुक्ति

के लिये राजा सुद्युम्न के पास भेजा। लिखित ने घटना बता दी और चोरी करने का दण्ड माँगा। प्रचलित कानून के अनुसार लिखित के दोनों हाथ काट दिये गये। शंख से लिखित ने अपने दण्ड को दिखाया। अग्रज ने बाहुदा नदी में तर्पण करने को कहा। स्नान के बाद तर्पण करने की इच्छा लिखित ने जैसे ही व्यक्त की, दोनों हाथ पूर्ववत् हो गये। शंख ने बताया कि अनुपस्थिति में कोई सामान लेना स्तेय है। राजा ही ऐसे अपराध का दण्ड दे सकता है, अतः उसके पास भेजकर मैंने दण्ड देने के लिये याचना करने को कहा। दण्ड देकर राजा ने अपनी न्यायप्रियता दिखलाई। योग से मैंने तुमको बाहें दे दी। इस कथन से लगता है कि शंख, लिखित समकालीन स्मृतिकार थे। इन लोगों के लिखे ग्रन्थ हैं—लघुशंखस्मृति, शंखस्मृति, लिखितस्मृति एवं शंख-लिखित स्मृति।

लघु शंख ७१ इलोकों की एक छोटी सी स्मृति है। इसके प्रमुख विषय हैं—इष्टापूर्त कर्मों की फल प्राप्ति, गंगा में अस्थि प्रक्षेप से स्वर्ग प्राप्ति, वृषोत्सर्ग एवं श्राद्ध का वर्णन, एकोदिष्ट श्राद्ध न कर पार्वण श्राद्ध करना व्यर्थ है। पिता जीवित हो तो माता की सपिण्डी दादी के साथ, पिता न हो तो पिता के साथ माता का सपिण्डीकरण श्राद्ध करना चाहिए।

शंखस्मृति में चर्चित विषय हैं—ब्राह्मणादि वर्णों के कर्म, ब्राह्मणादि वर्णों के संस्कार, ब्रह्मचर्याद्याचार, विवाह-संस्कार, पंचमहायज्ञ, वानप्रस्थधर्म का निरूपण, प्राणायाम के लक्षण, नित्यनैमित्तिकादि स्नान का लक्षण, क्रिया स्नान, आचमन की विधि, अघमर्षण-विधि, गायत्री का जप, तर्पण की विधि, पितृ कार्य में ब्राह्मण की परीक्षा के बाद निमंत्रण, जननामरणाशौच, द्रव्यशुद्धि, पात्रशुद्धि, क्षत्रियादिवध का व्रतविधान, पापों के लिये प्रायश्चित्त, पराक, वारुण, कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, सान्तपनादि व्रत, इत्यादि।

लिखितस्मृति के मुख्य विषय हैं—इष्टापूर्त कर्म, वृषोत्सर्ग, षोडश श्राद्ध, उदक कुम्भदान, एकोदिष्ट श्राद्ध, नव श्राद्ध में भोजन करने वालों के नियम तथा नव श्राद्धों का वर्णन, अशौच वर्णन इत्यादि।

शंखलिखित स्मृति के मुख्य विषय हैं—बलि वैश्वदेव, अतिथिपूजन, परान्न भोजन, राजप्रशंसा तथा ब्राह्मण प्रशंसा आदि।

लघुशंखस्मृति एवं शंख-लिखित स्मृति संक्षिप्त स्मृतियाँ हैं। एक में ७१ श्लोक हैं तो दूसरे में ३२ हैं लगता है ये स्मृतियाँ अधूरी हैं। शंख-लिखित स्मृति में नीति की बातें भरी हुई हैं। यथा—

परान्न न तु भुक्तेन मैथुनं योऽधिगच्छति।
यस्यान्नं तस्य ते पुत्रा अन्नाच्छुक्रं प्रवर्तते।
अन्नात्तेजो मनः प्राणाश्चक्षुः श्रोत्रं यशोबलम्।
धृतिः श्रुतिः तथा शुक्रं परान्नं वर्जयेद् बुधः॥

—शं० लि० १४-१५

और भी—

परान्नं पारवस्त्रं च परयानं परस्त्रियः।
परवेश्मनि वासश्च शक्रस्यापि श्रियं हरेत्॥

—शं० लि० स्मृ० १७

आहिताग्निस्तु यो विप्रो मत्स्यमांसानि भोजयेत्।
कालरूपी कृष्णसर्पो जायते ब्रह्मराक्षसः॥

—शं० लि० स्मृ० १८

शंखस्मृति एवं लिखितस्मृति भी बहुत बड़ी नहीं हैं। शंख में २७५ श्लोक हैं एवं लिखित में ९६ श्लोक हैं। छोटे-छोटे १८ अध्याय शंखस्मृति में हैं जबकि लिखित स्मृति में एक ही अध्याय है। लघु शंख एवं लिखितस्मृति में बहुत समानता है। इष्टापूर्त कर्म से दोनों ही स्मृतियाँ प्रारम्भ होती हैं। अनेक श्लोक एक ही तरह के हैं। बहुत कम परिवर्तन के साथ शंख के श्लोक लिखत में भी मिलते हैं।[1] इन चारों स्मृतियों में मनु एवं याज्ञवल्क्य का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अनेक श्लोक तो मनु एवं याज्ञवल्क्य के बिना परिवर्तन के शंख ने ग्रहण कर लिये हैं।[2] लिखित पर अपने बड़े भाई का अत्यधिक प्रभाव था। इसलिये लिखित ने एक छोटी सी स्मृति लिखी। अग्रज के साथ मिलकर भी छोटी सी स्मृति लिखी गई। हो सकता है इसके कुछ अंश और हों जो अभी अप्राप्य हैं। इन स्मृतियों के उद्धरण मिताक्षरा अपरार्क एवं ९वीं शताब्दी के धर्मग्रन्थों में उद्धृत हैं।

काल निर्धारण—याज्ञवल्क्य ने शंख, लिखित को धर्मशास्त्रकार के रूप में गिना है। प्रतिपाद्य विषय को देखकर लगता है कि धर्मशास्त्र के बड़े ग्रन्थों की जगह

१—वापीकूप तडागानि देवतायतनानि च।
पतितान्युद्धरेद्यस्तु स पूर्त फलमश्नुते॥ ४ लघु शंख एवं लिखित दोनों स्मृतियों में है।

२—आसुरो द्रविणादानाद् गान्धर्वः समयान्मिथः।
राक्षसो युद्धहरणात् पैशाचः कन्यकाछलात्॥ —याज्ञ० १।६१, शंख ४।६

छोटे ग्रन्थों की आवश्यकता समाज को थी। सामाजिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर इन स्मृतियों का कलेवर बृहद् नहीं बनाया गया। नित्य कर्म के विधानों एवं कुछ प्रायश्चित्तों के वर्णन की इसमें प्रधानता है। ५ वीं शताब्दी के बाद इन स्मृतियों का प्रणयन हुआ होगा। कुछ विद्वानों का मत है कि शंख-लिखित स्मृति महाभारत से प्राचीन है। हो सकता है कोई संस्करण महाभारत के पहले रहा होगा। वर्तमान संस्करण को महाभारत कालीन मानना ही उचित लगता है। अतः ५ वीं से ८ वीं के बीच इनका रचना काल माना जा सकता है। मनसुखराय मोर ने स्मृति संदर्भ में इन स्मृतियों का प्रकाशन करवाया है।

ऋष्यशृङ्ग

ऋष्यशृङ्ग की स्मृति उपलब्ध नहीं है किन्तु स्मृतिकार के रूप में इनकी चर्चा मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृति चन्द्रिका एवं अन्य ग्रंथों में मिलती है। उपर्युक्त टीकाओं एवं ग्रंथों में आचार, श्राद्ध, अशौच एवं प्रायश्चित्त के प्रसंग में ऋष्यशृङ्ग स्मरण किये गये हैं।

दुर्भाग्यवश ऋष्यशृङ्ग की स्मृति अभी तक उपलब्ध नहीं हो पायी है।

पुलस्त्य

(४०० ई०— ६०० ई०)

याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विश्वरूप ने अपनी टीका में शरीर-शौच के प्रसंग में एक श्लोक उद्धृत किया है। अपरार्क ने भी याज्ञवल्क्यस्मृति की विद्वत्तापूर्ण टीका में पुलस्त्य की स्मृति से कई उद्धरण लिये हैं। संध्या, श्राद्ध, अशौच, यति-धर्म एवं प्रायश्चित्त के प्रसंग में पुलस्त्य विशेष रूप से स्मरण किये जाते हैं। स्मृतिचन्द्रिका ने पुलस्त्य का उल्लेख आह्निक एवं श्राद्ध के अध्यायों में किया है। दान रत्नाकर में भी मृगचर्मदान के प्रसंग में पुलस्त्य का नाम आया है। ये ६ ठीं शदी के पूर्व के धर्मवक्ता हैं, क्योंकि वृद्ध याज्ञवल्क्य ने इनको धर्मवक्ता माना है।

पितामह

(४०० ई०—७०० ई०)

पितामहस्मृति आजकल उपलब्ध नहीं है परन्तु उसके उद्धरण आज भी मिलते हैं। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका में तथा विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा नामक टीका में व्यवहार सम्बन्धी उद्धरण पितामहस्मृति से ग्रहण किये हैं।

पितामह के अनुसार न्यायालय में आठ करण होने चाहिए। लिपिक, गायक, शास्त्र, साक्ष्यपाल, सभासद, सोना, अग्नि एवं जल। लेख प्रमाणों के क्रम में पितामह ने क्रयपत्र, स्थितिपत्र, सन्धिपत्र, विशुद्धपत्र का उल्लेख किया है।

इन्होंने बृहस्पति का उल्लेख किया है। अतः बृहस्पति के बाद इनका काल निर्धारित किया जा सकता हैं जो सम्भवतः ४०० ई० से ७०० ई० के बीच कोई तिथि हो सकती है।

प्रचेता

याज्ञवल्क्यस्मृति में प्रचेता धर्मशास्त्रकारों की श्रेणी में गिने गये हैं। पराशर ने प्रचेता (प्रचेतस्) को ऋषि माना है। मिताक्षरा ने अशौच प्रकरण में प्रचेता का उल्लेख किया है। कर्मचारियों, शिल्पकारों, चिकित्सकों, क्षत्रियों, दासों, राजाओं एवं राजकर्मचारियों को अशौच की अवधि नहीं माननी चाहिए। प्रचेता की इस उक्ति का उल्लेख विज्ञानेश्वर ने किया है। मेधातिथि ने भी प्रचेतास्मृति को प्रमाण माना है। बृहत्प्रचेता एवं वृद्धप्रचेता का उल्लेख मिताक्षरा, हरदत्त एवं अपरार्क ने किया है। आजकल प्रचेतास्मृति उद्धरणों में ही उपलब्ध है। अशौच प्रकरण में इनके उद्धरण विशेष महत्व के हैं। स्मृतिचन्द्रिका एवं हरदत्त ने भी प्रचेता से उद्धरण लिये हैं। अपनी प्राचीनता के कारण या बृहत्-धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ के कारण ये बृहत्प्रचेता या वृद्धप्रचेता के नाम से विख्यात हुए होंगे।

मरीचि

मरीचि की स्मृति से आह्निक, अशौच, प्रायश्चित्त एवं व्यवहार के प्रसंग में विज्ञानेश्वर, अपरार्क एवं देवण भट्ट (स्मृतिचन्द्रिका) ने अनेक उद्धरण लिये हैं। मरीचि के अनुसार श्रावण-भाद्रपद मास में नदी-स्नान नहीं करना चाहिये। क्योंकि नदियाँ रजस्वला रहती हैं। मरीचि ने बंधक (आधि) को चार खण्डों में विभाजित किया है—भोग्य, गोप्य, प्रत्यय और आज्ञाधि। स्मृतिकार ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि बंधक, बिक्री, विभाजन, स्थावर सम्पत्ति-दान के विषय में जो भी निर्णय हो लिखित होना चाहिये। मिताक्षरा में मरीचि के उद्धरण प्रमाणस्वरूप ग्रहण किये गये हैं।

काष्र्णाजिनि

विज्ञानेश्वर, अपरार्क एवं देवण भट्ट ने काष्र्णाजिनि के नाम का उल्लेख

श्राद्ध सम्बन्धी उद्धरणों में किया है। कार्ष्णाजिनि के अनुसार ब्रह्मा के सात पुत्र हैं—सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल, आसुरि, बोढु एवं पञ्चशिख।

चतुर्विंशतिमत

यह कृति २४ ऋषियों की शिक्षाओं का संक्षिप्त संग्रह है। मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, वसिष्ठ, व्यास, उशना, आपस्तम्ब, वत्स, हारीत, बृहस्पति, नारद, पराशर, कात्यायन, गार्ग्य, गौतम, यम, बौधायन, दक्ष, शंख, अंगिरा, शातातप, सांख्य, (सांख्यायन ?) सम्वर्त, ये २४ ऋषि इस कृति में स्मरणीय माने गये हैं। आचार, शौच, आचमन, दन्तधावनादि कर्म, वेदाध्ययन, विवाह, जीविका-वृत्ति, वानप्रस्थ, संन्यास, क्षात्र-धर्म, प्रायश्चित्त. श्राद्ध एवं अशौच पर मिताक्षरा के निर्माण से पूर्व ही यह प्रामाणिक कृति बन गई थी। मेधातिथि एवं विश्वरूप ने अपनी टीकाओं में इस कृति का उल्लेख नहीं किया है। यह सम्भव है कि उनके समय में यह ग्रन्थ महत्ता को न प्राप्त कर सका हो। चतुर्विंशतिमत में कुल ५२५ श्लोक हैं।

प्रजापति

प्रजापतिस्मृति नामक ग्रन्थ आनन्दाश्रम द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमें १९८ श्लोक हैं। इस स्मृति में अशौच, प्रायश्चित्त, श्राद्ध, दिव्य, परिव्राजक एवं व्यवहार विषयक श्लोक उल्लेखनीय हैं।

परिव्राजक के चार भेद हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस। गवाह दो प्रकार के होते हैं—कृत एवं अकृत।

मिताक्षरा में प्रजापति प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में प्रमाण-स्वरूप उद्धृत हैं। अपरार्क ने भी श्राद्ध एवं दिव्य आदि प्रसंगों में प्रजापति का उल्लेख किया है।

यह कहना कठिन है कि विज्ञानेश्वर एवं अपरार्क ने जिस प्रजापति का उल्लेख किया है, वे ही बौधायन[1] एवं वसिष्ठ[2] द्वारा भी प्रमाण-स्वरूप उद्धृत हैं। यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रजापति के नाम से जो श्लोक उद्धृत हैं, उनमें से अधिकांश मनुस्मृति में यथावत् पाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रजापति नाम से मनु की ओर, बौधायन एवं वसिष्ठ ने संकेत किया हो, यह समीचीन प्रतीत होता है।

---

१. बौधायनधर्मसूत्र (२।४।१५ एवं २।१०।७१) में प्रजापति प्रमाण-स्वरूप उद्धृत हैं।

२. वसिष्ठधर्मसूत्र (३।४७, १४।१६-१९, २४-२७, ३०-३२) में प्राजापत्य श्लोक उद्धृत पाये जाते हैं।

संवर्त

याज्ञवल्क्यस्मृति में संवर्त एक स्मृतिकार हैं। मनसुखराय मोर ने स्मृति-सन्दर्भ के प्रथम भाग में संवर्त-स्मृति का प्रकाशन करवाया है। इसमें कुल २२७ श्लोक हैं। इसके प्रधान विषय हैं—ब्रह्मचर्य का विधान, सन्ध्योपासना, कन्या विवाह प्रकरण, अशौच शुद्धि, श्राद्ध कर्म, विविधदान माहात्म्य, कन्या का विवाह काल, दान का विधान और प्रत्येक दान का माहात्म्य, गृहस्थ की दिनचर्या, वानप्रस्थधर्म, यतिधर्म, पापों का प्रायश्चित्त, महापापों की गणना, उपवास, संकीर्ण पाप एवं सभी पापों का प्रायश्चित्त। उपवास व्रत, ब्राह्मण भोजन कराने की तिथियाँ, गायत्री-जप एवं प्राणायामादि से पापमुक्ति बतलाई गई है।

अन्न दान के सम्बन्ध में सम्वर्त ने सबका ध्यान आकृष्ट किया है। यथा—

सर्वेषामेव दानानामन्नदानं परं स्मृतम्।
सर्वेषामेव जन्तूनां यतस्तज्जीवितं फलम्॥
यस्मादन्नात् प्रजाः सर्वाः कल्पे कल्पेऽसृजत् प्रभुः।
तस्मादन्नात् परं दानं न भूतो न भविष्यति॥
अन्नदानात् परं दानं विद्यते नहि किञ्चन।
अन्नाद् भूतानि जायन्ते जीवन्ति च न संशयः॥

—सम्वर्तस्मृति-८१-८३

पापों से मुक्ति के लिए सम्वर्त के उपदेश अनुकरणीय हैं। यथा—

दानैर्होमैर्जपैर्नित्यं प्राणायामैर्द्विजोत्तमः।
पातकेभ्यः प्रमुच्येत वेदाभ्यासान्न संशयः॥

—सं० स्मृ० २००

माघमासे तु संप्राप्ते पौर्णमास्यामुपोषितः।
ब्राह्मणेभ्यस्तिलान् दत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
उपवासी नरो भूत्वा पौर्णमास्याञ्च कार्त्तिके।
हिरण्यं वस्त्रमन्नं वा दत्वा मुच्येत दुष्कृतैः॥
अमावस्या द्वादशी च संक्रान्तिश्च विशेषतः।
एताः प्रशस्तास्तिथयो भानुवारस्तथैव च॥
अत्र स्नानं जपो होमो ब्राह्मणानाञ्च भोजनम्।
उपवासस्तथा दानमेकैकं पावयेन्नरम्॥

—सं० स्मृ० २०३-२०६

गायत्री की महती महिमा गायी गई है। यथा—

> ब्रह्मचारी मिताहारः सर्वभूतहिते रतः।
> गायत्र्या लक्षजप्येन सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
>
> —सं० स्मृ० २१९

गायत्री की उपासना प्रतिदिन करने की शिक्षा संवर्त नें दी है। जिस प्रकार सर्प अपना केंचुल छोड़ता है उसी भाँति प्रतिदिन गायत्री जप करनें वाला पापमुक्त हो जाता है। यथा—

> अहन्यहनि योऽधीते गायत्रीं वै द्विजोत्तमः।
> मासेन मुच्यते पापादुरगः कञ्चुकाद्यथा॥
>
> —सं० स्मृ० २१८

संवर्त के अनुसार लेख प्रमाण के समक्ष मौखिक प्रमाण का कोई महत्व नहीं है। आधुनिक काल में प्रकाशित सम्वर्तस्मृति पूर्ण नहीं है। सम्भवतः यह मौलिक स्मृति का संक्षिप्त रूप है। विश्वरूप, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, हरदत्त, अपरार्क एवं देवण्ण भट्ट ने अनेक उद्धरण सम्वर्तस्मृति से लिये हैं। दुर्भाग्यवश सभी उद्धरण मूलस्मृति में आज उपलब्ध नहीं हैं। मिताक्षरा में बृहत्संवर्त्त की चर्चा है। संवर्त-स्मृति से भिन्न बृहत्संवर्तस्मृति रही होगी जो आजकल अप्राप्य है।

धर्मशास्त्र के
व्याख्याकार एवं निबन्धकार

धर्मशास्त्र का इतिहास वैदिक साहित्य के साथ-साथ पल्लवित हुआ। आवश्यकतानुसार ऋषियों एवं मुनियों ने धर्मशिक्षा एवं धार्मिक विधि-विधानों से समाज को अनुप्रणित किया। सम्पूर्ण धर्मशास्त्र के इतिहास को तीन कालों में बाँटा जा सकता है।

(१) ६०० ई० पू० से प्रथम शताब्दी के आरम्भ तक

(२) १०० ई० से ८०० ई० तक

(३) ७०० ई० से १८०० ई० तक

प्रथम काल में धर्मसूत्र एवं मनुस्मृति जैसे महान ग्रन्थ लिखे गये।

द्वितीय काल में पद्यमय स्मृतियाँ लिखी गईं। तृतीय काल में धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों पर भाष्य लिखे गये। धर्मशास्त्रीय निबन्ध ग्रन्थों का निर्माण भी इसी काल

में हुआ। विश्वरूप, मेधातिथि एवं विज्ञानेश्वर से लेकर नन्द पण्डित तक प्रायः सभी प्रमुख सूत्र एवं स्मृति ग्रन्थों की व्याख्या हो चुकी थी।

भाष्य एवं निबन्ध के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है। वस्तुतः, टीकाकार या भाष्यकार निबन्धकारों की तरह ही अनेक श्रुति-स्मृति प्रतिपादित उद्धरणों का संग्रह किये। विज्ञानेश्वर ने तो याज्ञावल्क्यस्मृति का भाष्य किया परन्तु इतने उद्धरण प्रमाणरूप में उद्धृत हैं कि उनकी मिताक्षराव्याख्या निबन्ध ग्रन्थ की भाँति लोकप्रिय एवं प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। शङ्कर भट्ट ने विज्ञानेश्वर को सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहा है। ११वीं शताब्दी तक अनेक भाष्य ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके थे। मुसलमानी आक्रमण का प्रभाव हमारे राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन पर भी पड़ा। १२वीं शताब्दी से एक नई प्रवृति का शुभारम्भ हुआ। सूत्रों एवं स्मृतियों की व्याख्या करने की जगह धर्माचार्यों ने अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए स्वतन्त्ररूप से निबन्ध ग्रन्थों का निर्माण करना प्रारम्भ किया। लक्ष्मीधर भट्ट ने 'कृत्यकल्पतरु' जैसे विशाल धर्मशास्त्रविषयक निबन्ध ग्रन्थ लिखा। जीमूतवाहन ने 'दायभाग', 'काल विवेक' एवं 'व्यवहार मातृका' का निर्माण किया। श्रीधर ने 'स्मृत्यर्थसार' एवं देवण भट्ट ने 'स्मृति चन्द्रिका' की रचना की। हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' नामक महान एवं विशाल निबन्ध ग्रन्थ की रचना की। अब हमलोग भाष्यकारों एवं निबन्धकारों का परिचय प्राप्त करेंगे।

विश्वरूप

(काल–७५० ई० से ८५० ई० के बीच)

याज्ञवल्क्य स्मृति पर 'बालक्रीडा' नामक व्याख्या के लेखक विश्वरूप हैं। विज्ञानेश्वर ने अपनी व्याख्या 'मिताक्षरा' में विश्वरूप के भाष्य की चर्चा की है।

आचार्य शङ्कर के शिष्य सुरेश्वर को ही विश्वरूप मानना समीचीन प्रतीत होता है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य वार्तिक' एवं 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में सुरेश्वर ने अपने को आचार्य शङ्कर का शिष्य माना है। माधवाचार्य ने सुरेश्वर के ग्रन्थों से उद्धरण लिया है, किन्तु ग्रन्थकर्ता का नाम विश्वरूप लिखा है। आचार्य शंकर के चार शिष्य प्रसिद्ध थे—सुरेश्वर पद्मपाद, त्रोटक एवं हस्तामलक। सुरेश्वर ही विश्वरूप थे, इसका स्पष्ट निर्देश श्री रामतीर्थ ने अपने ग्रन्थ 'मानसोल्लास' में किया है।

'गुरुवंश काव्य' ने भी सुरेश्वर और विश्वरूप को एक ही माना है। अतः यह प्रमाण सिद्ध है कि सुरेश्वर आचार्य शंकर एवं आचार्य कुमारिल के शिष्य थे। 'गुरुवंश काव्य' में सुरेश्वर को दो आचार्यों (आचार्य शंकर एवं कुमारिल) का शिष्य लिखा है। आचार्य शंकर का काल ७८८ ई० से ८२० ई० तक माना जाता है। इस प्रकार ८२० ई० तक विश्वरूप प्रसिद्धि पा चुके थे। इनका काल ८०० ई० से ८५० ई० के बीच निर्धारित करना युक्ति संगत लगता है।

शंकराचार्य की शिष्यपरम्परा में होने के कारण विश्वरूप की शैली सरल एवं शक्तिशाली है तथा शंकराचार्य की शैली से प्रभावित प्रतीत होती है। अपनी व्याख्या में विश्वरूप ने वैदिक ग्रन्थ, ब्राह्मण, उपनिषद्, पारस्कर, भरद्वाज एवं आश्वलायन के गृह्यसूत्रों से अनेक उद्धरण लिये हैं। जिन स्मृतिकारों के श्लोक विश्वरूप की व्याख्या में उपलब्ध हैं वे निम्नांकित हैं—अत्रि, आपस्तम्ब, अङ्गिरा, उशना, कात्यायन, काश्यप, गार्ग्य, वृद्ध गार्ग्य, गौतम, जातूकर्ण या जातूकर्णि, दक्ष, नारद, पराशर, पारस्कर, पितामह, मनु, भृगु, वृद्धमनु, बौधायन, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, पैठीनसि, पुलस्त्य, भारद्वाज, यम, वृद्ध याज्ञवल्क्य, विष्णु, शंख, व्यास, वसिष्ठ, शातातप, शौनक, सम्वर्त, स्वयम्भु मनु, सुमन्तु एवं हारीत।

विश्वरूप ने पूर्वमीमांसा के प्रति अधिक प्रेम दिखलाया है। मीमांसा के लिए उन्होंने न्याय शब्द का प्रयोग किया है। कई श्लोक कारिकाओं के रूप में उद्धृत हैं। कारिकायें विश्वरूप की स्वरचित प्रतीत होती हैं। आचार्य कुमारिल से कारिकाओं की शैली प्रभावित लगती है।

पूर्वमीमांसा और अद्वैत वेदान्त का अद्भुत समन्वय, विश्वरूप की व्याख्या में परिलक्षित होता है। विश्वरूप ने आचार्य शंकर की भाँति मोक्ष का कारण ज्ञान को एवं संसार का कारण अविद्या को माना है। विश्वरूप ने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' से भी उद्धरण लिया है।

दायभाग, व्यवहारमातृका, स्मृतिचन्द्रिका, हारलता एवं सरस्वतीविलास आदि ग्रन्थों में विश्वरूप के मतों की चर्चा आयी है। विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा लिखते समय विश्वरूप को एक प्रामाणिक भाष्यकार माना है।

मेधातिथि

(काल–८२५ ई०–९०० ई०)

मनुस्मृति की व्याख्या (भाष्य) करनेवालों में मेधातिथि अग्रणी हैं। हस्तलिखित (भाष्य) के अन्त में एक श्लोक लिखा हुआ मिलता है, जिससे यह बोध

होता है कि सहारण के पुत्र मदन नामक राजा ने किसी देश से मेधातिथि के भाष्य को मँगा कर जीर्णोद्धार कराया। पश्चिमी विद्वान बुह्लर कश्मीर तथा उत्तर भारत की अधिक चर्चा होने के कारण मेधातिथि को कश्मीर निवासी मानते हैं।

मनुस्मृति भाष्य में मेधातिथि ने निम्नांकित स्मृतिकारों से उद्धरण लिया है—गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, विष्णु, शंख, मनु, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, पराशर, नारद, बृहस्पति, उशना, चाणक्य एवं जैमिनी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का प्रभाव भाष्य पर स्पष्ट परिलक्षित होता है[1]। व्यासरचित पुराणों से भी उद्धरण लिये गये हैं। आर्य समाज का जो चित्रण मेधातिथि के भाष्य से मिलता है, वह उल्लेखनीय है। पाञ्चरात्र, निर्ग्रन्थ (जैन) एवं पाशुपत मत के लोग मेधातिथि के काल में आर्य समाज से बाहर थे।[2]

विश्वरूप से अधिक मेधातिथि में मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त का अद्भुत समन्वय उपलब्ध होता है। अपने भाष्य में 'शारीरक भाष्य' (शंकराचार्यकृत) की चर्चा मेधातिथि ने की है। जैमिनी के सूत्रों का भी उद्धरण भाष्य में प्राप्त होता है। किन्तु दोनों मतों को मीमांसक मेधातिथि ने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। मोक्ष के लिये केवल ज्ञान को न मान कर ज्ञान एवं कर्म दोनों की आवश्यकता पर बल दिया है।

मेधातिथि की अपनी एक और कृति थी 'स्मृति-विवेक' जिसके उद्धरण उन्होंने मनुस्मृतिटीका में लिये हैं। स्मृतिविवेक पद्यमय रचना थी। पराशरमाधवीय, लोल्लट, एवं तिथि निर्णय—सर्वसमुच्चयकार ने मेधातिथि के श्लोकों को उद्धरण रूप में ग्रहण किया है।

समय—मिताक्षरा ने मेधातिथि को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। अतः मिताक्षरा के बहुत पूर्व मेधातिथि का भाष्य एवं स्मृतिविवेक प्रामाणिक ग्रन्थ स्वीकृत हो चुका था। 'विधि' एवं अर्थवाद नामक शब्द यह सिद्ध करते हैं कि पूर्वमीमांसा से मेधातिथि प्रभावित थे। आचार्य कुमारिल भट्ट[3] की चर्चा से प्रतीत होता है कि मेधातिथि उनके बाद हुए होंगे। मनुस्मृति के दूसरे व्याख्याकार कुल्लूक भट्ट ने

१—कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसम्पद् देशकालविभागो विनिपातप्रतिकारः कार्यसिद्धिः—मेधातिथि के भाष्य एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ५ मन्त्रांगों के नाम समान हैं।

२—मनुस्मृति दूसरा अध्याय श्लोक ६ पर मेधातिथि के भाष्य में वर्णित।

३—मनुस्मृति २।१८ पर भाष्य के क्रम में कुमारिल की चर्चा आयी है।

इनको गोविन्दराज (१०५० ई०–११०० ई०) से बहुत पूर्व माना है। अतः मेधातिथि को ८२० ई०—१००० ई० के बीच का भाष्यकार माना जा सकता है।

विशेषता—आजकल मनुस्मृति का जो संस्करण उपलब्ध है, वही मेधातिथि के काल में भी विद्यमान था।

मेधातिथि के अनुसार शास्त्र में लिखे गये कर्त्तव्यों से छुटकारा ले लेने को संन्यास नहीं कहते हैं, बल्कि अहंकार छोड़ देने को संन्यास कहते हैं। दत्तक के सम्बन्ध में भी मेधातिथि ने ब्राह्मण को क्षत्रिय-पुत्र गोद लेना शास्त्र सम्मत बतलाया है। भाइयों में बँटवारे के समय मेधातिथि ने अविवाहित बहन के लिये चौथाई भाग की व्यवस्था की है।[1]

असहाय

असहाय एक प्रसिद्ध टीकाकार थे। दुर्भाग्यवश इनका लिखित भाष्य ग्रन्थ पूर्णरूपेण उपलब्ध नहीं है। मेधातिथि ने असहाय के नाम का उल्लेख मनुस्मृति की टीका में किया है। सरस्वती विलास और विवाद रत्नाकर ने असहाय को मनु का टीकाकार माना है। याज्ञवल्क्यस्मृति की व्याख्या में विश्वरूप ने असहाय को गौतमधर्मसूत्र के भाष्यकार के रूप में याद किया है।[2]

अनिरुद्ध ने भी अपने ग्रंथ हारलता में असहाय को गौतमधर्मसूत्र का भाष्यकार माना है।[3] उद्धरणों एवं उल्लेखों से ज्ञात होता है कि असहाय ने मनुस्मृति, गौतमधर्मसूत्र एवं नारदस्मृति[4] पर टीकाएँ की थीं।

समय—विश्वरूप एवं मेधातिथि ने असहाय का उल्लेख किया है। अतः इनसे पूर्व इनका काल रहा होगा। इनका काल ७०० ई० से ७५० के बीच रखा जा सकता है। इनके जन्मस्थान का सही ज्ञान अभी अप्राप्य है।

१—मनुस्मृति-९।११८ पर मेधातिथि की व्याख्या में वर्णित है।
याज्ञवल्क्यस्मृति-२।१२४ पर मिताक्षरा ने उपर्युक्त मत की चर्चा की है।

२—याज्ञवल्क्यस्मृति—३।२६३ पर विश्वरूप की टीका में उद्धृत।

३—बंगराज वल्लालसेन (लगभग ११६८ ई०) के गुरु अनिरुद्ध थे।

४—नारदस्मृति—डा० जाली द्वारा सम्पादित—इसमें कल्याण भट्ट द्वारा संशोधित असहाय के भाष्य का एक अंश है।

भर्तृयश

(काल ७०० ई० से ८०० ई० के बीच)

मेधातिथि ने भर्तृयश का उल्लेख किया है।[1] गौतमधर्मसूत्र के व्याख्याकार के रूप में चण्डेश्वर एवं गदाधर ने भर्तृयश के नाम का उल्लेख किया है। त्रिकाण्ड-मण्डन ने अपनी "आपस्तम्बसूत्रध्वनितार्थकारिका" में भर्तृयश के मत का उल्लेख किया है। यथा :-जिसने वेद याद कर डाला है, वह यज्ञ करने का अधिकारी है, भले ही उसे वेद-मन्त्रों का अर्थ न ज्ञात हो। अनन्त के भाष्य से ज्ञात होता है कि भर्तृयश ने कात्यायन-श्रौतसूत्र पर भी टीका की थी।

इनका समय ७०० ई० से ८०० ई० के बीच माना जा सकता है। ये असहाय के समकालीन थे।

श्रीकर

(काल–८०० ई. से १००० ई. के बीच)

विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्यस्मृति की 'मिताक्षरा' नामक व्याख्या में श्रीकर का उल्लेख किया है।[2] स्मृतिसार, दायभाग, स्मृतिचन्द्रिका, सरस्वतीविलास एवं व्यवहारमयूख में भी श्रीकर की चर्चा है। डा० काणे ने श्रीकर को मिथिलावासी होने की सम्भावना व्यक्त की है।

हेमाद्रि ने भी श्रीकर के मतों का उल्लेख किया है। यह अभी तक स्पष्ट नहीं ज्ञात हो सका है कि श्रीकर ने निबन्ध ग्रन्थ लिखा था या किसी स्मृति की टीका की थी। मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्यस्मृति से सम्बन्धित श्रीकर के मतों का उल्लेख किया है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि याज्ञवल्क्यस्मृति के वे टीकाकार थे। चण्डेश्वर ने राजनीति रत्नाकर में श्रीकर की राजनीति-विषयक बातें ग्रहण की हैं।

असहाय एवं विश्वरूप ने श्रीकर की चर्चा नहीं की है, अतः वे बाद के भाष्यकार प्रतीत होते हैं। विज्ञानेश्वर के पूर्व इनका काल माना जा सकता है। अनुमानतः ८०० ई० से १००० ई० के बीच इनका काल रहा होगा।

१—मनुस्मृति—८।३ पर मेधातिथि की व्याख्या में उद्धृत।

२—याज्ञवल्क्यस्मृति—२।१३५, २।१६९—पर मिताक्षरा में वर्णित।

भारुचि

(काल—८०० ई. से ९०० ई. के बीच]

विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा[1] में भारुचि के मतों का उल्लेख किया है। पराशरमाधवीय एवं सरस्वतीविलास ने भी भारुचि का उल्लेख किया है। रामानुजाचार्य ने अपने से पूर्व के विशिष्टाद्वैत के छः आचार्यों के नाम लिये हैं, यथा—बोधायन, टंक, द्रमिड़, गुहदेव, कपर्दी एवं भारुचि। इनको विष्णुधर्मसूत्र का व्याख्याकार भी कहा जाता है। आपस्तम्बगृह्यसूत्र के भाष्य में सुदर्शनाचार्य ने भारुचि के मतों की चर्चा की है। भारुचि नियोग प्रथा के समर्थक थे। इनका काल मिताक्षरा के पूर्व मानना समीचीन है। वे विश्वरूप के समकालीन थे। अतः इनका काल ८०० ई० से ९०० ई० के बीच रखा जा सकता है।

धारेश्वर भोजदेव

(काल—१००० ई. से १०५५ ई.)

धारा के भोजदेव को ही धारेश्वर कहा जाता है। राजा भोजदेव विद्वानों के महान् आश्रयदाता थे। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' एवं 'शृंगारप्रकाश' नामक साहित्य के दो महान् ग्रंथ भोजदेव की कृति मानी जाती है। यही भोजदेव 'भुजबल निबन्ध' के रचयिता माने जाते हैं। भुजबल निबन्ध धर्मशास्त्र एवं ज्योतिष का पठनीय ग्रन्थ माना जाता है। यह १८ अध्यायों में विभक्त है। इसके मुख्य विषय हैं—स्त्रीजातक, कर्णवेध, संस्कार, व्रत, विवाहमेलक-दर्शक, गृहकर्मप्रवेश, संक्रान्ति स्नान एवं द्वादशमासकृत्य आदि। भोजकृत 'तत्त्वप्रकाश' त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित हुआ है। राजमार्तण्ड से ज्ञात होता है कि 'राजमृगांक' नामक आयुर्वेद एवं ज्योतिष-ग्रंथ एवं पतंजलि के समान व्याकरण पर एक ग्रन्थ, योगसूत्र पर एक वृत्ति तथा एक बृहद् धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना राजा भोज ने की थी।

भोजप्रबन्ध से ज्ञात होता है कि धारा नगरी में भोज ने ५५ वर्षों तक राज्य किया। इनका काल जयसिंह के अभिलेख (१०५५-५६ ई०) के आधार पर १०५६ ई० से पूर्व रखा जा सकता है। अर्थात् १००० ई० से १०५६ ई० के बीच इनका शासनकाल रहा होगा।

1—याज्ञवल्क्यस्मृति—२।८१, ३।२४—पर 'मिताक्षरा' में उद्धृत है।

जितेन्द्रिय

(काल—१००० ई. से १०५० ई. के बीच)

जीमूतवाहन ने अपने कालविवेक, व्यवहारमातृका एवं दायभाग में तथा रघुनन्दन ने अपने दायतत्त्व में जितेन्द्रिय के मतों का उल्लेख किया है। मास, तिथि एवं उसमें होने वाले धार्मिक कृत्यों के सम्बन्ध में जितेन्द्रिय के मत कालविवेक में उद्धृत हैं। जितेन्द्रिय का काल १००० ई० से १०५० ई० के बीच माना जाता है। सम्भवतः वे बंगाली थे।

देवस्वामी

(काल—१००० ई. से १०५० ई. के बीच)

देवस्वामी ने 'स्मृतिसमुच्चय' नामक निबन्ध ग्रन्थ की रचना की थी। स्मृतिचन्द्रिका से ज्ञात होता है, कि नारायण ने आश्वलायनगृह्यसूत्र के भाष्य की रचना की। नारायण ने अपने भाष्य में देवस्वामी के भाष्य से बहुत सहायता प्राप्त की थी। लगता है, देवस्वामी ने आश्वलायन श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र पर भाष्य लिखा था। इसके अतिरिक्त उनका एक निबन्ध ग्रन्थ भी था, जिसमें आचार, व्यवहार एवं अशौच से सम्बन्धित सामग्रियाँ थीं।

चतुर्विंशतिमत की टीका में भट्टोजिदीक्षित ने अशौच प्रकरण में देवस्वामी का उद्धरण लिया है। व्यवहार एवं अशौच पर स्मृतिचन्द्रिका ने इनके अनेक उद्धरण लिये हैं। गार्ग्य नारायण, जो नरसिंह के पुत्र थे, आश्वलायनश्रौतसूत्र के भाष्यकार माने जाते हैं। उन्होंने देवस्वामी के भाष्य से मदद ली थी। गार्ग्य नारायण का समय लगभग ११०० ई० है। स्मृतिचन्द्रिका का निर्माण काल—१२०० ई० से १२२५ ई० के बीच की कोई तिथि मानी जा सकती है। अतः देवस्वामी १००० ई० से १०५० ई० के बीच कभी हुए होंगे, यह अनुमान लगाया जाता है।

बालक

(काल—लगभग ११०० ई. से ११५० ई. के बीच)

जीमूतवाहन ने अपने दायभाग में बालक के उद्धरण लिये हैं। रघुनन्दन के व्यवहारतत्त्व तथा शूलपाणि के दुर्गोत्सवविवेक में बालक का उल्लेख आता है। लगता है, बालक पूर्वी बंगाल के रहने वाले थे। इनका ग्रंथ व्यवहार एवं प्रायश्चित्त

पर प्रामाणिक माना जाता था। इनका काल ११०० ई० मे ११५० ई० के बीच रखा जा सकता है।

बालरूप

(काल–११०० ई. से ११५० ई. के बीच)

बालक एवं बालरूप दोनों एक ही हैं। मिसरु मिश्र वाचस्पति एवं हरिनाथ ने बालरूप की चर्चा की है। बालक का उल्लेख उन लोगों ने नहीं किया है। बालक या बालरूप बंगाल के रहने वाले थे। भवदेव के प्रायश्चित्त-निरूपण में 'बालोक' नाम मिलता है। जोमूतवाहन ने बालक के बालरूपत्व की खिल्ली उड़ायी है।[1] इन तथ्यों से लगता है कि एक ही व्यक्ति के दो नाम होंगे।

हरिनाथ के स्मृतिसार में, वाचस्पति के विवादचिन्तामणि में एवं मिसरु मिश्र के विवादचन्द्र में बालरूप के मत उल्लिखित हैं। आदित्यभट्ट ने 'कालादर्श' में कालरूप को प्रमाण माना है।

बालरूप पुत्रहीन व्यक्ति के उत्तराधिकार के प्रश्न पर निर्णय देते हैं कि पुत्र-हीन व्यक्ति की सम्पत्ति पर उसकी अविवाहित पुत्री का अधिकार उसकी विवाहित पुत्री के पहले होता है। यह मत पराशरस्मृति पर आधारित है। बालरूप के अनुसार आत्मबन्धु, पितृबन्धु एवं मातृबन्धु क्रम से उत्तराधिकारी होते हैं।

विज्ञानेश्वर

(काल १०८० ई.—१११९ ई.)

काल—याज्ञवल्क्य स्मृति पर 'मिताक्षरा' नामक भाष्य के रचयिता विज्ञानेश्वर ने विक्रमादित्य देव को अपना आश्रयदाता कहा है। चालुक्यवंशीय विक्रमादित्य देव का काल १०७६ से १११४ ई० के बीच माना जाता है। महकवि विल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' नामक महाकाव्य की रचना की जिसमें विक्रमादित्य देव का विशद वर्णन है। देवण्णभट्ट ने अपनी स्मृतिचन्द्रिका की रचना १२९० ई० के आसपास किया था। स्मृतिचन्द्रिका में मिताक्षरा की चर्चा यह सिद्ध करती है कि विज्ञानेश्वर की 'मिताक्षरा' देवण्णभट्ट की 'स्मृतिचन्द्रिका' से पूर्व की रचना है। स्मृतिचन्द्रिका का लेखन काल लगभग १२०० ई० माना जाता है। लक्ष्मीधर (११००-११३० ई०) ने भी 'कृत्यकल्पतरु' में विज्ञानेश्वर का उल्लेख किया है।

१—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-१ पृ० ७२

अतः निश्चित ही मिताक्षरा ११०० ई० के पूर्व प्रणीत हो चुकी थी। विक्रमादित्य के शासन-काल के आधार पर मिताक्षरा का रचनाकाल १०७५ से ११०० ई० बीच मानना समीचीन प्रतीत होता है।

परिचय विज्ञानेश्वर का जन्म भारद्वाज गोत्र में हुआ था। 'मिताक्षरा' के अन्त में उल्लिखित वाक्य से ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम पद्मनाभ भट्टोपाध्याय था।[1] इनके गुरु का नाम उत्तमात्मा या आत्मोत्तम या उत्तम रहा होगा।[2] विज्ञानेश्वर ने परिव्राजक के रूप में जीवन-यापन किया और गम्भीर अध्ययन एवं मनन के बाद 'ऋजु-मिताक्षरा' या 'प्रमिताक्षरा' या 'मिताक्षरा' नामक भाष्य लिखा। याज्ञवल्क्य-स्मृति की यह केवल टीका (व्याख्या) मात्र नहीं है, वरन्, दो हजार वर्षों से लोक-प्रचलित श्रुति-स्मृति परस्पर के सारतत्व से निर्मित यह निबन्ध ग्रन्थ कहा जा सकता है। शंकर भट्ट ने अपने द्वैतनिर्णय में विज्ञानेश्वर को निबन्धकारों में सर्वश्रेष्ठ कहा है। वास्तव में याज्ञवल्क्यस्मृति के माध्यम से अनेक सूत्रकारों एवं स्मृतिकारों के मतों को विज्ञानेश्वर ने अपने भाष्य में खण्डित-मण्डित किया है। भारतीय व्यवहार संहिता (कानून ग्रन्थ) 'मिताक्षरा' की अग्रणी है; क्योंकि अनेक मत-मतान्तरों का सम्यक् विवेचन इस भाष्य में उपलब्ध है। अतः इसे केवल भाष्य न कहकर स्मृति-सम्बन्धी निबन्ध कहना उचित प्रतीत होता है।

विज्ञानेश्वर पूर्वमीमांसा के गम्भीर ज्ञाता थे। उनके भाष्य में पूर्वमीमांसा का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अनेक स्मृतिकारों के मत-मतान्तरों से उत्पन्न विरोधों का उन्होंने मीमांसा के नियमानुसार समाधान किया है। 'मिताक्षरा' नाम से ज्ञात होता है कि यह कम अक्षरों में (संक्षिप्त विवरण वाली) वर्णित भाष्य है। प्रायः प्रत्येक श्लोक की व्याख्या को प्रस्तुत करने में विज्ञानेश्वर ने अपने वैदुष्य का प्रदर्शन किया है।[3]

'मिताक्षरा' के पूर्व छः निबन्धों की रचना हो चुकी थी, जिनके उद्धरण 'मिताक्षरा' में उपलब्ध हैं; यथा—असहाय, विश्वरूप, मेधातिथि, श्रीकर, भारुचि

१—इति पद्मनाभ भट्टोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकविज्ञानेश्वरभट्टारकस्य...।

२—उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः। मिताक्षरा टीका के अन्त में उल्लिखित है।

३—याज्ञवल्क्यस्मृति—१।८१, १।१८६, २।११४ एवं २।१२६ इत्यादि श्लोकों की व्याख्या में विज्ञानेश्वर ने मीमांसा शास्त्र का विशेष रूप से आश्रय लिया है।

भोजदेव। विज्ञानेश्वर ने जिन स्मृतियों या स्मृतिकारों का उल्लेख अपने भाष्य-ग्रंथ में किया है, वे प्रमाण के रूप में प्रसिद्धी प्राप्त कर चुके थे। यथा—अंगिरा, वृद्धाङ्गिरा, मध्यमाङ्गिरा, अत्रि, आपस्तम्ब, आश्वलायन, उपमन्यु, उशना, ऋष्यश्रृङ्ग, कश्यप, काण्व, कात्यायन, काष्र्णाजिनि, कुमार, कृष्णद्वैपायन, क्रतु, गार्ग्य, गृह्यपरिशिष्ट, गोभिल, गौतम, चतुर्विंशतिमत, च्यवन, छागल, जमदग्नि, जातूकर्ण्य, जाबाल (जाबालि), जैमिनि, दक्ष, दीर्घतमा, देवल, धौम्य, नारद, पराशर, पारस्कर, पितामह, पुलस्त्य, पैंग्य, पैठीनसी, प्रचेता, बृहत्प्रचेता, वृद्धप्रचेता, प्रजापति, बाष्कल बृहस्पति, वृद्धबृहस्पति, बौधायन, ब्रह्मगर्भ, ब्राह्मवध, भारद्वाज, भृगु, मनु, बृहन्मनु, वृद्धमनु, मरीचि, मार्कण्डेय, यम, बृहद्यम, याज्ञवल्क्य, बृहद्याज्ञवल्क्य, वृद्धयाज्ञवल्क्य, लिखित, लौगाक्षि, वसिष्ठ, बृहद्वसिष्ठ, विष्णु, बृहद्विष्णु, वृद्धविष्णु, वैयाघ्रपद, वैशम्पायन, व्याघ्र, व्यास, बृहद्व्यास, शंख, शंखलिखित, शाण्डिल्य, शातातप, बृहच्छातातप, वृद्धशातातप, शुनःपुच्छ, शौनक, षट्त्रिंशन्मत, संवर्त, बृहत्संवर्त, सुमन्तु, हारीत, वृद्धहारीत, बृहद्धारीत, अमर और गुरु प्रभाकर।

निम्नांकित ग्रन्थों के उद्धरण मिताक्षरा में प्राप्त होते हैं—यथा—काठक, बृहदारण्यकोपनिषद्, गर्भोपनिषद्, जाबालोपनिषद्, निरुक्त, नाट्यशास्त्र, भरत, योग-सूत्र, पाणिनि, सुश्रुत, स्कन्दपुराण एवं विष्णुपुराण।

मिताक्षरा के कई भाष्य भी हुए हैं; जिनमें तीन व्यक्तियों के भाष्य महत्त्वपूर्ण हैं—(१) विश्वेश्वर (२) नन्दपण्डित (३) बालम्भट्ट।

जीमूतवाहन के मतों से विपरीत मिताक्षरा में विज्ञानेश्वर के विचार हैं। दायभाग को अप्रतिबन्ध एवं सप्रतिबन्ध नामक दो भागों में विभक्त किया गया है। मिताक्षरा के अनुसार पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र वसीयत पर जन्म से ही अधिकार प्राप्त करते हैं।

विज्ञानेश्वर विरचित अन्य ग्रन्थ हैं 'अशौचदशक' या 'दशश्लोकी', जिसकी टीका हरिहर ने की है।

कामधेनु

(काल—१००० ई. से ११०० ई. के बीच)

कामधेनु एक धर्मशास्त्रीय ग्रंथ था, जिसकी कोई प्रति सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। मेधातिथि एवं मिताक्षरा में 'कामधेनु' की चर्चा नहीं आयी है, अतः यह ग्रन्थ मिताक्षरा के बाद प्रणीत हुआ होगा। 'कृत्यकल्पतरु' में लक्ष्मीधर ने

कामधेनु से उद्धरण लिये हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि ११०० ई० के पूर्व इस ग्रन्थ का प्रणयन हो चुका था। कामधेनु का लेखक कौन है? यह विवादास्पद है। जायसवाल ने भोज को कामधेनु का रचयिता माना है। आफ्रेख्त ने शम्भु को लेखक माना है। भोज या शम्भु को लेखक मानने के लिये पुष्ट प्रमाण का अभाव है। चण्डेश्वरकृत व्यवहाररत्नाकर में गोपाल नामक व्यक्ति कामधेनु के प्रणेता प्रतीत होते हैं।

'स्मृत्यर्थसार', 'विवादरत्नाकर एवं श्राद्धक्रियाकौमुदी', 'श्राद्धविवेक', 'समयप्रदीप' में क्रमशः श्रीधराचार्य, चण्डेश्वर, शूलपाणि एवं श्रीदत्त ने कामधेनु के मतों का उल्लेख किया है।

हलायुध

(काल—१००० ई. से ११०० ई. के बीच)

हलायुध का एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध ग्रन्थ था, जो ११०० ई० के बाद ही धर्मशास्त्र में प्रमाण मान लिया गया था। लक्ष्मीधर के 'कृत्यकल्पतरु' में व्यवहारकोविद हलायुध कई बार आये हैं। मिताक्षरा एवं मेधातिथि ने हलायुध की चर्चा नहीं की है, अतः यह बाद की कृति मानी जाती है। सम्भवतः ११०० ई० (कृत्यकल्पतरु) के पूर्व हलायुध का निबन्ध जन्म ले चुका था।

अभिधानरत्नमाला, कविरहस्य एवं मृतसंजीवनी के लेखक हलायुध दूसरे हैं; जो १००० ई० के पूर्व हुए होंगे। धर्मशास्त्र-निबन्ध के रचयिता हलायुध चण्डेश्वर के विवादचिन्तामणि में, रघुनन्दन के दायतत्त्व, व्यवहारतत्त्व एवं दिव्यतत्त्व में तथा वीरमित्रोदय के विशाल निबन्ध ग्रन्थ में कई बार आये हैं। हरिनाथ ने अपने स्मृतिसार में हलायुध को प्रमाण मानकर उद्धृत किया है, पुत्रहीन पत्नी पति की मृत्यु के बाद नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की प्रवृत्ति रखती हो तो उसे उत्तराधिकार से वञ्चित कर देना चाहिए।

भवदेव भट्ट

(काल—११०० ई. से १२०० ई. के बीच)

बंगाल एवं उड़ीसा में भवदेव भट्ट का विशेष आदर था। उड़ीसा में भुवनेश्वर के अनन्तवासुदेव के मन्दिर के एक अभिलेख में भवदेव की चर्चा है। कीलहार्न इस अभिलेख की तिथि १२ वीं शताब्दी मानते हैं।

भवदेवभट्टकृत 'व्यवहारतिलक' व्यवहारविधि पर प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता था। रघुनन्दन एवं वीरमित्रोदय ने 'व्यवहारतिलक' से उद्धरण लिये हैं। नन्दपण्डित ने 'वैजयन्ती' नामक टीका में भवदेव के मतों का उल्लेख किया है।

भवदेव की दूसरी कृति 'कर्मानुष्ठानपद्धति' है। इसीका नाम 'दशकर्मपद्धति' भी है।[1] सामवेद पढ़ने वाले ब्राह्मण के लिए दस प्रमुख क्रियासंस्कारों का वर्णन इस ग्रन्थ में है।

भवदेव की तीसरी कृति 'प्रायश्चित्तनिरूपण' है। चौथी रचना है 'तोतातितमततिलक' इसमें कुमारिल की भाँति पूर्वमीमांसा के सिद्धान्तों का विवेचन है।

हेमाद्रि एवं हरिनाथ ने भवदेवभट्ट से उद्धरण लिये हैं। अतः इनका काल १२ वीं शदी रहा होगा।

प्रकाश

(काल—१००० ई. से ११०० ई. के बीच)

कृत्यकल्पतरु में प्रकाश के नाम का उल्लेख आया है। दुर्भाग्यवश प्रकाश का निबन्ध ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। केवल उद्धरणों से ज्ञात होता है कि प्रकाश रचित धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ व्यवहार, दान, श्राद्ध आदि प्रकरणों में प्रमाण माना जाता था। चण्डेश्वर ने अपने विवादरत्नाकर में इनको प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है।

यह सम्भव है कि प्रकाश ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर भाष्य लिखा हो, क्योंकि विवादचिन्तामणि में प्रकाश की व्याख्या की ओर संकेत है तो वीरमित्रोदय में प्रकाश की मनु-सम्बन्धी व्याख्याओं का खण्डन प्राप्त होता है।

'महार्णव-प्रकाश' नामक ग्रन्थ प्रकाश रचित माना जाता है। 'कृतकल्पतरु' में उद्धृत होने के कारण प्रकाश ११०० ई० के पूर्व हुए होंगे। प्रकाश, मेधातिथि का उल्लेख करते हैं, अतः उनके बाद इनका काल निर्धारित किया जा सकता है।

गोविन्दराज

(काल—१०५० ई. से ११९० ई. के बीच)

गोविन्दराज ने मनुस्मृति पर टीका लिखी थी। मनुस्मृति-भाष्य से ही ज्ञात होता है कि उनकी एक स्वतंत्र कृति "स्मृतिमञ्जरी" भी थी।[2]

१—डेक्कन कालेज के संग्रहालय में दो हस्तलिखित प्रतियाँ हैं।

२—मनुस्मृति—अध्याय-३, श्लोक-२४७-२४७ पर गोविन्दराज के भाष्य में उल्लिखित है।

गोविन्दराज ब्राह्मण थे। इनके दादा का नाम नारायण एवं पिता का नाम माधव था। इनके भाष्य ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि वे गंगा-तट के निवासी थे। आचार्य शंकर एवं कुमारिल भट्ट के मतों से ये प्रभावित थे। मोक्ष के लिये ज्ञान एवं कर्म की आवश्यकता पर इन्होंने बल दिया है।

मनुस्मृति के दूसरे भाष्यकार कुल्लूक ने गोविन्दराज के भाष्य से अनेक उद्धरण लिये हैं। कुल्लूक ने गोविन्दराज को मेधातिथि से बहुत बाद का भाष्यकार माना है। मिताक्षरा में मेधातिथि एवं भोजदेव की चर्चा है किन्तु गोविन्दराज का उल्लेख नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि मिताक्षरा के प्रणयन के बाद गोविन्दराज ने अपना भाष्य लिखा हो।

अनिरुद्ध भट्ट ने, जो बंगाल के प्रसिद्ध धर्मशास्त्र-सम्बन्धी निबन्धकार थे, अपने ग्रन्थ 'हारलता' में तथा जीमूतवाहन ने 'धर्मरत्न' में, हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' में गोविन्दराज की उक्तियों को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। अनिरुद्ध भट्ट का काल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। जीमूतवाहन १२वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हुए थे। अतः गोविन्दराज का काल बारहवीं शताब्दो के पूर्व माना जाना चाहिए। उद्धरणों के आधार पर इनको ग्यारहवीं शताब्दी का निबन्धकार माना जाता है।

गोविन्दराज ने पुराणों, गृह्यसूत्रों एवं योगसूत्रों से अनेक उद्धरण अपने भाष्य में लिए हैं। उनके अनुसार यज्ञीय भूमि आन्ध्र देश नहीं हो सकता था क्योंकि वहाँ म्लेच्छों का निवास था। दुर्भाग्यवश इनकी स्वतंत्र कृति 'स्मृतिमञ्जरी' का कुछ अंश ही आजकल उपलब्ध है। इस अपूर्ण ग्रन्थ से ही ज्ञात होता है कि धर्मशास्त्र-सम्बन्धी सभी सामग्रियाँ उनके निबन्ध-ग्रथ में रही होंगी।

लक्ष्मीधर

(काल–११०० ई. से ११५० ई. के बीच)

लक्ष्मीधर गहड़वार या राठौर राजा गोविन्दचन्द्र के सान्धिविग्रहिक मन्त्री थे। कौटिल्य की भाँति धर्मज्ञाता के साथ-साथ लक्ष्मीधर कुशल राजनीतिज्ञ भी थे। हेमाद्रि की तरह लक्ष्मीधरजी भट्ट थे। सम्भवतः वे राजगुरु भी थे। लक्ष्मीधर के पिता राठौर राजा के प्रधानमन्त्री थे। पैतृक विरासत में लक्ष्मीधर ने सान्धिविग्रहिक का पद प्राप्त किया। गोविन्दचन्द्र के शान्तिप्रिय शासनकाल एवं विजय-अभियान

का सारा श्रेय मंत्री लक्ष्मीधर की मन्त्रणा को ही प्राप्त है। इसका उल्लेख राजधर्म काण्ड में है[1]। इनके पिता का नाम हृदयधर था[2]। अपनी प्रतिभा के बल पर लक्ष्मीधर मुख्य न्यायाधीश के पद पर पहुँच गये। इनकी प्रतिभा एवं वैदुष्य से कौन प्रभावित नहीं होता! इन्होंने स्वयं व्यवहार काण्ड के प्रारम्भ में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। राजा गोविन्दचन्द्र ने मुसलमान आक्रमणकारी हम्मीर (अमीर) को ११०८ ई० में लक्ष्मीधर की सहायता से परास्त किया। राहन प्लेट से ज्ञात होता है कि ११०९ ई० में चोल राजा कोलुत्तुङ्ग के साथ मित्रता की सन्धि की गई। राजनीतिक एवं कूटनीतिक प्रतिभा के कारण ही लक्ष्मीधर मन्त्रीश्वर (प्रधान मंत्री) के पद तक पहुँचे होंगे। ब्रह्मचारीकाण्ड के प्रारम्भ में लक्ष्मीधर ने अपने को 'मन्त्रीश्वर' कहा है।[4]

लक्ष्मीधर ने १११० ई० से ११२० ई० के बीच अपने महान् निबन्ध 'कृत्य-कल्पतरु' की रचना समाप्त कर ली होगी। उद्धरणों के आधार पर यह मिताक्षरा के बाद की कृति है। उन्होंने विज्ञानेश्वर का उल्लेख किया है। 'कृत्यकल्पतरु' या 'कल्पतरु' या 'कल्पवृक्ष' के नाम से यह विशाल निबन्ध ग्रन्थ प्रचलित है। सम्पूर्ण उत्तर भारत में इसकी अमिट छाप थी। आचार, व्यवहार, राजधर्म एवं तीर्थ आदि विषयों पर इस निबन्ध ग्रन्थ के उद्धरण बाद के निबन्धकारों ने ग्रहण किए हैं।

१—न्याये वर्त्मनि यज्जगद्गुणवतां गेहेषु यद्दन्तिनो

राज्ञां मूर्धनि यत्पदं व्यरचयद्गोविन्दचन्द्रो नृपः।

तत्सर्वं खलु यस्य मन्त्रमहिमाऽऽश्चर्यं स लक्ष्मीधरः॥

कृत्यकल्पतरु—राजधर्मकाण्ड

२—श्री भट्टहृदयधरात्मजमहासान्धिविग्रहिकभट्ट श्री लक्ष्मीधर विरचिते ....।

कृत्यकल्पतरु के प्रत्येक काण्ड के अन्त में उल्लिखित है।

३—नानाशास्त्रवचोविचारचतुरप्रज्ञाबलस्थापित—

न्यायादिव्यवहारमार्गविशदास्तास्ताः प्रगल्मा गिरः।

यस्याऽऽकर्ण्य विपश्चितः प्रतिसमं रोमाञ्चमातन्वते

काण्डे स व्यवहारमत्र तनुते लक्ष्मीधरो द्वादशे॥

(कृत्यकल्पतरु—व्यवहारकाण्ड)

४—विद्यावल्लिविलासभूरुहवरो वीरस्य विप्रोत्तमः

श्री लक्ष्मीधर इत्यचिन्त्यमहिमा तस्यास्ति मन्त्रीश्वरः।

कृत्यकल्पतरु—ब्रह्मचारिकाण्डम्

मेधातिथि, शंखलिखित के भाष्य, प्रकाश, विज्ञानेश्वर, हलायुध एवं कामधेनु के मत कृत्यकल्पतरु में यत्र-तत्र परिलक्षित होते हैं। अनेक स्मृतियों, पुराणों एवं महाकाव्यों से उद्धरण लिए गए हैं।

बंगाल के प्रायः सभी धर्मशास्त्र-सम्बन्धी विषयों के निबन्धकार लक्ष्मीधर के विशाल ग्रन्थ से उद्धरण लिए हैं—यथा—अनिरुद्ध, वल्लालसेन, शूलपाणि एवं रघुनन्दन आदि। मिथिला में भी लक्ष्मीधर आदर के साथ याद किए गए हैं। चण्डेश्वर ने विवाद रत्नाकर में, हरिनाथ ने स्मृतिसार में, श्री दत्त ने आचारादर्श में 'कल्पतरु' को बार-बार स्मरण किया है। दक्षिण एवं पश्चिम भारत के महान् निबन्धकार हेमाद्रि के 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' में तथा राजा प्रतापरूद्रदेव के संरक्षण में संगृहीत 'सरस्वतीविलास' में आदरपूर्वक उद्धृत है। दत्तकमीमांसा एवं वीरमित्रोदय में भी कल्पतरु का उल्लेख है।

जीमूतवाहन

(काल—११०० ई. से १४०० ई. के बीच)

जीमूतवाहन को बंगाल के धर्मशास्त्रकारों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। शूलपाणि एवं रघुनन्दन के पहले जीमूतवाहन ने बंगाल की धर्मशास्त्रीय-व्यवस्था को व्यवस्थित रूप प्रदान किया था।

इनका जन्म पारिभद्र कुल में हुआ था। जन्मस्थान का नाम राढा था। जीमूतवाहन ने अपने ग्रन्थ में मिताक्षरा, गोविन्दराज एवं धारेश्वर भोजदेव का उल्लेख किया है। अतः ग्यारहवीं शताब्दी के बाद ही इनका काल निर्धारित किया जा सकता है। जीमूतवाहन ने एक स्थान पर १०९१-१०९२ ई० की गणना की है। इस आधार पर इनको ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में जीवित माना जाता है। अगर जीमूतवाहन ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में तथा बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जीवित थे, तब उनका प्रणीत निबन्ध ग्रन्थ बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक के निबन्धकारों द्वारा उद्धृत क्यों नहीं किया गया ? चौदहवीं शताब्दी के बाद शूलपाणि, वाचस्पति मिश्र एवं रघुनन्दन ने उनके ग्रन्थों से उद्धरण लिए हैं।

जीमूतवाहन कृत 'धर्मरत्न' के तीन खण्ड हैं—कालविवेक, व्यवहारमातृका एवं दाय भाग।

कालविवेक में ऋतुओं, मासों, उत्सवों एवं पर्वों का काल-निर्णय वर्णित है। व्यवहारमातृका में १८ व्यवहारपदों, प्राड्विवाक (न्यायाधीश) शब्द के उद्गम, प्राड्विवाक योग्य व्यक्तियों, विभिन्न प्रकार के न्यायालयों, सभासदों के कर्तव्य, व्यवहार के चार स्तरों—पूर्वपक्ष, प्रतिभू, पूर्वपक्ष-दोष, उत्तर (प्रतिवादी का उत्तर), चार प्रकार के उत्तर—उत्तरदोष, क्रिया (सिद्ध करने का प्रमाण), दैवी एवं मानवी प्रमाण (यथा—दिव्य, अनुमान, साक्षी, लेख प्रमाण, स्वत्व), एवं साक्षियों के योग्य व्यक्तियों की चर्चा है।

'व्यवहारमातृका' या 'न्यायमातृका' में निम्नांकित २० स्मृतिकारों के मत उद्धृत हैं—

यथा—उशना, कात्यायन, बृहत्कात्यायन, कौण्डिन्य, गौतम, नारद, पितामह, प्रजापति, बृहस्पति, मनु, यम, याज्ञवल्क्य, लिखित, वृद्धवसिष्ठ, विष्णु, व्यास, शंख, वृद्धशातातप, संवर्त एवं हारीत।

जीमूतवाहन का तीसरा ग्रन्थ दायभाग सर्वश्रेष्ठ है। भारत में मिताक्षरा की तरह दायभाग भी हिन्दू व्यवहारों (कानूनों) को प्रभावित किया है। दायभाग की विषयवस्तु—दाय की परिभाषा, पूर्वजों की सम्पत्ति पर पिता का प्रभाव, पिता एवं पितामह की सम्पत्ति का विभाजन, पिता की मृत्यु के उपरान्त भाइयों में बँटवारा, स्त्रीधन की परिभाषा, श्रेणीकरण एवं निक्षेपण, असमर्थता के कारण वसीयत (दाय) एवं बँटवारे से कौन लोग पृथक् किये जा सकते हैं। पुत्रहीन के उत्तराधिकार की विधि, पुनर्मिलन, गुप्तधन प्राप्त होने पर रिक्थाधिकारियों में बँटवारा आदि।

दायभाग और मिताक्षरा में कई स्थलों पर विभेद है। दायभाग पिता की सम्पत्ति में पुत्र का अधिकार जन्म से ही नहीं मानता है। पिता की मृत्यु, पतित हो जाने पर या संन्यासी हो जाने पर-ही पुत्र दाय पर अधिकार पा सकते हैं। पिता की इच्छा से भी पिता-पुत्र में बँटवारा हो सकता है। पति के अधिकार या अधिकृत वस्तु पर विधवा का अधिकार स्वतः हो जाता है। भले ही पति और उसके भाई का संयुक्त धन हो। रिक्थाधिकार मृत व्यक्ति को पिण्डदान करने पर निर्भर रहता है, यह सगोत्रता पर, मिताक्षरा के अनुसार नहीं निर्भर रहता है।

दायभाग में स्मृतियों, महाभारत, मार्कण्डेय पुराण आदि से उद्धरण लिये गये हैं। कुछ भाष्यकारों के नाम भी उद्धृत हैं, यथा—उद्ग्राहमल्ल मनुस्मृति के टीकाकार गोविन्दराज, जितेन्द्रिय, दीक्षित, बालक, भोजदेव, विश्वरूप एवं श्रीकर।

अपरार्क

(काल–१११५ ई. से १२०० ई. के बीच)

अपरादित्य याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार थे। इनका भाष्य मिताक्षरा से बृहत् है। अनेक उद्धरणों के कारण यह भाष्य धर्मशास्त्र-सम्बन्धी एक निबन्ध माना जाता है।

अपरार्क को अपरादित्य भी कहते हैं। जीमूतवाहन-वंश के शिलाहार राजकुमार का नाम अपरादित्यदेव था। शिलाहारों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जीमूतवाहनवंशी तीन राज्य थे—(१) उत्तरी कोंकण (काणा), (२) दक्षिणी कोंकण, (३) कोल्हापुर, प्रो० काणे के अनुसार अपरार्क उत्तरी कोंकण वाले शिलाहारों में अपरादित्यदेव नाम के थे। अपने भाष्य ग्रन्थ में जो उपाधि अपरादित्य ने लिखी है, वैसी ही शिलालेखों में उपलब्ध है; यथा—नगरपुर परमेश्वर, शिलाहार नरेन्द्र, जीमूतवाहनान्वयप्रसूत, महामण्डलेश्वर आदि। अपराजित और अपरादित्य एक ही व्यक्ति थे। अभिलेखों के आधार पर अपरार्क का काल ११ वीं शताब्दी के बाद ही निर्धारित किया जा सकता है। मंखकृत 'श्रीकण्ठचरितम्' में वर्णन आया है कि कोंकणनरेश अपरादित्य ने तेजकण्ठ को कश्मीरनरेश जयसिंह (११२९–११५० ई०) की सभा में दूत बनाकर भेजा था। लगता है, कश्मीर की विद्वत्परिषद में तेजकण्ठ अपरार्क की टीका लेकर गये हों। उस समय से आज तक अपरार्क का भाष्य कश्मीर में लोकप्रिय है। अपरार्क की टीका से भी ज्ञात होता है कि व्याख्याकार कश्मीर से परिचित थे। काश्मीरी विद्वान् अपरार्क के भाष्य (निबन्ध) ग्रन्थ को आज भी आदर देते हैं। उपर्युक्त विवरण के आधार पर अपरार्क की टीका का १२वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में ही प्रणीत मानना समीचीन है।

मिताक्षरा और अपरार्क के भाष्य में बहुत समानता है। हो सकता है, अपरार्क को मिताक्षरा का ज्ञान हो। अपरार्क के भाष्य में बहुत लम्बे-लम्बे उद्धरण पुराणों एवं उपपुराणों से लिये गये हैं। मिताक्षरा में भी पुराणों से उदाहरण लिये गये हैं, किन्तु कम मात्रा में। मिताक्षरा में अधिक तार्किक दृष्टिकोण एवं विद्वत्तापूर्ण अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है। गौतम एवं वसिष्ठ के धर्मसूत्रों से लम्बे उद्धरण अपरादित्य ने ग्रहण किये हैं। शंकराचार्य एवं कुमारिलभट्ट का उल्लेख अपने भाष्य में उन्होंने किया है; किन्तु आश्चर्य है कि अपने से पूर्व के निबन्धकारों एवं टीकाकारों के नामोल्लेख करने में वे मौन क्यों हैं?

जिन पुराणों से लम्बे-लम्बे उद्धरण लिये गये हैं, उनके नाम निम्नांकित हैं—ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, भविष्यत्, मार्कण्डेय, लिंग, वाराह, वामन, विष्णु, वायु, पद्म, कूर्म मत्स्य एवं स्कन्द, उपपुराणों में—आदि, आदित्य, कालिका, देवी, नन्दी, नृसिंह, भविष्योत्तर, विष्णुधर्मोत्तर एवं शिवधर्मोत्तर। पुराणों के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों से भी बहुत उद्धरण अपरार्क ने ग्रहण किए हैं।

श्रीधर

(काल—११५० ई. से १२०० ई. के बीच)

श्रीधर दक्षिण भारत के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नागभर्ता विष्णुभट्ट था। विश्वामित्र गोत्रीय श्रीधर ने 'स्मृत्यर्थसार' नामक धर्मशास्त्र-ग्रन्थ का प्रणयन किया। अपने ग्रन्थ में उन्होंने कामधेनु, प्रदीप, अब्धि, कल्पतरु, कल्पलता, शम्भु, द्रविड़, केदार, लोल्लट, बौधायन, गोविन्दराज आदि टीकाकारों एवं निबन्धकारों के मतों की चर्चा की है। उद्धरणों के आधार पर लक्ष्मीधर के बाद श्रीधर का समय मानना उचित प्रतीत होता है। बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कल्पतरु प्रणीत हो चुका था, अतः बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध (११५०-१२०० ई०) 'स्मृत्यर्थसार' का प्रणयन-काल माना जा सकता है।

स्मृत्यर्थसार की विषय-वस्तु अन्य स्मृतियों के सदृश है, यथा—कलियुगवर्जित कर्म, संस्कार-संख्या, उपनयन की विशद चर्चा, ब्रह्मचारी के कर्तव्य, अध्याय, विवाह प्रकार, सपिण्डता एवं गोत्र-प्रवर-विवेचन, आचमन, शौच, आह्निक कर्म, दन्त-धावनादि दैनिक कर्म, श्राद्ध के उचित प्रकार, श्राद्ध काल, पदार्थ एवं श्राद्ध सम्बन्धी विस्तृत विवरण, जननाशौच, मरणाशौच संन्यास एवं विविध पापों के लिये प्रायश्चित्त तथा तीर्थ-वर्णन आदि।

अनिरुद्ध

(काल—११३०-११८० ई. के बीच)

दानसागर से ज्ञात होता है कि अनिरुद्ध बंगाल के राजा के राजगुरु थे। गंगा तट पर विहारपाटक नामक स्थान है; वहीं के वे निवासी थे। चम्पाहट्टीय ब्राह्मण कुल में उत्पन्न अनिरुद्ध अपनी प्रतिभा के बल पर ही धर्माध्यक्ष के पद पर पहुँच गये। दानसागर के प्रणयन काल में बल्लालसेन ने अनिरुद्ध से सहायता ली थी। इस तथ्य का संकेत दानसागर में है। दानसागर की रचना ११६९ ई० में हुई थी।

उस समय तक अनिरुद्ध को प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। इस आधार पर १२ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध अनिरुद्ध का काल रहा होगा।

अनिरुद्ध प्रणीत दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—'हारलता' एवं 'पितृदयिता' (कर्मोपदेशिनी पद्धति), 'हारलता में श्राद्ध-सम्बन्धी बातों की विशद् चर्चा है। 'पितृदयिता' सामवेद के अनुयायियों के लिये आचरण की शिक्षा देती है।

बल्लालसेन

(काल—११४९–१२०० ई०)

बंगाल के राजा बल्लालसेन का काल १२वीं शताब्दी रहा होगा। इनके गुरु का नाम अनिरुद्ध भट्ट था। अनिरुद्ध भट्ट की विद्वत्ता एवं पाण्डित्य से बल्लालसेन प्रभावित थे। अतः यह सोचना समीचीन है कि बल्लालसेन के ग्रन्थों पर धर्माध्यक्ष अनिरुद्ध भट्ट की छाप पड़ी है। बल्लालसेन ने स्वयं अपने ग्रन्थ 'दान सागर' में यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ का प्रणयन उन्होंने अपने गुरु की देखरेख में किया है। बल्लालसेन रचित चार प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं (१) आचारसागर (२) प्रतिष्ठासागर (३) दानसागर (४) अद्भुतसागर। मदन पारिजात एवं स्मृतिरत्नाकर ने आचारसागर का उल्लेख किया है। चण्डेश्वर ने अपने दानरत्नाकर में दानसागर के उद्धरण दिये हैं। चौथी कृति का उल्लेख निर्णयसिन्धु में है। उपर्युक्त रचनाओं में दानसागर सर्वोत्तम कृति है। इसमें महाभारत एवं पुराणों से अनेक उद्धरण लिये गये हैं। सोलह विभिन्न प्रकार के दानों का विशद् वर्णन इसमें उपलब्ध है। दानसागर से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ १०९०-९१ शताब्दी में पूर्ण हुआ। इस आधार पर भी बल्लालसेन १२वीं शताब्दी के उतरार्ध में रहे होंगे, यह सत्य प्रतीत होता है।

देवणभट्ट

(काल—११५० ई० से १२५० ई० के बीच)

स्मृतिचन्द्रिका के रचयिता देवणभट्ट कई नामों से जाने जाते हैं। देवणभट्ट के अतिरिक्त देवण, देवनन्दन एवं देवगण का उल्लेख उनकी कृतियों में उपलब्ध होता है। शुकदेव मिश्र की स्मृतिचन्द्रिका, आपदेवकृत स्मृतिचन्द्रिका एवं वामदेव भट्टाचार्य रचित स्मृतिचन्द्रिका उतनी लोकप्रिय नहीं हुई जितनी देवण की स्मृतिचन्द्रिका। कृत्यकल्पतरु के बाद उपलब्ध निबन्ध ग्रन्थों में इसका आदरपूर्ण स्थान है। दक्षिण भारत में देवण की स्मृतिचन्द्रिका धर्मशास्त्र में प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इनके पिता का नाम सोमयाजी शतादित्यभट्ट था।

आधुनिक युग में अनेक स्मृतियाँ लुप्त हो गई हैं। स्मृतिचन्द्रिका ने अनेक लुप्तप्राय स्मृतियों की सामग्रियों से हमें अवगत कराया, जैसे कात्यायन एवं बृहस्पति स्मृतिकार के रूप में जाने जाते थे किन्तु उनकी स्मृतियों का ज्ञान अधूरा था। लगभग ६०० श्लोक स्मृतिचन्द्रिका के व्यवहारकाण्ड में कात्यायन एवं बृहस्पति से लिये गये हैं।

स्मृतिचन्द्रिका में जिन निबन्धकारों का उल्लेख है, उनकी सहायता से इसके प्रणयन काल की सम्पादित तिथि ज्ञात की जा सकती है। अपरार्क, त्रिकाण्डी, देवराट् देवस्वामी, धारेश्वर, धर्मभाष्य, भवनाथ, धूर्तस्वामी, प्रदीप, धर्मदीप, मेधातिथि, मिताक्षरा, विश्वरूप, विश्वादर्श, श्रीकर, शिवस्वामी, एवं शम्भु के नाम देवण द्वारा चर्चित हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्रभाष्य, भाष्यार्थसंग्रह, मनुवृत्ति, स्मृति-भाष्कर, स्मृत्यर्थसार एवं वैजयन्ती (शब्दकोश) नामक ग्रन्थों के उल्लेख स्मृतिचन्द्रिका में पाये जाते हैं।

देवणभट्ट ने संस्कार, आह्निक, व्यवहार, श्राद्ध एवं अशौच पर जिस विशाल निबन्ध ग्रन्थ की रचना की उसमें कई निबन्धकारों के मतों का खण्डन है। भट्टजी सबसे अधिक विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा व्याख्या से प्रभावित प्रतीत होते हैं। कई स्थलों पर मिताक्षरा के मतों का विरोध भी परिलक्षित होता है।

स्मृतिचन्द्रिका की रचना निश्चित ही अपरार्क विज्ञानेश्वर एवं श्रीधर की रचना के बाद हुई होगी। देवणभट्ट ने उपर्युक्त तीनों निबन्धकारों की रचनाओं का उल्लेख किया है। १३ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हेमाद्रि ने अपने विशाल ग्रन्थ 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में स्मृतिचन्द्रिका का उद्धरण देकर यह सिद्ध कर दिया है कि यह ग्रन्थ उस काल में प्रामाणिक बन चुका था। इस प्रकार १२५० के पूर्व ही प्रणीत यह ग्रन्थ काल की दृष्टि से 'स्मृत्यर्थसार' एवं 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' के मध्य में रखा जा सकता है। ११७५ ई० से १२५० ई० के बीच देवणभट्ट का काल निर्धारित किया जा सकता है। श्री प्रतापरुद्रदेव एवं मित्रमिश्र ने अपने ग्रन्थों में स्मृति-चन्द्रिका को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है।

हरदत्त

(काल-११०० ई० से १२०० ई० के बीच)

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध निबन्धकार एवं व्याख्याकार हरदत्त अपनी टीकाओं के कारण सदा स्मरणीय रहेंगे। उनके निम्नांकित टीका-ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

(१) आपस्तम्बधर्मसूत्र पर 'उज्ज्वला' नामक व्याख्या।

(२) गौतमधर्मसूत्र पर 'मिताक्षरा' नामक व्याख्या।

(३) आपस्तम्ब गृह्यसूत्र पर 'अनाकुला' नामक भाष्य।

(४) आश्वलायन गृह्यसूत्र पर 'अनाविला' नामक भाष्य।

(५) आपस्तम्बीय मन्त्रपाठ पर भाष्य।

हरदत्त ने निबन्धकारों का उल्लेख नहीं किया है। प्रत्युत स्मृतियों से उद्धरण ग्रहण किये हैं। किन्तु इनका भाष्य ग्रन्थ विज्ञानेश्वर की 'मिताक्षरा' से प्रभावित प्रतीत होता है। विधवा का समाज में उचित सम्मान देने के लिये जितने तर्क हरदत्त ने दिये हैं उनपर विज्ञानेश्वर की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। अगर 'मिताक्षरा' (विज्ञानेश्वर कृत) का रचना काल ११०० ई० आस-पास मानते हैं तब हरदत्त का काल ११०० ई० के बाद ही रखा जा सकता है। वे ११०० ई० से १२०० ई० के बीच के व्याख्याकार एवं भाष्यकार माने जा सकते हैं।

'वीरमित्रादेय' एवं 'प्रयोग रत्न' में मित्रमिश्र एवं नारायण भट्ट ने हरदत्त की मिताक्षरा व्याख्या के उद्धरण लिये हैं। दक्षिण भारत में इनका नाम आदरपूर्वक लिया जाता है। इन्होंने अपने भाष्यों एवं टीकाओं की रचना दक्षिण भारत में ही की होगी। इसी कारण इन्होंने दक्षिण भारत के स्थानों, नदियों एवं परम्पराओं का उल्लेख किया है। उनके माङ्गलिक श्लोकों एवं भाष्य से ज्ञात होता है कि शिव के वे परम उपासक थे।

हेमाद्रि

(काल—१२५०-१३०० ई० के बीच)

दक्षिण भारत में उत्पन्न हेमाद्रि ने विशाल धर्मशास्त्रीय निबन्ध का निर्माण किया। उनकी कृति 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' प्राचीन धार्मिक कृत्यों का विश्वकोश ही माना जाता है। 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' को 'हेमाद्रि' नाम से ही अभिहित करते हैं! इनके पिता का नाम 'कामदेव' एवं दादा का नाम वासुदेव था। वत्सगोत्रोत्पन्न हेमाद्रि देवगिरि के यादव राजा महादेव के मन्त्री थे। हेमाद्रि ने स्वयं अपनी कृति में लिखा है कि वे लेखा प्रमाणों के अधिकारी थे। यादवराज महादेव के उत्तराधिकारी रामचन्द्र के काल में भी मन्त्री थे। इससे यह सिद्ध होता है कि वे १३ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (१२५०-१३०० ई०) में जीवित थे। चतुर्वर्गचिन्तामणि का प्रणयन भी १२५० के बाद ही हुआ होगा। यह ग्रन्थ १३०० ई० के पूर्व प्रकाश में

आ गया था और दक्षिणी भारत में लोकप्रिय बन गया था। विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा का उल्लेख हेमाद्रि द्वारा न किये जाने से यह अनुमान नहीं लगाया सकता कि मिताक्षरा के बाद यह प्रणीत हुआ होगा।

व्रत, दान, श्राद्ध एवं काल चतुर्वर्गचिन्तामणि जैसे महान ग्रन्थ के प्रधान खण्ड है। व्रत आदि विषयों पर इतना विशाल काय निबन्ध ग्रन्थ दूसरा नहीं है। स्मृतियों, पुराणों एवं अन्य धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों से पर्याप्त उद्धरण लेकर विषय का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करना ही उनका ध्येय था। श्राद्ध खण्ड में हेमाद्रि की विद्वत्ता का दर्शन होता है। पूर्वमीमांसा के वे महान् विद्वान् प्रतीत होते हैं।

चतुर्वर्गचिन्तामणि में निम्नांकित ग्रन्थों एवं लेखकों के उद्धरण हैं। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, न्यायमञ्जरी, त्रिकाण्डमण्डन, निर्णयामृत, पण्डितपरितोष, पृथ्वीचन्द्रोदय, बृहत्कथा, विधिरत्न, वृद्धशातातप भाष्यकार, गोविन्दराज, गोविन्द उपाध्याय, भवदेव, मदननिघण्टु, मेधातिथि, वामदेव, विश्वरूप, विश्वप्रकाश, विश्वादर्श, शम्भु, शिवदत्त, श्रीधर, सोमदत्त आदि।

कुछ लेखकों एवं ग्रन्थों के नाम बार-बार आये हैं, जैसे—अपरार्क, कर्कोपाध्याय, देवस्वामी, शंखधर, स्मृतिचन्द्रिका, स्मृतिमहार्णव, प्रकाश एवं हरिहर आदि।

चतुर्वर्गचिन्तामणि के अतिरिक्त हेमाद्रि रचित अन्य ग्रन्थ भी हैं, यथा—श्राद्धकल्प (कात्यायनश्रौतसूत्र एवं कात्यायनस्मृति पर आधारित), मुक्ताफल (बोधदेवकृत) का कैवल्यदीपक नामक भाष्य, वाग्भट के अष्टांग हृदय पर आयुर्वेद रसायन नामक टीका एवं शौनक प्रणवकल्प का भाष्य, हेमाद्रि की शैली अन्य निबन्धकारों से भिन्न है। महाराष्ट्र में मन्दिर निर्माण के क्रम में हेमाद्रिशैली का नाम अधिकतर लिया जाता है। मोड़ि लिपि के वे आविष्कर्ता माने जाते हैं।

सम्पूर्ण दक्षिण भारत में हेमाद्रि के ग्रन्थ प्रमाण रूप में उद्‌धृत होते थे। इनके बाद के धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने इनका नाम एवं इनके ग्रन्थों से उद्धरण प्रचूर मात्रा में लिये हैं।

कुल्लूक भट्ट

(काल—११५० ई० से १३५० ई० के बीच)

कुल्लूक का नाम मनुस्मृति पर टीका लिखने के कारण लोकप्रिय हुआ है। 'मन्वर्थमुक्तावली' नामक टीका संक्षिप्त एवं सारगर्भित व्याख्या मानी जाती है। मेधातिथि

एवं गोविन्दराज के भाष्यों की स्पष्ट छाप कुल्लूक की टीका में परिलक्षित होती है। मेधातिथि एवं गोविन्दराज की व्याख्याओं की आलोचना भी कुछ स्थलों पर इन्होंने की है। मन्वर्थमुक्तावली के अतिरिक्त 'स्मृतिसागर' नामक निबन्ध ग्रन्थ का प्रणयन भी इन्होंने किया था, जिसके तीन खण्ड थे—अशौच सागर, विवाद सागर, श्राद्ध-सागर। दुर्भाग्यवश अभी श्राद्धसागर के अधिकांश विषयों की जानकारी उपलब्ध नहीं है। महाभारत, महापुराणों, उपपुराणों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के अनेक उद्धरण लेकर स्मृतिसागर को इन्होंने पूर्ण किया है। हलायुध, भोजदेव, कामधेनु, शंखधर एवं मेधातिथि की चर्चा भी स्मृतिसागर में है।

कुल्लूक भट्ट बंगाल के नन्दन ग्राम के निवासी थे। इनके कुल का नाम वारेन्द्रकुल था, पिता का नाम दिवाकर भट्ट था।[1] सम्भवतः इनके पिता भी सुयोग्य विद्वान थे। कुल्लूक ने श्राद्धसागर में यह संकेत किया है कि अपने पिता के संदेश से ही इन्होंने तीन खण्डों (अशौच, विवाद एवं श्राद्ध) में स्मृतिसागर ग्रन्थ लिखा। कुल्लूक पूर्व-मीमांसा, वेदान्त, न्याय एवं व्याकरणादि शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान थे। 'मुक्तावली' नामक टीका में इनकी विद्वत्ता झलकती है। काशी में ये कुछ काल तक रहे एवं पण्डितों से धर्मशास्त्रीय विषयों पर विचार-विमर्श करने के बाद, यहीं पर भाष्य की रचना की थी।[2]

इनका काल मेधातिथि, भोजदेव, गोविन्दराज, धरणीधर, भास्कर (वेदान्तसूत्र के भाष्यकार), वामन (काशिका के लेखक) एवं विश्वरूप के बाद ही रखा जा सकता है, क्योंकि उपर्युक्त लेखकों के नामों का उल्लेख इन्होंने किया है। कुल्लूक ने कल्पतरु एवं हलायुध की चर्चा की है। इस प्रकार इनका काल ११५० ई० के बाद

१—गौडे नन्दनवासिनाम्नि सुजनैर्वन्द्येवंरेन्द्र्यां कुले।
श्रीमद्भट्टदिवाकरस्य तनयः कुल्लूकभट्टोऽभवत्॥

(मन्वर्थमुक्तावली टीका का मङ्गलश्लोक)

२—काश्यामुत्तरवाहि जह्नुतनया तीरेसमं पण्डितै—
स्तेनेयं क्रियते हिताय विदुषामन्वर्थमुक्तावली॥ १॥
मीमांसे बहुसेवितासि सुहृदस्तर्काःस्मस्ताः स्थ मे।
वेदान्ताः परमात्मबोधगुरवो यूयं मयोपासिताः॥ २॥
जाता व्याकरणानि बालसखिता युष्माभिरभ्यर्थये।
प्राप्तोऽयं समयो मनूक्तविवृतौ सहाय्यमालम्ब्यताम्॥ ३॥

(मन्वर्थमुक्तावली का मङ्गल श्लोक)

ही माना जा सकता है। वर्धमान एवं रघुनन्दन ने कुल्लूक के नामों का अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है। अतः १३५० ई० के पूर्व ही मन्वर्थमुक्तावली की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। १३ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं १४वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह टीका प्रकाश में आ गयी होगी।

श्रीदत्त उपाध्याय

(काल—१२०० ई. से १४०० ई. के बीच)

मिथिला की पवित्र भूमि पर श्री उपाध्याय का जन्म हुआ। इनके द्वारा विरचित ग्रन्थ हैं—

(१) आचारादर्श—यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा वालों के लिये आह्निक कृत्यों का वर्णन इस ग्रन्थ में है।

(२) छन्दो आह्निक—सामवेदियों के लिये आचार-ग्रन्थ है!

(३) पितृ भक्ति—यजुर्वेद के अनुयायियों के लिये श्राद्ध-सम्बन्धी ग्रन्थ है।

(४) श्राद्धकल्प—सामवेदी विद्यार्थियों को पढ़ने के लिये इसमें श्राद्ध सम्बन्धी विधि वर्णित है।

(५ समय प्रदीप—व्रतों के काल का विवेचन है।

श्रीदत्त कृत 'आचारादर्श' में आचमन, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्या, जप, ब्रह्मयज्ञ, तर्पण, नित्य देव-पूजा, वैश्वदेव, अतिथि-भोजन आदिका सम्यक् निरूपण किया गया है। दामोदर मैथिल ने 'आचारादर्श' पर 'बोधिनी' नामक टीका लिखी है। मिथिला में यह ग्रन्थ प्रापाणिक माना जाता है।

कृत्यकल्पतरु का उल्लेख श्रीदत्त ने किया है। हरिहर एवं हलायुध के नामों की भी चर्चा आयी है। चण्डेश्वर ने श्रीदत्त का नाम अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। अतः लक्ष्मीधरभट्ट एवं चण्डेश्वर के मध्य में इनका काल निर्धारित किया जा सकता है। सम्भवतः वे १२०० ई० से १४०० ई० के बीच मिथिला भूमि को सनाथ किये होंगे।

चण्डेश्वर

(काल—१३०० ई. से १३७० ई. तक)

मिथिला भूमि के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार चण्डेश्वर माने जाते हैं। इनका प्रणीत

ग्रन्थ 'स्मृतिरत्नाकर' या रत्नाकर एक विशाल धर्म शास्त्रीय निबन्ध ग्रन्थ है। इसमें सात खण्ड (अध्याय) हैं—

(१) कृत्यरत्नाकर—इसमें अनेक प्रकार के कृत्यों का वर्णन है।

२२ तरंगों में विभाजित यह खण्ड मिथिला का कर्म-शास्त्र है।

(२) दान रत्नाकर—२९ तरंगों में विभाजित यह खण्ड विभिन्न प्रकार के दानों का सविधि विवरण उपस्थित करता है।

(३) व्यवहाररत्नाकर—अनेक प्रकार के सामाजिक कानूनों का इसमें विवेचन है।

(४) शुद्धि रत्नाकर—शुद्धि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन इसमें उपलब्ध है। यह ३४ तरंगों में विभाजित है।

(५) पूजारत्नाकर—प्रार्थना एवं पूजा की विधि के लिये यह ग्रन्थ अवलोकनीय है।

(६) विवाद रत्नाकर—हिन्दू कानूनों के क्षेत्र में यह ग्रन्थ तिरहुत क्षेत्र के लिये आधार स्तम्भ है। यह १०० तरंगों में विभाजित है।

(७) गृहस्थरत्नाकर—गृहस्थों के लिये यह कर्तव्य शास्त्र है। इसमें ६८ तरंग हैं।

अन्य ग्रन्थ—

(२) धर्मशास्त्रीय विषयों के अतिरिक्त चण्डेश्वर ने ज्योतिष से सम्बन्धित ग्रन्थ 'कृत्यचिन्तामणि' की रचना की। इसमें उत्सव-संस्कारों का विशद विवेचन है।

(३) राज्य-सम्बन्धी विचारों के लिये उन्होंने राजनीति रत्नाकर की रचना की, जिसमें १६ तरंग हैं।

(४) शिववाक्यावलि।

(५) दानवाक्यावलि।

चण्डेश्वर राजा के मन्त्री थे। अपनी नीतियों के बल पर नेपाल राज्य पर विजय प्राप्त करने में वे सफल हुए। राज्य में इनका बहुत सम्मान होता था। इनके बाद के मैथिल एवं बंगाली स्मार्त निबन्धकार इनकी कृतियों से पर्याप्त लाभ उठाये। मिसरू मिश्र, वर्धमान, वाचस्पतिमिश्र तथा रघुनन्दन ने चण्डेश्वर का नाम अत्यधिक आदर के साथ लिये हैं। चण्डेश्वर ने अपने ग्रन्थों में हलायुध, कामधेनु, कल्पतरु, पारिजात एवं प्रकाश के नामों का बार-बार स्मरण किया है। प्रसंगवश कामन्दक,

कुल्लूक, पल्लव एवं श्रीकर का भी उल्लेख हुआ है। लिखित साक्ष्यों के आधार पर इनका काल १३०० ई० के निकट निर्धारित किया जाता है। १४ वीं शदी में केवल मिथिला ने ही धर्मशास्त्र के क्षेत्र में अनेक मूल्यवान् ग्रन्थ प्रस्तुत किये, जिसका भारतीय धर्मशास्त्र में आदरपूर्ण स्थान है।

हरिनाथ

हरिनाथ की सबसे प्रसिद्ध कृति 'स्मृतिसार' है। यह अप्रकाशित ग्रन्थ है। स्मृति के महत्वपूर्ण विषयों पर यह अनूठा ग्रन्थ है। हरिनाथ मूलतः कहाँ के निवासी थे, यह विवादास्पद है। गौड़लोगों के क्रिया-संस्कारों का ऐसा वर्णन हरिनाथ ने किया है कि प्रो० काणे ने लेखक को मैथिल मान लिया है। 'स्मृतिसार' से लेखक के सम्बन्ध में परिचय नहीं प्राप्त होता है।

स्मृतिसार की हस्तलिखित प्रतियों में कुछ तिथियाँ खण्डों के अन्त में पाई जाती हैं। व्यवहार खण्ड (विवाद-पद) के अन्त में सम्वत् १६१४ (सन् १५५८ ई०) उल्लिखित हैं. उसी खण्ड की दूसरी प्रति में लक्ष्मण सम्वत् ३६३ (१४६९-१४७० ई०) दिया हुआ है। सम्भवतः ये तिथियाँ हस्तलिखित ग्रन्थ के लेखन काल हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल प्रति से जिस किसी लिपिक ने अपनी प्रति लिखी होगी, उसमें भिन्न २ तिथि का होना स्वाभाविक है। फिर भी, इतना तो सिद्ध होता है कि १५वीं शदी में यह ग्रन्थ लोक प्रियता को प्राप्त कर चुका था। चण्डेश्वर की चर्चा 'स्मृतिसार' में नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि दोनों समकालीन थे। यह भी सम्भव है कि राजमंत्री चण्डेश्वर की विशाल कृति को अपेक्षा 'स्मृतिसार' जैसी छोटी कृति (स्मृतिरत्नाकर की तुलना में) की आवश्यकता समझ कर हरिनाथ ने यह ग्रन्थ लिखा हो। गणेश्वर मिश्र (चण्डेश्वर के चाचा) की चर्चा हरिनाथ ने की है, इससे यह प्रतीत होता है कि चण्डेश्वर के समकालीन हरिनाथ रहे होंगे। अतः १३०० ई० से १४०० ई० के बीच 'स्मृतिसार' की रचना का काल निर्धारित किया जा सकता है।

हरिनाथ ने ६७ धर्मशास्त्र ग्रन्थों एवं लेखकों के नामों का उल्लेख किया है, जैसे—कर्मप्रदीप, कल्पतरु, कामधेनु, कुमार, विज्ञानेश्वर, गणेश्वरमिश्र, विलम्ब, स्मृतिमञ्जूषा एवं हरिहर आदि।

वाचस्पति मिश्र, रघुनन्दन, कमलाकर, नीलकण्ठ तथा अन्य लेखकों ने अपने-अपने ग्रन्थों में हरिनाथ को उद्धृत किया है।

माधवाचार्य

(काल–१२९६ ई०–१३५६ ई० तक)

दक्षिणभारत में माधवाचार्य का नाम युगप्रवर्तक के रूप में याद किया जाता है। विजय नगर साम्राज्य के संस्थापक बुक्का के मन्त्री एवं कुलगुरु माधवाचार्य शंकराचार्य की भांति दक्षिण भारत में आदर एवं श्रद्धा के पात्र माने जाते हैं। कई ग्रन्थों की रचना करने के बाद वृद्धावस्था में ये संन्यासी हो गये थे। अभिलेख से ज्ञात होता है कि ये १४७७ ई० में संन्यासाश्रम ग्रहण किये एवं अपना नाम विद्यारण्य रखा।

माधव के पिता का नाम मायण था। अनुज का नाम सायण था। भारद्वाज गोत्र में इनका जन्म हुआ था। बोधायनीय शाखा के अन्तर्गत यजुर्वेदी ब्राह्मण परिवार के ये दोनों भाई भूषण थे। सायण ने वेदों पर भाष्य लिखा। आज भी वेदों पर सायण भाष्य का अन्यतम स्थान है।

माधवाचार्य ने 'पराशरस्मृति' पर एक भाष्य का प्रणयन किया, जिसे 'पराशरमाधवीय' कहते हैं। आचार सम्बन्धी यह महान् निबन्ध ग्रन्थ है। अपरार्क, मेधातिथि, विश्वरूपाचार्य, शम्भु, शिवस्वामी, स्मृतिचन्द्रिका, देवस्वामी, पुराणसार, प्रपञ्चसार एवं विवरणकार आदि का उल्लेख माधवाचार्य ने किया है। इनके अतिरिक्त पुराणों एवं स्मृतियों से अनेक उदाहरण लिये गये हैं।

माधवाचार्य की दूसरी कृति का नाम 'कालनिर्णय' है। इसकी विषय-वस्तु निम्नांकित है—

(१) उपोद्‌घात-- काल और उसके स्वरूप का विवेचन है।

(२) वत्सर—वर्ष एवं इसके चान्द्र, सावन, या सौर, दो अयनों, ऋतुओं एवं उनकी संख्या, चान्द्र एवं सौर मासों, मलमासों, दोनों पक्षों आदि भागों एवं विभागों का विशद वर्णन है।

(३) प्रतिपत्प्रकरण—तिथि शब्द के अर्थ, एक पक्ष की तिथियाँ, शुद्धा एवं विद्धा नामक तिथियों के दो प्रकार, रात एवं दिन के १५ मुहूर्तों का विवेचन है।

(४) द्वितीयादि-तिथि-प्रकरण—कौन सा व्रत किसी तिथि को किया जाय। प्रतिपद् से पूर्णिमा तक तिथि-व्रतों के नियमों का विवरण है।

(५) प्रकीर्णक—विभिन्न कार्यों के लिये नक्षत्र निर्णय के विषय में नियमों का प्रतिपादन किया गया है, यथा—योगों, करणों, संक्रान्ति, ग्रहणों आदि के नियम उल्लिखित हैं। कालनिर्णय प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसमें धर्मशास्त्र के ग्रन्थों का ही सारतत्व नहीं है, वरन् निबन्धकारों, पुराणों, स्मृतियों, एवं ज्योतिष ग्रन्थों के अनेक उद्धरण उपलब्ध हैं, यथा—हेमाद्रि, सिद्धान्त शिरोमणि, वटेश्वर-सिद्धांत, मुहूर्तविधानसार, कालादर्श एवं वशिष्ठरामायण।

विश्वेश्वर भट्ट
(काल—१३५० से १४५० ई. के बीच)

मदनपाल राजा थे, किन्तु विद्यानुरागी एवं संस्कृत प्रेमी थे। अपने राज्य काल में संस्कृत के उत्कृष्ट विद्वानों को राज दरबार में रखकर उच्चकोटि के ग्रन्थों को लिखने को ओर उन्होंने प्रेरित किया था। दिल्लो के उत्तर यमुना नदी के समीप काष्ठा (कठ) के टाक राजवंश में मदनपाल नामक राजा हुए थे। उनके आश्रित विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थ मदनपाल के नाम से हो प्रसिद्ध हुए होंगे। जिस प्रकार राजाभोज ने अनेक विद्वानों से अपने दरबार को मण्डित किया था, उसी भाँति मदनपाल के विद्वानों की मण्डली से कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये।

मदनपारिजात, स्मृतिमहार्णव, (मदनमहार्णव) तिथिनिर्णयसागर एवं स्मृति-कौमुदी इन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त सूर्यसिद्धान्तविवेक (ज्योतिष ग्रन्थ), मदनविनोद, निघण्टु नामक औषधि ग्रन्थ एवं आनन्द संजीवन नामक नृत्य, संगीत, राग एवं रागिनी पर एक महान् ग्रन्थ की रचना की गई।

मदनपारिजात में कई स्थल स्पष्ट निर्देश देते हैं कि इस ग्रन्थ के लेखक विश्वेश्वर भट्ट थे। यह भी ज्ञात होता है कि वे द्रविड़ देश के निवासो थे। याज्ञवल्क्य स्मृति पर 'मिताक्षरा' व्याख्या की सुबोधिनी नामक टीका विश्वेश्वर भट्ट प्रणीत मानी जाती है। इस ग्रन्थ से यह प्रमाणित होता है कि दक्षिण भारत छोड़कर वे उत्तर भारत में आ गये थे। काशी के प्रचलित व्यवहार शास्त्र के एक प्रामाणिक लेखक श्री भट्ट माने जाते हैं।

मदनपारिजात में हेमाद्रि की चर्चा आई है, अतः १३ वीं शताब्दी के बाद का ग्रन्थ प्रतीत होता है। रघुनन्दन ने मदनपारिजात की चर्चा की है, उससे यह प्रमाणित होता है कि १६ वीं शदी के प्रारम्भ में ही यह ग्रन्थ लोक प्रियता को

प्राप्त कर चुका था। अतएव १५वीं शदी में 'मदन पारिजात' का रचना-काल निश्चित किया जा सकता है। विश्वेश्वर भट्ट का काल भी १४वीं शदी का उत्तरार्द्ध एवं १५ वीं शदी का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया जाना चाहिए।

मदनपारिजात नव स्तवकों में विभाजित है, यथा—(१) ब्रह्मचर्य धर्म, (२) गृहस्थधर्म (३) आह्निककृत्य, (४) गर्भाधानादि संस्कार (५) जननामरणाशौच (६) द्रव्यशुद्धि (७) श्राद्ध (८) दायभाग (९) प्रायश्चित्त। विज्ञानेश्वर की 'मिताक्षर' से लेखक ने दायभाग की पर्याप्त सामग्री ली है। अपरार्क, देवणभट्ट (स्मृति चन्द्रिका), गोविन्द राज, गांगेय, चिन्तामणि नारायण, मण्डन मिश्र, मेधातिथि, रत्नावलि एवं सुरेश्वर के अतिरिक्त कई ग्रन्थों के नाम उद्धृत हैं, यथा—आचार-सागर, स्मृतिमंजरी एवं स्मृतिमहार्णव।

मदनरत्न

(काल—१३५० से १४५० ई. के बीच)

दिल्ली के राजाओं में महिपालदेव का नाम आता है। उन्हीं के कुल में छठी पीढ़ी में मदन सिंह हुए थे। मदनसिंह के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मदनरत्न' या 'मदन-रत्नप्रदीप' या 'मदनप्रदीप' उपलब्ध है। इसके रचयिता मदनसिंह स्वयं नहीं थे, बल्कि वे प्रेरक एवं व्यवस्थापक थे। 'मदनरत्न' की हस्तलिखित प्रति में यह संकेत मिलता है कि शक्तिसिंह के पुत्र मदनसिंह के आश्रय में यह ग्रन्थ प्रणीत हुआ था। रत्नाकर, गंगाधर, विश्वनाथ एवं गोपीनाथ जैसे उत्कृष्ट विद्वानों को अपने आश्रय में रखकर 'मदनरत्न' नामक निबन्ध ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। इसमें सात भाग या प्रकरण (उद्योत) हैं, यथा—(१) समयोद्योत (२) आचारोद्योत (३) व्यव-हारोद्योत (४) प्रायश्चित्तोद्योत (५) दानोद्योत (६) शुद्धयुद्योत (शुद्धि-उद्योत) (७) शान्त्युद्योत। मदनरत्न के अन्तिम भाग में लेखक का नाम विश्वनाथ कहा गया है।

हेमाद्रि की चर्चा मदनरत्न में आयी है, अतएव १३०० ई० के उपरान्त ही यह ग्रन्थ लिखा गया होगा। नारायण भट्ट, कमलाकर भट्ट, नीलकण्ठ एवं मित्रमिश्र आदि १६ वीं एवं १७ वीं शताब्दी के लेखक 'मदनरत्न' से उद्धरण लिए हैं। इस प्रकार १३०० ई० से १५०० ई० के बीच 'मदनरत्न' का निर्माण-काल निर्धारित किया जा सकता है।

शूलपाणि

(काल—१३५० ई० से १४५० ई० के बीच)

बंगाल में तीन धर्मशास्त्र-वेत्ताओं के नाम आदर पूर्वक लिये जाते हैं। जोमूत-वाहन, शूलपाणि एवं रघुनन्दन को त्रिमूर्ति भी कह सकते हैं। तीनों ने अपने ग्रन्थों एवं विचारों से बंगाल को समृद्ध किया, यह निर्विवाद है।

शूलपाणि की रचनायें निम्नांकित हैं—

(१) दीपकलिका—'याज्ञवल्क्यस्मृति' की संक्षिप्त टाका है। (२) एकादशी-विवेक, (३) तिथि-विवेक, (४) दत्तक-विवेक, (५) दुर्गोत्सव प्रयोग-विवेक, (६) दुर्गोत्सव-विवेक, (७) दोलयात्राविवेक, (८) प्रतिष्ठाविवेक, (९) प्रायश्चित्त-विवेक, (१०) रासयात्राविवेक, (११) व्रतकालविवेक, (१२) शुद्धिविवेक, (१३) श्राद्ध-विवेक, (१४) सक्रान्तिविवेक, (१५) सम्बन्धविवेक। ऐसा प्रतीत होता है कि संख्या २ से १६ तक के ग्रन्थ एक ही विशाल निबन्ध ग्रन्थ के अध्याय या भाग (प्रकरण) हैं। सम्भवतः सबको मिलाकर 'स्मृतिविवेक' के नाम से कोई एक ही ग्रन्थ प्रचलित रहा होगा। उपर्युक्त ग्रन्थों से भिन्न 'स्मृतिविवेक' नामक ग्रन्थ नहीं था। बंगाल एवं भारत के अन्य भागों में 'श्राद्धविवेक' का स्थान अन्य श्राद्ध सम्बन्धी ग्रन्थों से अत्यधिक है। इस पर गोविन्दानन्द, आचार्य चूडामणि एवं श्रीनाथ कृत कई भाष्य भी हैं।

बंगाल के साहुडियाल ब्राह्मण कुल में शूलपाणि का जन्म हुआ था। चण्डेश्वर की चर्चा इन्होंने अपने ग्रन्थों में की है। काल माधव एवं रत्नाकर का उल्लेख भी उन्होंने किया है; अतः १३५० ई० के बाद ही उनका समय निश्चित किया जा सकता है। रुद्रधर एवं वाचस्पति ने शूलपाणि के ग्रन्थों से उद्धरण लिए हैं, अतः वे १४५० ई० के पूर्व ही निबन्धकार हो सकते हैं।

रुद्रधर

(काल—१४२० ई. से १४६५ ई. के बीच)

मिथिला ने अनेक धर्मशास्त्रकारों को अपनी भूमि पर पनपने का अवसर दिया है। मध्यकालीन धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों में रुद्रधर का नाम न केवल मिथिला वरन् सम्पूर्ण भारत में श्रद्धा के साथ याद किया जाता है।

रुद्रधरकृत श्राद्धविवेक, शुद्धिविवेक एवं वर्षकृत्य नामक ग्रन्थों का भारतीय समाज में पर्याप्त आदरपूर्णस्थान है। रत्नाकर, पारिजात, मिताक्षरा, हारलता, शुद्धिप्रदीप, आचारादर्श, शुद्धिविम्ब, स्मृतिसार एवं हरिहर तथा श्रीदत्त उपाध्याय के नामों का उल्लेख रुद्रधर ने अपने शुद्धिविवेक में किया है। 'श्राद्धविवेक' एवं 'वर्षकृत्य' के आधार पर उत्तर भारत में श्राद्ध एवं व्रतपर्वोत्सव आदि कृत्य किये जाते हैं। शुद्धिविवेक में तीन परिच्छेद हैं तो श्राद्धविवेक में चार परिच्छेद हैं।

उपर्युक्त कृतियों में शूलपाणि के मतों का उल्लेख है, रुद्रधर की कृतियों की चर्चा, वाचस्पति मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'चिन्तामणि' में की है। शूलपाणि का प्रारम्भिक काल यदि चौदहवीं शताब्दो का अन्तिम दशक मा-ा जाय तब पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध रुद्रधर का आरम्भिक काल समीचीन प्रतीत होता है। वाचस्पति मिश्र ने रुद्रधर की चर्चा की है। अतः निबन्धकार वाचस्पति मिश्र के पूर्व रुद्रधर का काल निर्धारित करना तर्कसंगत प्रतीत होता है। अनुमानतः धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणेता वाचस्पतिमिश्र १५ वीं शताब्दी के मध्यकाल से १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच के निबन्धकार माने जाते हैं। इस प्रकार रुद्रधर का काल वाचस्पति की कृतियों के पूर्व माना जाता है। सम्भवतः वे १४५० ई० से १४६० ई० के बीच जीवित रहे होंगे।

मिसरू मिश्र

(काल- १४१९ ई. से १४७० ई. के बीच)

मिथिला के प्रसिद्ध धर्मशास्त्रकारों में मिसरू मिश्र की गणना की जाती है। इन्होंने 'विवादचन्द्र' नामक प्रसिद्ध निबन्धग्रन्थ का प्रणयन किया। विवादचन्द्र में ऋणदान, न्यास, साझा, दायविभाग, स्त्री-धन, अभियोग, उत्तर, प्रमाण एवं साक्षी आदि व्यवहारों की विशद् चर्चा है।

अनेक स्मृतियों के उद्धरणों से भरपूर यह ग्रन्थ चण्डेश्वर कृत 'रत्नाकर' से अधिक प्रभावित प्रतीत होता है। मिसरू मिश्र ने 'स्मृतिसार', 'पारिजात' एवं भवदेव तथा प्रकाश का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। मिथिला के कामेश्वर वंश के भैरव सिंह के अनुज कुमार चन्द्रसिंह की स्त्री राजकुमारी लछिमा देवी का उल्लेख श्री मिश्र ने किया है। लक्ष्मी देवी (लछिमा देवी) की आज्ञा से ही मिसरू मिश्र ने अपना ग्रन्थ लिखा, ऐसा उल्लेख आया है। राजाओं की नामावली

में चन्द्र सिंह भवेश के प्रपौत्र दिखलाये गये हैं। चण्डेश्वर ने राजा भवेश के आश्रय में राजनीति पर एक ग्रन्थ लिखा था, जिसका काल १३१४ ई० बताया जाता है। साक्ष्यों के आधार पर चन्द्रसिंह का विवाह-काल १४५० ई० के आसपास निर्धारित किया जाता है। मिसरू मिश्र ने 'विवादचन्द्र' की रचना विवाहकाल के बाद ही की होगी। मिथिला का यह प्रामाणिक व्यवहार-शास्त्र माना जाता है।

वाचस्पति मिश्र

(काल—१४२० ई. से १५२५ ई. के बीच)

मिथिला में वाचस्पति मिश्र नाम के दो व्यक्ति हुए होंगे। महान् नैयायिक वाचस्पति मिश्र वैदिक एवं बौद्ध दार्शनिकों की संघर्ष-परम्परा की उपज माने जाते हैं। इन्होंने बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के मतों का खण्डन करने के लिये 'न्याय-वार्तिकतात्पर्यटीका' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसका रचना काल ८४१ वि० सम्वत् माना जाता है।[1] इस महान् दार्शनिक ने 'सांख्यकारिका' पर 'सांख्यतत्व-कौमुदी, योगदर्शन के व्यासभाष्य पर तत्त्ववैशारदी, वेदान्त दर्शन के शंकर भाष्य पर "भामती" टीका लिखकर भारतीय दर्शन को अमूल्यनिधि प्रदान किया। कई साक्ष्यों के आधार पर वाचस्पति मिश्र का काल ८४१ वि० (८९८ ई०) माना जाता है।

दूसरे वाचस्पति मिश्र महाराजाधिराज हरिनारायण के सलाहकार (पारिषद) थे। इन्होंने चिन्तामणि नाम का कोई बृहद् ग्रन्थ लिखा होगा जिसके ११ खण्ड उपलब्ध हैं। हेमाद्रि के 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' से प्रभावित होकर न केवल मिथिला वासियों के लिये वरन् भारतीय संस्कृति के उपासकों एवं सनातनधर्मियों के लिये धर्मशास्त्र के विभिन्न पहलुओं पर एक विशाल निबन्ध-ग्रन्थ का प्रणयन वाचस्पति मिश्र ने किया होगा। 'चिन्तामणि' का प्रत्येक खण्ड एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यथा—(१) आचारचिन्तामणि (२) शुद्धिचिन्तामणि (३) कृत्यचिन्तामणि (४) तीर्थ-चिन्तामणि (५) द्वैतचिन्तामणि (६) विवादचिन्तामणि (७) नीतिचिन्तामणि (८) व्यवहारचिन्तामणि (९) शूद्राचारचिन्तामणि (१०) आह्निकचिन्तामणि (११) श्राद्धचिन्तामणि। इन ग्रन्थों में वाजसनेयी लोगों के लिये आह्निक कृत्यों पर

१—न्यायसूची निबन्धोयमकारी सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसु (८९८) वत्सरे॥
(न्यायसूची-निबन्ध)

प्रामाणिक ग्रन्थ आचारचिन्तामणि माना जाता है। विशेषकर मिथिला या उत्तरी भारत में प्रसिद्ध उत्सवों का निरूपण 'कृत्यचिन्तामणि' में हुआ है। गंगा, पुरी, (पुरुषोत्तम क्षेत्र) प्रयाग, वाराणसी एवं गया आदि के तीर्थस्थलों का विवेचन तीर्थचिन्तामणि में प्राप्त होता है। कानूनी रीतियों का विशद् विवेचन व्यवहार-चिन्तामणि में लेखक ने किया है। इस ग्रन्थ के चार अध्याय—भाषा, उत्तर, क्रिया एवं निर्णय का प्रतिपादन करते हैं।

'चिन्तामणि' में निर्णयों पर विस्तार से विवेचन नहीं किया गया है। वाचस्पति मिश्र की लेखनी ने कई निर्णय ग्रन्थों को जन्म दिया है, यथा—तिथिनिर्णय, शुद्धि-निर्णय, महादाननिर्णय एवं द्वैतनिर्णय आदि। श्री मिश्रकृत सात महार्णवों का उल्लेख भी मिलता है, यथा—कृत्यमहार्णव, आचारमहार्णव विवादमहार्णव, व्यवहारमहार्णव, दानमहार्णव, शुद्धिमहार्णव एवं पितृपक्षमहार्णव।

निबन्धकार वाचस्पति मिश्र ने चण्डेश्वर कृत 'रत्नाकर' एवं रुद्रधर कृत 'वर्षकृत्य' श्राद्धविवेक एवं शुद्धिविवेक का यथास्थान अपने ग्रन्थों में स्मरण किया है। अतएव चण्डेश्वर एवं रुद्रधर के बाद ही दूसरे वाचस्पति पैदा हुए होंगे। अगर निबन्धकार वाचस्पति मिश्र को ही दार्शनिक वाचस्पति माना जायेगा तो काल-निर्णय की गम्भीर समस्या उत्पन्न होगी। दार्शनिकवाचस्पति उदयनाचार्य के पूर्व हुए थे। उदयनाचार्य ने अपने 'लक्षणावली' नामक ग्रन्थ में उसका रचनाकाल ९८४ ई० (९०६ शकाब्द) का उल्लेख किया है।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ९८४ ई० के पूर्व हुए थे। चण्डेश्वर, रुद्रधर एवं हेमाद्रि के ग्रन्थों से उद्धरण लेकर 'चिन्तामणि' से युक्त ग्रन्थों के रचयिता वाचस्पति मिश्र निश्चित ही दूसरे व्यक्ति प्रतीत होते हैं। कृत्यकल्पतरु, मिताक्षरा एवं स्मृतिसमुच्चय के उल्लेख का भी वाचस्पति के ग्रन्थों में यथास्थान दर्शन होता है। अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर इनको निश्चित ही दार्शनिक वाचस्पति से भिन्न व्यक्ति कहा जा सकता है।

वाचस्पति मिश्र के निबन्ध ग्रन्थों की चर्चा 'क्रियाकौमुदी' के प्रणेता गोविन्दा-नन्द एवं स्मृतितत्त्व के रचयिता रघुनन्दन के द्वारा की गई है। गोविन्दानन्द एवं रघुनन्दन १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे, अतः १५ वीं शताब्दी में ही

१—तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

वाचस्पति मिश्र की जीवनलीला व्यतीत हुई होगी एवं महत्वपूर्ण निबन्ध ग्रन्थों का प्रणयन हुआ होगा।

नृसिंहप्रसाद

धर्मशास्त्र के निबन्ध ग्रन्थों में 'नृसिंहप्रसाद' (भगवान नृसिंह की कृपा का फल) का विशिष्ट स्थान है। इस महान् निबन्ध ग्रन्थ के रचयिता का नाम भी नृसिंहप्रसाद हो सकता है। नृसिंह भगवान् की वन्दना से शुरू होने के कारण भी यह ग्रन्थ उपर्युक्त नाम से विख्यात हुआ होगा। १२ खण्डों में यह महाग्रन्थ विभाजित है—यथा—(१) संस्कारसार (२) आह्निकसार (३) श्राद्धसार (४) कालसार (५) व्यवहारसार (६) प्रायश्चित्तसार (७) कर्मविपाकसार (८) व्रतसार (९) दानसार (१०) शान्तिसार (११) तीर्थसार (१२) प्रतिष्ठासार, धर्मशास्त्रसम्बन्धी १२ विषयों पर प्रभूत सामग्रियों का दिग्दर्शन कराने के कारण यह ग्रन्थ धर्मशास्त्र का विश्वकोश भी कहलाता है।

इस महाग्रन्थ के प्रणेता ने अपने सम्बन्ध में अत्यन्त न्यून परिचय दिया है। देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) एवं दिल्ली के राजाओं के कुछ नाम उल्लिखित हैं। इससे ज्ञात होता है कि लेखक देवगिरि के शासक राम एवं दिल्ली के शासक निजामशाह के समकालीन थे। संस्कारसार के अन्त में शुक्लयजुर्वेद की याज्ञवल्क्यीय शाखा के भारद्वाजगोत्रीय वल्लभपुत्र दलपति या दलाधीश का उल्लेख आया है। यह सन्देहास्पद है कि १२ सारों (विभागों) में लिखित धर्मशास्त्रसम्बन्धी निबन्धग्रन्थ के लेखक का नाम दलपति है या नृसिंह प्रसाद है। दौलताबाद के किसी दल (क्षेत्र विशेष अर्थात् जिला के समकक्ष) के अधिपति होने के कारण ये दलपति कहलाते हों या किसी दल (विभाग) के अध्यक्ष होने के नाते दलाधीश कहलाते होंगे।

'नृसिंहप्रसाद' में अधिक उद्धरण विश्वेश्वरभट्ट कृत 'मदनपारिजात' एवं माधवाचार्यकृत 'पराशरमाधवीय' से लिए गए हैं। विश्वेश्वरभट्ट' एवं माधवाचार्य १४ वीं शताब्दी (उत्तरार्द्ध) के निबन्धकार माने जाते हैं, अतः इनके उपरान्त १५ वीं शताब्दी में ही नृसिंहप्रसाद की रचना हुई होगी, यह तर्क संगत प्रतीत होता है। अहमद निजामशाह का राज्यकाल १४९० से १५०८ ई० एवं उसके पुत्र बुरहान निजामशाह का राज्यकाल १५०८ से १५३३ ई० तक मानते हैं, इन राजाओं के समकालीन होने पर भी नृसिंहप्रसाद १६ वीं शताब्दी के प्रतीत होते हैं। शंकर भट्ट एवं नीलकण्ठ ने 'नृसिंहप्रसाद' को प्रामाणिक मानकर उद्धरण ग्रहण किये हैं।

प्रतापरुद्रदेव

(काल—१४९७–१५३९ ई० तक शासनकाल)

'सरस्वतीविलास' के प्रणेता राजा प्रतापरुद्रदेव' उड़ीसा प्रान्तान्तर्गत कटक नगरी के राजा थे। इन्होंने १४९७ ई० में राज्य-शासन धारण किया एवं १५३९ ई० तक शासन किया। राजा स्वयं धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का अध्येता था। अनेक स्मृतियों के अध्ययनोपरान्त ही यह ग्रन्थ १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रणीत हुआ होगा। दक्षिण भारत में इस ग्रन्थ का विशेष आदर है। अनेक विद्वान् 'मिताक्षरा' के बाद इसी ग्रन्थ का पर्याप्त आदर करते हैं।

गोविन्दानन्द

(काल–१४७५ ई. से १५४० ई. तक)

बंगाल के मिदनापुर मण्डलान्तर्गत 'बाग्री' नामक ग्राम को सुशोभित करनेवाले गोविन्दानन्द के पिता गणपति भट्ट थे। बंगाल में अपनी विद्वता के कारण गणपति भट्ट 'कवि कंकणाचार्य' के उगनाम से ख्याति प्राप्त किये। वे परम वैष्णव थे।

वैष्णव धर्म में गोविन्दानन्द की भी आस्था थी। इन्होंने 'क्रियाकौमुदी' नामक निबन्धग्रन्थ का प्रणयन किया था, जिसके कई खण्ड थे। 'दानकौमुदी', 'शुद्धिकौमुदी' 'श्राद्धकौमुदी' एवं 'वर्षक्रियाकौमुदी' आदि लोक-प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। व्रतों एवं तिथियों के सम्बन्ध में 'वर्षक्रियाकौमुदी' का आश्रय, आज भी बंगाल एवं उत्तर भारत की जनता लेती है।

श्रीनिवास एवं शूलपाणि के महत्वपूर्ण ग्रन्थ शुद्धिदीपिका एवं तत्त्वार्थकौमुदी (क्रमशः) के भाष्यकार गोविन्दानन्द १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे। यह काल-अनुमान उनके ग्रन्थ 'शुद्धिकौमुदी' में वर्णित शक सम्वत् पर आधारित है। लेखक ने ४३ वर्षों (१४१४-१४५७ शकाब्द) के मलमासों का निरूपण किया है। १४५७ शकाब्द (१५३५ ई०) के बाद या इस तिथि के निकट ही क्रियाकौमुदी की रचना पूर्ण हुई होगी। अत: इनका काल १४७५ से १५४० तक माना जाना उचित प्रतीत होता है। रघुनन्दन ने गोविन्दानन्द की चर्चा कर प्रमाणित कर दिया है कि रघुनन्दन की रचना के पूर्व क्रियाकौमुदी की रचना हो चुकी थी।

रघुनन्दन

बंगाल ने निबन्धग्रन्थों के क्षेत्र में बहुमूल्य योगदान दिया है। मिथिला की भाँति बंगाल ने भी हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए प्राचीन स्मृतियों, सामाजिक एवं

व्यक्तिगत कृत्यों को नवजीवन एवं नया आयाम प्रदान किया। आज धर्मशास्त्र का जो स्वरूप हमारे समक्ष है, उसको सजाने एवं सँवारने में बंगालवासी धर्मशास्त्र-वेत्ताओं ने जो स्तुत्य प्रयास किये, वह अविस्मरणीय है। धर्मशास्त्रसम्बन्धी विषयों पर एक महान् तथा विशाल निबन्ध ग्रन्थ के प्रणेता रघुनन्दन उन्हीं धर्मशास्त्र-ज्ञाताओं में अन्यतम हैं।

रघुनन्दन कृत 'स्मृतितत्त्व' धर्मशास्त्र के २८ तत्त्वों पर सम्यक् प्रकाश डालता है। अपने काल तक प्रचलित एवं प्रसिद्ध सभी धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थों के मनन के पश्चात् 'स्मृतितत्त्व' की रचना हुई होगी। स्मृतिशास्त्र के उद्भट विद्वान् को वंगवासियों ने 'स्मार्त' या 'स्मार्तभट्टाचार्य' के नाम से स्मरण किया है।

स्मृतितत्त्व के अतिरिक्त गयाश्राद्धपद्धति, दायभाग पर भाष्य, तीर्थतत्त्व, रासयात्रापद्धति, त्रिपुष्करशान्ति-तत्त्व एवं द्वादशतत्त्व आदि ग्रन्थों की रचना करके रघुनन्दन धर्मशास्त्र-साहित्य में अमर हो गये।

रघुनन्दन को चैतन्य महाप्रभु का समकालीन माना जाता है। ऐसी लोकोक्ति बंगाल में प्रचलित है कि वासुदेव सार्वभौम के शिष्य रघुनन्दन एवं चैतन्य महाप्रभु थे। नव्य न्याय के संस्थापकों में वासुदेव सार्वभौम का नाम लिया जाता है। इनके दोनों शिष्य वैष्णवधर्म के रक्षक एवं प्रचारक माने जाते हैं। चैतन्य महाप्रभु का काल १५वीं शताब्दी के अन्तिम दशक से आरम्भ होता है, जो १६वीं शताब्दी के तृतीय चरण तक रहा। इस आधार पर रघुनन्दन का काल भी १६वीं शताब्दी के तृतीय चरण तक मानना समीचीन प्रतीत होता है।

नारायण भट्ट

(काल—१५१३ ई०–१५७० ई० तक)

रामेश्वर भट्ट मूलतः प्रतिष्ठान (पैठन) निवासी थे। काशी की महिमा से आकृष्ट होकर वे यहाँ आये। अपने वैदुष्य से काशी की विद्वन्मण्डली में उन्होंने अन्यतम स्थान प्राप्त कर लिया। न केवल दक्षिण भारत के विद्वानों को उन पर गर्व था, वरन् काशी के पण्डितों की वे नाक थे। ऐसे उद्भट विद्वान् के पुत्र नारायण भट्ट का जन्म १५१३ ई० में हुआ था। पैतृक परम्परा से इन्होंने कई शास्त्रों का ज्ञान अर्जित किया। पिता की कीर्ति में इन्होंने चारचाँद लगा दिये। दाक्षिणात्य विद्वानों के शिरोमणि नारायण भट्ट जगद्गुरु की पदवी से विभूषित किये

गये थे। काशी के विद्वान् भट्ट परिवार को ही नहीं वरन् दाक्षणो विद्वानों को भी सम्यक् आदर प्रदान करने लगे।

संस्कारों पर नारायण भट्ट की पुस्तक 'प्रयोग-रत्न' है, जिसका काशी की धार्मिक व्यवस्था में, (गर्भाधान से विवाह तक) श्रद्धापूर्वक प्रयोग किया जाता है। 'अन्त्येष्टिप्रयोग', 'अन्त्येष्टिपद्धति' या 'और्ध्वदैहिकपद्धति' का भी काशी में तथा काशी से बाहर भी प्रयोग में लाया जाता है। इनकी 'त्रिस्थलीसेतु' में तीन महान् तीर्थों (काशी, प्रयाग एवं गया) का विशद् विवेचन प्राप्त होता है। 'तिथिनिर्णय' में तिथियों का सम्यक् विवेचन है। नारायण भट्ट के पुत्र रामकृष्ण भट्ट भी संस्कृत के महान् विद्वान् थे, जिन्होंने 'कर्मनिर्णय' की रचना की थी।

टोडरानन्द

(काल—१५०० ई०–१५८९ ई० के बीच)

अवध मण्डलान्तर्गत लहरपुर ग्राम के एक खत्री परिवार में टोडरमल का जन्म हुआ था। अपनी योग्यता के बल पर ही वे मुगल सम्राट अकबर के वित्तमंत्री बनाये गये। टोडरमल की कृति का नाम 'टोडरानन्द' है। यह विशाल ग्रन्थ लेखक की बहुमुखी प्रतिभा का परिचय प्रदान करता है। निःसन्देह यह महान् ग्रन्थ धन एवं धर्म सम्बन्धी व्यवहार, ज्योतिष एवं औषधि पर प्रामाणिक कृति मानी जाती है। इस ग्रन्थ के कई खण्ड हैं। खण्डों का नाम 'सौख्य' है। आचारसौख्य, व्यवहारसौख्य, दानसौख्य, विवाहसौख्य, श्राद्धसौख्य, ज्योतिःसौख्य, विवेकसौख्य, प्रायश्चित्तसौख्य एवं समयसौख्य आदि प्रसिद्ध विभाग इस महाग्रन्थ के पठनीय हैं। 'टोडरानन्द' के प्रणेता की धार्मिक भावना का स्पष्ट चित्र उनके धर्मग्रन्थ में उपलब्ध होता है। वे शिव के उपासक थे। साथ ही साथ सम्राट् पूजा (सम्राट अकबर) के हिमायती भी थे। व्यवहार शब्द का अर्थ व्यवहार के लिये समय, स्थान, अभियोग, उत्तर, प्रतिनिधि, प्रत्याकलित आदि की विवेचना, राजा के कर्तव्य आदि का निरूपण टोडरमल ने किया है।

जिस भाँति धर्म एवं अर्थ सम्बन्धी नीतियों के लिये यह ग्रन्थ मननीय एवं पठनीय है, उसी भाँति ज्योतिष एवं औषधि से सम्बन्धित तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करने के लिये यह महाग्रन्थ अवलोकनीय है। इस महान् लेखक की मृत्यु १५८९ ई० में लाहौर नगर में हुई।

नन्दन या नन्द पण्डित

(काल—१५६० ई० से १६३० ई० के बीच)

नन्दपण्डित दक्षिण भारतीय थे। काशी की महिमा से आकृष्ट होकर वे यहाँ आये। यहाँ पर विद्वानों के मत-मतान्तरों से वे प्रभावित हुए तथा अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किये।

(१) विज्ञानेश्वर की 'मिताक्षरा' टीका पर संक्षिप्त टीका लिखी जिसे 'प्रमिताक्षरा' या 'प्रतीताक्षरा' कहते हैं।

(२) विष्णुधर्मसूत्र पर केशव-वैजयन्ती नामक भाष्य की रचना नन्दपण्डित ने अपने आश्रयदाता मधुरा (मदुरा) निवासी केशव नायक के कहने पर की थी। इसी कारण वैजयन्ती टीका का नाम केशव वैजयन्ती पड़ा। इस टीका (भाष्य) ग्रन्थ में नन्दपण्डित कृत ६ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, यथा—प्रमिताक्षरा, श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका, दत्तकमीमांसा एवं विद्वन्मनोहरा। सहारनपुर के सहगल कुलोद्भव परमानन्द भी आश्रयदाताओं में एक थे। उनकी प्रेरणा से नन्दपण्डित ने 'श्राद्धकल्पलता' की रचना की थी। लेखक ने अपनी कृतियों में रचना-स्थान का वर्णन किया है। लगता है अपने भिन्न-भिन्न आश्रयदाताओं के यहाँ रहकर उन्होंने ग्रन्थों की रचना की होगी। पराशरस्मृति पर इन्होंने 'विद्वन्मनोहरा' नामक टीका लिखी थी, जिस पर माधवाचार्य की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है।

नन्दपण्डित कृत सभी पुस्तकों में दत्तकमीमांसा का स्थान सर्वोपरि है। यह ग्रंथ आजकल भी अद्वितीय है। अँग्रेजी शासन काल में गोद लेने के विवादों पर इसी पुस्तक के आधार पर निर्णय दिया जाता था। दत्तकसम्बन्धी हिन्दुओं के सभी प्रामाणिक वचनों का समाहार एवं सरल विवेचन इस ग्रंथ में सुलभ है।

'स्मृतिसिन्धु' नामक पुस्तक की रचना हरिवंश शर्मा के आग्रह पर हुआ। इसके अतिरिक्त भी नन्दपण्डित की कृतियाँ हैं। जिनका सही ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया है। मण्डलीक महोदय के अनुसार नन्दकृत १३ पुस्तकें हैं।

कमलाकर भट्ट

(धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन काल—१६०८ ई०—१६४५ ई० तक)

रामेश्वर भट्ट ने जिस भट्ट कुल की नींव काशी में डाली थी, उस कुल में अनेक रत्न जन्म लिये। नारायण भट्ट के पुत्र रामकृष्ण भट्ट उनके पुत्र कमलाकर भट्ट हुए।

(कमलाकर भट्ट के पूर्वज)

गोविन्द भट्ट
|
रामेश्वर भट्ट
|
नारायण भट्ट
|
रामकृष्ण भट्ट — शंकर भट्ट

रामकृष्ण भट्ट: दिनकर भट्ट, कमलाकर भट्ट, लक्ष्मण भट्ट

शंकर भट्ट: नीलकण्ठ

दिनकर भट्ट
|
विश्वेश्वर भट्ट
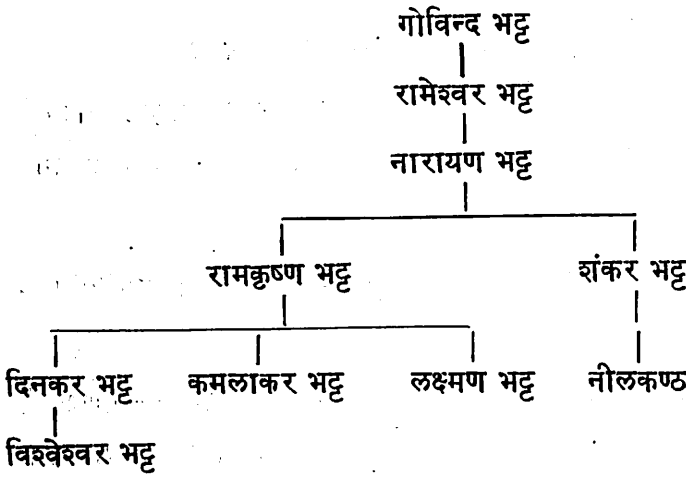
कमलाकर भट्ट की पहुँच सभी शास्त्रों में थी। तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्याकरण, मीमांसा (कुमारिल एवं प्रभाकर दोनों शाखाओं में) वेदान्त, साहित्य, धर्मशास्त्र एवं वैदिक कर्मकाण्ड आदि सभी विषयों के वे उद्भट विद्वान् माने जाते थे। इन्होंने २० या २२ ग्रंथों की रचना की थी। उनमें से प्रसिद्ध ग्रंथ हैं—निर्णयसिन्धु, दानकमलाकर, पूर्तकमलाकर, शान्तिरत्न, शूद्रकमलाकर, व्रतकमलाकर, प्रायश्चित्तरत्न, विवादताण्डव, बह्वृचाह्निक, गोत्रप्रवरदर्पण, कर्मविपाकरत्न, सर्वतीर्थविधि एवं काव्यप्रकाश की टीका आदि।

'शूद्रकमलाकर' शूद्रों के धर्म पर प्रकाश डालता है। इस ग्रन्थ को 'शूद्रधर्मतत्त्व' या 'शूद्रधर्मतत्त्वप्रकाश' भी कहते हैं। वैदिक मन्त्रों की जगह पौराणिक मंत्रों से किस भाँति शूद्र अपने धार्मिक कृत्य को सम्पादित करें, इसका सम्यक् विवेचन इस ग्रंथ में है। शूद्रों के लिये विष्णुपूजन, अन्य देवताओं की पूजा-विधि, व्रत एवं उपवास आदि वर्णित हैं। पूर्त कार्यों (जनकल्याणकारी कर्मों) में दान देना विहित है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, शिशुनिष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्ण, कर्णवेध, विवाह नामक संस्कार शूद्रों के हो सकते हैं। पंचमहायज्ञ (वाजसनेयी शाखा के अनुसार), शुद्ध (बिना पकाये अन्न द्वारा), आह्निककृत्य, जन्म-मरण पर अशुद्धि, अन्त्येष्टि क्रिया।

कमलाकर भट्ट प्रणीत 'निर्णयसिन्धु' सर्वविदित है। इस महान् ग्रन्थ का प्रणयन करने के पूर्व प्रणेता ने १०० से अधिक स्मृतियों एवं ३०० से अधिक धर्मशास्त्र के निबन्धकारों की कृतियों का अध्ययन एवं मनन किया होगा। प्रायः हिन्दुओं के सभी धार्मिक कृत्यों में यह निर्णायक ग्रंथ माना जाता है। कहीं-कहीं

इतने वचन एक प्रश्न के निर्णय में दिये गये हैं कि संशय उत्पन्न हो जाता है, फल-स्वरूप इसको कुछ विद्वान् संशय-सिन्धु के नाम से पुकारते हैं। फिर भी तिथि आदि से लेकर सभी महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्रीय विषयों में निर्णायक वचनों का यह अपूर्व संग्रह है। इसकी रचना १६१२ ई० में हुई थी, इसके उपरान्त ही अन्य ग्रंथ कमलाकर द्वारा लिखे गये। अतः इनका काल १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक माना जा सकता है।

नीलकण्ठ भट्ट

(रचना काल–१६२० ई०–१६५० ई०)

नारायण भट्ट के पुत्र शंकर भट्ट एवं उनके कनिष्ठ पुत्र का नाम नीलकण्ठ था। मूलतः वे मीमांसा के विद्वान् थे। मीमांसा पर उन्होंने 'शास्त्रदीपिका', विधि रसायन दूषण, मीमांसा, बालप्रकाश नामक, ग्रंथ लिखे हैं। उन्होंने 'द्वैतनिर्णय', 'धर्म-प्रकाश' या 'सर्वधर्मप्रकाश' नामक ग्रन्थों का प्रणयन कर धर्मशास्त्र का क्षेत्र समृद्ध किया। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ 'भगवन्तभास्कर' है। इसमें १२ मयूख (प्रकरण) हैं। संस्कारमयूख, आचारमयूख, कालमयूख, श्राद्धमयूख, व्यवहारमयूख, दानमयूख, उत्सर्गमयूख, प्रतिष्ठामयूख, प्रायश्चित्तमयूख, शुद्धिमयूख, शान्तिमयूख। नीलकण्ठ ने अपने आश्रयदाता का नाम बुन्देल सरदार भगन्तदेव लिखा है, जो भरेह के सेंगर-वंशी कुलभूषण थे। इन्हीं के सम्मान में या आश्रय में 'भगवन्त भास्कर' नामक विशाल निबन्धग्रंथ लिखा गया। सम्पूर्ण भारत में विशेषकर पश्चिमी भारत में इनके ग्रंथ अधिक प्रचलित हैं। यमुना और चम्बल नदी के संगम के निकट 'भरेह' अवस्थित है। इस भूमि पर नीलकण्ठ ने जो ग्रंथ लिखा उनका सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक महत्व है। निबन्धों की शैली सरस एवं तर्कपूर्ण है। इन्होंने अपने पूर्व के निबन्धकारों का उल्लेख किया है। श्लोकवार्त्तिक, मिताक्षरा एवं चतुर्वर्गचिन्तामणि आदि महत्वपूर्ण ग्रंथों का सहारा इन्होंने लिया है परन्तु ये अन्धानुकरण नहीं किये हैं।

कमलाकर भट्ट इनके चचेरे भाई थे। शंकर भट्ट के कनिष्ठ पुत्र नीलकण्ठ का जन्म कमलाकर भट्ट के बाद हुआ होगा, इसी कारण कमलाकर के प्रति इन्होंने आदर एवं श्रद्धा के शब्दों का प्रयोग किया है। जब निर्णयसिन्धु का रचनाकाल १६१२ ई० है, तब नीलकण्ठ की कृतियाँ इसके कुछ काल उपरान्त ही प्रकाश में आयी होंगी। व्यवहारमयूख का संक्षिप्त संस्करण 'व्यवहारतत्त्व' की एक प्रतिलिपि

मिली है, जिसपर १६४४ ई० अंकित है। अतः इसके पूर्व सभी मयूखों की रचना हो गयी होगी। इनकी कृतियों का प्रणयन काल १६१५ से १६५० ई० तक माना जा सकता है।

मित्रमिश्र

(रचनाकाल—१६०० ई० से १६४० ई० तक)

ओरछा नरेश वीरसिंह का शासनकाल १६०२ ई० से १६२७ ई० तक माना जाता है। इन्हीं के आदेश से मित्रमिश्र ने 'वीरमित्रोदय' नामक महान् निबन्ध-ग्रन्थ की रचना की। ११ खण्डों में प्रकाशित यह ग्रन्थ मध्यकालीन सभी धर्मशास्त्रीय निबन्धग्रन्थों से विशाल है। आकार-प्रकार में हेमाद्रि के 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' से भी यह बड़ा है। इस विशाल ग्रन्थ के खण्डों को 'प्रकाश' कहा जाता है। लक्षणप्रकाश, व्रतप्रकाश, व्यवहारप्रकाश, तीर्थप्रकाश एवं पूजाप्रकाश आदि महत्वपूर्ण खण्ड हैं। इस निबन्धग्रन्थ में प्रायः सभी धर्मशास्त्रीय विषयों का समावेश कर दिया गया है। अपने से पूर्व प्रणीत सभी स्मृतियों एवं निबन्धकारों के धर्मशास्त्रीय निबन्धों का अवलोकन एवं अध्ययन करने के उपरान्त ही मित्रमिश्र ने उनके मतों का उद्घाटन किया है। धर्मशास्त्र का इतना बड़ा निबन्धग्रन्थ अनेक कृत्यों में प्रामाणिक माना जाता है। वाराणसी के विद्वानों ने मित्रमिश्र की कृतियों से अनेक उद्धरण प्रमाण-स्वरूप ग्रहण किये हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति पर इन्होंने भाष्य भी लिखा है जिसमें अनेक मतों का सामञ्जस्य है।

ग्वालियरमण्डलान्तर्गत 'गोपाचल' नामक ग्राम के निवासी पं० परशुराम मिश्र के पुत्र पं० मित्र मिश्र थे। पं० हंस मिश्र के वे पौत्र थे। ओरछा के राजपूत शासक वीर सिंह के शासन-काल के आधार पर मित्रमिश्र की कृतियों का प्रणयन-काल १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है।

अनन्तदेव

(रचनाकाल—१६७० ई० से १७०० ई० तक)

महाराष्ट्र की भूमि पर जन्म लेकर अनन्तदेव ने अपने आश्रयदाता राजा बाजबहादुर के संरक्षण में 'स्मृतिकौस्तुभ' नामक महान् निबन्ध ग्रन्थ को रचना की थी। इस निबन्ध में सात प्रकरण हैं। प्रकरणों को भी 'कौस्तुभ' के नाम से अभिहित किया गया है। प्रत्येक कौस्तुभ में अनेक अध्याय हैं, जिन्हें 'दीधिति' (किरण)

कहा गया है। (१) संस्कारकौस्तुभ, (२) आचारकौस्तुभ, (३) राजधर्मकौस्तुभ, (४) दानकौस्तुभ, (५) उत्सर्गकौस्तुभ, (६) प्रतिष्ठाकौस्तुभ, (७) तिथि एवं संवत्सर कौस्तुभ, इन सात निबन्ध ग्रन्थों में 'संस्कारकौस्तुभ' का भारत में बहुत आदर है। षोडश संस्कार, मासिकधर्म, पुण्याहवाचन, नान्दीश्राद्ध, मातृकापूजन, नारायणबलि, नागबलि, कृच्छ्र आदि प्रायश्चित्तों का विवरण, गोद सम्बन्धी कृत्य, दत्तक का उत्तराधिकार, जन्म से लेकर विवाह तक के कृत्यों का निरूपण जैसे—विवाहाध्याय (दीधिति) में सपिण्ड, गोत्र, प्रवर पर विचार, उचित काल, वाग्निश्चय, सीमन्तपूजन, मधुपर्क, कन्यादान, विवाहहोम, सप्तपदी एवं दम्पति प्रवेश पर होम का सम्यक् विवेचन इस ग्रन्थ में है।

अनन्तदेव ने इस ग्रन्थ के निर्माण में अपने से पूर्व के सभी महान् निबन्धकारों की रचनाओं से मदद ली है। विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा), अपरार्क, हेमाद्रि, विश्वेश्वर भट्ट, विश्वनाथ, गंगाधर, रत्नाकर एवं गोपीनाथ के निबन्ध ग्रन्थों से पर्याप्त सामग्री ली गई है। प्रसिद्ध सन्त एकनाथ के वंशज होने का उल्लेख अनन्तदेव ने स्वयं किया है। बाजबहादुर एवं एकनाथ के कालों के आधार पर १७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध इनको रचनाओं का काल माना जा सकता है।

नागोजि भट्ट

व्याकरण एवं धर्मशास्त्र पर साधिकार लेखनी चलाने वाले १८वीं शताब्दी के विद्वानों में नागोजि भट्ट अग्रणी हैं। महाराष्ट्र के ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ था। उत्तर भारत में इन्होंने अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन किया। प्रयाग के निकट शृंगवेरपुर के राजा विशेन वंशी राम के संरक्षण (आश्रय) में नागोजि भट्ट (काले) ने लगभग ३० ग्रन्थों का प्रणयन किया। धर्मशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों में आचारेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, तिथीन्दुशेखर, श्राद्धेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तसार संग्रह, सापिण्ड्य-दीपक या सापिण्ड्यनिर्णय एवं अशौच निर्णय आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। नागोजि भट्ट प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजि दीक्षित के पौत्र के शिष्य थे।

बालम्भट्ट या बालकृष्ण भट्ट

याज्ञवल्क्य पर विज्ञानेश्वर ने 'मिताक्षरा' टोका लिखी, मिताक्षरा पर बालम्भट्ट ने एक विशाल भाष्य की रचना कर दी। इस भाष्य को 'लक्ष्मीव्याख्यान' भी कहते हैं। सम्भवत: लक्ष्मो बालम्भट्ट की माँ थी; माँ से इतनो प्रेरणा मिली कि ग्रन्थ उसो के नाम से विख्यात हो गया। यह भी सम्भव है कि लक्ष्मी पायगुण्डे ने

इस ग्रन्थ का कुछ अंश लिखा हो। लक्ष्मी श्री वैद्यनाथ पायगुण्डे की पत्नी, महादेव की पुत्री एवं बालकृष्ण या बालम्भट्ट की माँ मानी जाती हैं। आचार खण्ड के अन्त में लेखिका के रूप में लक्ष्मी या उमा (महादेव की पुत्री) का उल्लेख है। वैद्यनाथ पायगुण्डे नागोजि भट्ट के शिष्य थे। उन्होंने 'मञ्जूषा' नामक व्याकरण का अनमोल ग्रन्थ लिखा था। अतः लक्ष्मी एवं वैद्यनाथ पायगुण्डे द्वारा अपूर्ण लिखा हुआ ग्रन्थ बालकृष्ण द्वारा पूर्ण किया गया या बालम्भट्ट ने अपने माता-पिता के प्रति आदर भाव से इसका नाम 'लक्ष्मी-व्याख्यान' रख दिया हो। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध विद्वान् बालम्भट्ट काशी में रहकर शिक्षा ग्रहण किये थे। उनका काल १७३० ई० से १८२० ई० के बीच माना जाता है।

काशीनाथ उपाध्याय

'धर्मसिन्धु' के प्रणेता काशीनाथ उपाध्याय शोलापुर मण्डलान्तर्गत पंढरपुर के बिढोवा के परम भक्त थे। इनका जन्म स्थान रत्नागिरि जिले में गोलावली नामक ग्राम था। मराठी कवि मोरोपन्त इनके समधी थे। मोरोपन्त जी के द्वितीय पुत्र से इन्होंने अपनी पुत्री आवड़ी की शादी की थी। काशीनाथ जो बाबापाध्ये के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने निर्णयसिन्धु के मूल श्लोकों को त्यागकर गद्य में उसके भावों को 'धर्मसिन्धु' में व्यक्त किया है। सर्वसाधारण के लिये भी यह ग्रन्थ उपादेय है। इसकी रचना १७९० ई० में हुई थी। अपने जीवन के अन्तिम काल में बाबा पाध्ये संन्यासी बन गये थे। इनकी मृत्यु १८०५-६ ई० में हुई। सम्पूर्ण भारत में विशेषकर दक्षिण भारत में इनके ग्रन्थ को विशेष आदर दिया जाता है। धर्मसिन्धु या धर्माब्धिसार के अतिरिक्त इनके प्रणीत दूसरे ग्रन्थ प्रायश्चित्तशेखर एवं विट्ठल-ऋग्मन्त्रसारभाष्य हैं।

जगन्नाथ तर्कपञ्चानन

१७५७ के बाद बंगाल पर अंग्रेजों का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ने लगा। अंग्रेजों ने १७६४ के बाद बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा का शासम सूत्र सम्हाला, उस समय हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न व्यवहार शास्त्रों (कानून-ग्रन्थों) के आधार पर एक प्रामाणिक निबन्धग्रन्थ की आवश्यकता पड़ी। अंग्रेज गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्स के शासनकाल में विवादार्णव सेतु (१७७३) की रचना हुई। १७८९ में सर विलियम जोन्स के संरक्षण में 'विवादसारार्णव' का प्रणयन हुआ। इसके प्रणेता त्रिवेदी सर्वोरु शर्मा धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा के उत्कृष्ट विद्वान् थे! ९ खण्डों में

यह ग्रन्थ प्रकाशित है। अंग्रेजी काल की उत्कृष्ट उपलब्धि जगन्नाथतर्कपंचाननकृत 'विवादभंगार्णव' है, यह ग्रन्थ भी सर विलियम जोन्स के संरक्षण में प्रणीत हुआ। तर्कपंचानन के पिता श्री रुद्रतर्कवागीश संस्कृतसाहित्य के उद्भट विद्वान् थे। दर्शन के क्षेत्र में भी इनकी बड़ी ख्याति थी। बंगाल में 'विवादभंगार्णव' को प्रामाणिक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ माना जाता है। १११ वर्षों तक जीवित रहकर १८०६ ई० में जगन्नाथतर्कपंचानन ने अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया।

उपसंहार

धर्मशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत करना, सूत्रकारों, स्मृतिकारों, निबन्धकारों एवं भाष्यकारों का परिचय देना एक दुष्कर कार्य है। प्रमुख धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों एवं उनके प्रणेताओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने का यह एक लघुप्रयास है। अभी भी अनेक स्मृतियों एवं निबन्धग्रन्थों का परिचय उपस्थित नहीं किया जा सका है। सबका समावेश करने पर एक विशाल ग्रन्थ बन जायेगा।

भारतीय संस्कृति के उन्नायक सूत्रकार, स्मृतिकार एवं निबन्धकार भारतीय जीवन का पथ-प्रदर्शन सहस्रों वर्षों से कर रहे हैं। इस देश के सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक मूल्यों के निर्माण में हमारे धर्मशास्त्रकारों का योगदान अविस्मरणीय है। सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में भारत ने उन्नति के उत्तुंग शिखर तक अपनी ध्वजा फहराई है। इसका श्रेय हमारे धर्मशास्त्रकारों को दिया जाता है, जिन्होंने व्यक्ति को आदर्श बनाकर समाज को आदर्श बनाने की कल्पना की थी। व्यक्तिगत नियमों, विचारों एवं स्वत्वों को समाज पर नहीं थोपा। फलस्वरूप स्वतंत्र चिन्तन शक्ति का विकास हुआ, व्यक्ति की गरिमा बढ़ी एवं समाज की मर्यादा बढ़ी। जीवन के विविध पक्षों को समुन्नत एवं मर्यादित करने को जो विधियाँ धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध हैं, वे हमारी संस्कृति की संजीवनी शक्ति हैं।

●

चौथा अध्याय

धर्म के भेद

भारत के प्राचीन महर्षियों ने धर्म को संकुचित अर्थ में नहीं लिया। धर्म एक मत या सम्प्रदाय का द्योतक नहीं था प्रत्युत वह जीवन का राजमार्ग या आचरण की संहिता माना जाता रहा है। ऋषियों ने वेदों पर आधारित धर्म को सनातन धर्म से सम्बोधित किया था। जो शाश्वत है, वही सनातन है। जीवित धर्मों में यह सबसे पुराना है। भारतवर्ष ने धर्म को मानव जीवन के साथ जोड़ दिया। यह मनुष्य का नियामक बन गया। मनुष्य की प्रत्येक स्थिति और अवस्था में धर्म ने प्रकाश बिखेरा है। सुख हो, दुःख हो, समृद्धि हो या विपत्ति हो, लौकिक एवं पारलौकिक विचारधारा हो सर्वत्र धर्म के नियम हैं। मानव से सम्बन्धित सभी क्रियाकलापों को धर्म ने इस तरह व्याप्त कर लिया है कि सम्पूर्ण जीवन ही धर्ममय बन गया है। सम्पूर्ण कर्मों को नियमन करने वाले धर्म को ऋषियों ने दो भागों में बाँटा—(१) श्रौत (२) स्मार्त।

(१) श्रौतधर्म में उन कृत्यों एवं संस्कारों का समावेश था, जो वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित हैं। मत्स्य पुराण के अनुसार—

दाराग्निहोत्र सम्बन्धमिज्या श्रौतस्य लक्षणम्। १४४।३०

अर्थात् तीन पवित्र अग्नियों की प्रतिष्ठा, पूर्णमासी एवं आमावस्या के यज्ञ, सोमकृत्य आदि श्रौत धर्म में आते हैं।

(२) स्मार्त धर्म में स्मृति प्रतिपादित विषय आते हैं। यथा—

स्मार्तो वर्णाश्रमाचारो यमैश्च नियमैयतः॥

—मत्स्यपुराण १४४-३०-३१

वर्णाश्रम एवं यम-नियमों की व्याख्या करने वाला धर्म स्मार्तधर्म कहलाता है।

महाभारत के अनुसार धर्म के तीन भेद हैं—

वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः।
शिष्टाचीर्णः परः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः॥

—अनुशासनपर्व० १४१।६५

एवं

वेदोक्तः परमोधर्मः धर्मशास्त्रेषु चापरः।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम् ॥

बौधायनधर्मसूत्र में भी तीन ही भेद बताये गये हैं। (१) वेद प्रतिपादित धर्म (२) स्मृति या धर्मशास्त्र प्रतिपादित धर्म (३) शिष्टजनों का शिष्टाचार। याज्ञवल्क्यस्मृति पर मिताक्षरा टीका के अनुसार स्मार्तधर्म छः प्रकार के होते हैं।

अत्र च धर्मशब्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः।
तद्यथा— वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रमधर्मो
गुणधर्मो निमित्तधर्मः साधारणधर्मश्चेति।[1]

विज्ञानेश्वर के अनुसार धर्म छः प्रकार के होते हैं।

(१) वर्णधर्म—**ब्राह्मणो नित्यं मद्यं वर्जयेदित्यादिः** (जैसे ब्राह्मण को कभी सुरापान नहीं करना चाहिए)।

(२) आश्रमधर्म—**आश्रमधर्मोऽग्नीन्धनभैक्षचर्यादिः** (जैसे ब्रह्मचारी को भिक्षा माँगना एवं दण्ड ग्रहण करना चाहिए)।

(३) वर्णाश्रमधर्म—**पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्येत्येवमादिः** (जैसे ब्राह्मण ब्रह्मचारी को पलाश वृक्ष का दण्ड ग्रहण करना चाहिए)।

१—भविष्य पुराण में—

स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः।
वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेको आश्रमाणामतः परम् ॥ १ ॥
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणे नैमित्तिकस्तथा।
वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते ॥ २ ॥
वर्णधर्मः (स) उक्तस्तु यथोपनयनं नृप।
यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते ॥ ३ ॥
स खल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षा दण्डादिको यथा।
वर्णत्वमाश्रमत्वञ्च योऽधिकृत्य प्रवर्तते ॥ ४ ॥
स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्जीया मेखला यथा।
यो गुणेन प्रवर्त्तेत गुणधर्मः स उच्यते ॥ ५ ॥
यथा मूर्द्धाभिषिक्त (स्य) प्रजानां परिपालनम्।
निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते ॥ ६ ॥
नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ॥

यहाँ "अधिकार" शब्द धर्म के लिये आया है।

(४) गुणधर्म—**शास्त्रीयाभिषेकादि गुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापरिपालनादिः** (जैसे—राजा को प्रजापालन करना चाहिए)।

(५) निमित्तधर्म—**विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तम्।** (जैसे -वर्जित कार्य करने पर प्रायश्चित्त करना)।

(६) साधारणधर्म—**साधरणधर्मोऽहिंसादिः। न हिंस्त्यात्सर्वभूतानीत्या-चाण्डालं साधारणधर्मः** (जो नियम एवं आचरण सबके लिये समान हो जैसे अहिंसा आदि, साधु वृत्तियां।

मनुस्मृति में धर्म के दो भेद बताये गये हैं।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं धर्मवैदिकम्॥ ८८॥
इह वाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तमिति कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वन्तु निवृत्तमभिधीयते॥ ८९॥

—मनुस्मृति-१२ अध्याय

इस प्रकार '**धर्मश्च द्विविधः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च।**' प्रवृत्तिमूलक एवं निवृत्तिमूलक दो प्रकार के धर्म माने जाते हैं। लोक वा परलोक के किसी विषयानन्द की कामना से जो वैदिक कर्म किया जाता है, वह प्रवृत्त धर्म है एवं उक्त विषयानन्द की कामना के बिना ब्रह्मज्ञान के लिये जो वैदिक कर्म किया जाता है, वह निवृत्तधर्म है।

यथा मनुस्मृति में वर्णित है—

अकामोपहतं नित्यं निवृत्तं च विधीयते।
कामतस्तु कृतं कर्म प्रवृत्तमुपविश्यते॥८९॥ (पाठान्तर)
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥

—(मनु० अ० १२)

प्रवृत्त कर्म से देवताओं के समान सुख मिलता है। निवृत्ति कर्म का अभ्यास करने से शरीर के पाञ्चभौतिक तत्त्वों से मुक्ति (मोक्ष) मिल जाती है।

वराह पुराण भी फल के आधार पर धर्म को दो भागों में वर्णन करता है।

प्रवृत्तिसंज्ञके धर्मे फलमभ्युदयो मतः।
निवृत्तिसंज्ञके धर्मे फलं निःश्रेयसं मतम्॥

प्रवृत्ति नामक धर्म का लौकिक एवं पारलौकिक सुख और दुःखों का अभाव फल है, तथा निवृत्ति नामक धर्म का फल मोक्ष है। प्रवृत्ति धर्म भी दो प्रकार का होता है।

प्रवृत्ति लक्षणोऽपि द्विविधः।
सामान्यधर्मो विशेष धर्मश्चेति ॥

अर्थात् सामान्य धर्म जो सबके लिए अनुकरणीय है एवं दूसरा विशेष धर्म जो वर्णाश्रमों के लिए निर्धारित नियमों पर आधारित है।

इन विविध विचारों को देखकर ही वीरमित्रोदय में मित्रमिश्र ने धर्म को साधारण एवं असाधारण दो भागों में बाँटना उचित समझा।

साधारण धर्म या सामान्य धर्म की चर्चा हमारे प्राचीन साहित्य में बहुत उपलब्ध है। धर्मशास्त्र ग्रन्थों, पुराणों एवं महाभारत द्वारा प्रतिपादित सामान्य धर्म असाधारण या विशेष धर्म की पृष्ठभूमि तैयार करता है। इसलिए विशेष धर्म की व्याख्या करने से पहले सामान्य धर्म का निरूपण अभी आवश्यक है।

बृहस्पति स्मृति में सामान्य धर्म है—

दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम्।
अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्वसाधारणानि च ॥

विष्णु की उक्ति है—

क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रिय संयमः।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥

महाभारत के अनुसार—

सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषो ह्रीः क्षमाऽऽर्जवम्।
ज्ञानं दमो दया ध्यानमेवं धर्मः सनातनः ॥
आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥
स्वेषु दारेषु सन्तोषः शौचं नित्यानसूयता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप ॥

अर्थात् सत्य, दम, तप, शौच, सन्तोष, लज्जा, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, दम, दया और ध्यान ये सनातन यानी सामान्य शाश्वत धर्म हैं। तथा क्रूरता न करना, अहिंसा, अप्रमाद, भोग के योग्य अन्नादि पदार्थों का विभाग कर जितना देना उचित है उसको उतना देना (संविभागिता) श्राद्धकर्म, अतिथि सत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी पत्नी मात्र से सन्तोष, शौच, सदा अनसूया, आत्मज्ञान और तितिक्षा (क्षमा) ये सभी साधारण धर्म कहे जाते हैं।

देवल स्मृति ने भी साधारण धर्म के उपर्युक्त तथ्यों को दुहराया है—

शौचं दानं तपः श्रद्धा गुरुसेवा क्षमा दया।
विज्ञानं विनयः सत्यमिति धर्मसमुच्चयः ॥

बृहस्पति स्मृति में साधारण धर्म की अलग-अलग व्याख्या की गई है—यथा

दया— **परे व बन्धुवर्गे व मित्रे द्वेष्टरि वा सदा।**
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता ॥

अपने बन्धु या अन्य जन, मित्र अथवा शत्रु पर विपत्ति पड़ने की दशा में उनकी रक्षा करने को दया कहते हैं।

क्षमा— **बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चौत्पातिके क्वचित्।**
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्त्तिता ॥

अर्थात् बाह्य अथवा मानस या विद्युत् आदि उत्पात से कृत किसी दुःख की दशा में क्रोध व हिंसा न करने को क्षमा कहते हैं।

अनसूया— **न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।**
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता ॥

अर्थात् गुणों या गुणियों की निन्दा नहीं करना और अल्प गुणवालों की भी स्तुति करना, दूसरों के दोषों को न कहना—इसको अनसूया कहते हैं।

शौच— **अधर्मपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः।**
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्त्तितम् ॥

अर्थात् अधर्म का त्याग, अच्छे व्यक्तियों का साथ और अपने धर्म पर आरूढ़ रहने को शौच कहते हैं।

अनायास— **शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मण।**
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासः स उच्यते ॥

जिस अच्छे काम से भी शरीर को कष्ट हो उसको अधिक न करने को अनायास कहते हैं।

मङ्गल— प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्त विवर्जनम्।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

शुभ कार्यों को सदा करना और अशुभ कर्मों का सदा त्याग करना ही मंगल कहलाता है।

अकार्पण्य— स्तोकादपि च दातव्यम दीनेनान्तरात्मना।
अहन्यहनि यत्किञ्चिदकार्पण्यं हि तत्स्मृतम्॥

थोड़ी वस्तु में से भी प्रतिदिन कुछ न कुछ हर्षपूर्वक दान देने को अकापया कहते हैं।

अस्पृहा— यथोत्पन्नेन सन्तोषः कर्तव्यो ह्यर्थवस्तुना।
परस्याचिन्तयित्वार्थं साऽस्पृहा परिकीर्तिता॥

भाग्यवश जो भी वस्तु मिले उससे सन्तोष करना, परकीय वस्तु की ओर चिन्ता न करना अस्पृहा कहलाती है।

सामान्यधर्म स्वरूपम्—

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं—सभी प्राणियों के लिए हितकर सत्य वचन है।

मनसो दमनं दमः—मनको वश में करना दम है।

तपः स्वधर्मवर्तित्वं—अपने धर्म पर स्थिर रहना तप है।

शौचं संकरवर्जनम्—अशुद्ध वस्तु से सम्बन्ध न रखना शौच है।

सन्तोषो विषयत्यागो—विषय का त्याग सन्तोष है।

ह्रीरकार्यनिवर्तनम्—अनुचित कार्यों से निवृत्त रहना ह्री है।

क्षमाद्वन्द्वसहिष्णुत्वम्—कलह होने पर भी सहना क्षमा है।

आर्जवं समचित्तता—सब में सम दृष्टि रखना आर्जव है।

ज्ञानं तत्वार्थसम्बोधः—आत्मतत्त्व का बोध ज्ञान है।

शमश्चित्त प्रशान्तता—मन का चंचल न होना शम है।

दयाभूतहितैषित्वम्—सभी प्राणियों का हितैषी होना दया है।

ध्यानं निर्विषयं मनः—मन को विषय रहित बनाना ध्यान है।

सामान्य जनों के लिये धर्मशास्त्रों में जो सदाचार की शिक्षा दी गई है, वह कहीं कम है, कहीं अधिक है। देवल ने तप की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—'व्रतोपवास नियमैः शरीरोत्तापनं तपः' व्रत, उपवास एवं अन्य नियमों से शरीर को शुष्क करना ही तप है। "प्रत्ययो धर्मकार्येषु सदा श्रद्धेत्युदाहृता" धर्मकार्यों पर सदा विश्वास करना श्राद्ध है।

विगर्हातिक्रमक्षेप हिंसा बन्धव वधात्मनाम्।
अन्यमन्यु समुत्थाने दोषाणां मर्षणं क्षमा ॥ देवल

क्रोध के कारण, दूसरे के द्वारा की गई निन्दा, अनादर, क्षेप, हिंसा, बंध (बन्धन) एवं वध आदि दोषों को सहना क्षमा है।

दया की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

स्वदुःखेष्विव कारुण्यं परदुःखेषु सौहृदात्।
दयेति मुनयः प्राहुरनुक्रोशं च जन्तुषु ॥

अपने दुःख के समान पराये दुःख में भी करुणा करने को मुनि लोग दया कहते हैं।

देवल ने सदाचार की शिक्षा देते हुए कहा है कि—

श्रुत्वा धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

यह धर्म का सर्वस्व (धर्म तत्त्व) सुना जाय और सुनकर उस पर स्थिर रहा जाय। जो कार्य अपने लिए प्रतिकूल है, उसको अन्य के लिए नहीं करना चाहिए।

गीता भी यही कहती है—

"आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः"

दक्ष की विचारधारा भी समानार्थक ही है—

तथैवात्मा परस्तद्वद्द्रष्टव्यः सुखमिच्छता।
सुखदुःखानि तुल्यानि यथाऽऽत्मनि तथापरे ॥

सदाचार की शिक्षा देते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य भी कहते हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥

वयोबुद्ध्यर्थवाग्वेषश्रुताभिजनकर्मणाम् ।
आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा ॥
—याज्ञ० आचार० १२२-१२३

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, दान, दम (मन को वश में करना) दया और क्षमा ये सबके लिए धर्म हैं। अपनी अवस्था, बुद्धि, धन, वचन, वेष, अध्ययन, कुल और कर्म के अनुसार सीधी और धूर्तता रहित चेष्टा से मनुष्य को रहना चाहिए।

मनु की भी उक्ति समानार्थक है—

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह ॥ मनु० ४।१८

बृहस्पति भी इसी तरह की शिक्षा देते हैं :—

यथा विद्या यथा कर्म यथा वित्तं यथा वयः ।
ज्ञानं तथैव वर्तेत वेषादिभिरनुद्धतः ॥

बृहदारण्यकोपनिषद् सबके लिए दम, दान और दया तीन ही शिक्षा देता है।[1] यही उपनिषद् व्यवहार की शिक्षा देते समय उदात्त गुणों से भरपूर उपदेश देता है—

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमयेति बृ. उ. १।३।२।

"असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो" सत्य एवं धर्म का इसमें अद्भुत समन्वय है।

वसिष्ठ ने चुगलखोरी, ईर्ष्या, घमण्ड, अहंकार, अविश्वास, कपट, आत्म-प्रशंसा, दूसरों को गाली देना, प्रवञ्चना, लोभ, अपबोध, क्रोध, प्रतिस्पर्धा छोड़ने को सभी आश्रमों का धर्म बताया है। आपस्तम्ब आदि कई धर्मसूत्रकारों ने गुणों एवं अवगुणों की सूची लिख दिए हैं। मनु एवं याज्ञवल्क्य सदाचार या सामान्य धर्म का निरूपण करते समय करीब एक समान ही शिक्षा देते हैं।

1. तस्मादेतत्त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति (बृ. उ. ५।२।३)

याज्ञवल्क्य कहते हैं—यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा इत्यादि कर्मों का यही परम धर्म है कि योग (बाह्य विषयों से अपने चित्त की वृत्तियों का निवारण) से आत्मा को प्रत्यक्ष करना[1]। यह सभी धर्मों में उत्तम धर्म है। देश, काल, जाति का प्रभाव इस पर नहीं पड़ता, परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का यही कारण है।

मनु ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी (तत्त्वज्ञान), विद्या, सत्य, अक्रोध ये दश धर्म के लक्षण बताये हैं।[2]

महाभारत तो धर्मसम्बन्धी चर्चाओं से भरा हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि वश, सत्य, दम, शौच, मृदुता, ह्री, अचापल्य, दान, तप, ब्रह्मचर्य ये मेरे शरीर हैं। अहिंसा, समता, क्षमा, तप, शान्ति, अद्वेष ये गुण मिलन द्वार हैं।[3] कई स्थलों पर इन गुणों की चर्चा है कि सद्‌गुणों से प्रभु की अद्‌भुत कृपा पायी जा सकती है। उपर्युक्त आचरणों से मनुष्य स्वयं प्रभुमय बन सकता है। महाभारत की ही उक्ति है--

शमो दमस्तथा धैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम्।
यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः॥

अर्जुन को धर्म की शिक्षा देते हुए कृष्ण कहते हैं—

अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः।
अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः।
प्रजनः स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
एवं धर्मप्रधानेष्टं मनु स्वायंभुवोऽब्रवीत्।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन कौन्तेय ! परिपालय॥

---

१. इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

२. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनुस्मृति ६।९२

३. वशः सत्यं दमः शौचं मार्दवं ह्रीरचापलम्।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतत्तनवो मम॥
अहिंसा समता क्षान्ति स्तपः शान्तिरमत्सरः।
द्वारण्येतानि मे विद्धि प्रियोह्यसि सदा मम॥ वै. अ. ३१२

इससे स्पष्ट होता है कि प्राणियों को बिना पीड़ा पहुँचाये जो कर्म होते हैं सज्जनों के मत में वही धर्म है, जैसे—अद्रोह, सत्य वचन, संविभाग, दया, दम, अपनी स्त्री में सन्तोष, मृदुता, ह्री, अचापल्य ये स्वयंभुव मनु के कहे हुए सामान्य धर्म हैं।

श्रीमद्भागवत में धर्मसम्बन्धी एक बड़ा ही रोचक प्रसंग आया है। युधिष्ठिर ने ब्रह्मपुत्र महर्षि नारद से पूछा कि वर्ण एवं आश्रम से संयुक्त सनातन धर्म क्या है ? नारदजी ने नारायण द्वारा कथित ३० आचरों का नाम गिनाया, जो धर्म है—

सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा (क्षमा), ईक्षा (उचित अनुचित का ज्ञान) शम (मन को वश में रखना), दम (इन्द्रियों को वश में रखना), अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग (दान), स्वाध्याय (जप आदि), आर्जव, सन्तोष, समदृक् सेवा (साधुओं की सेवा), "ग्राम्येहो परम्" (प्रवृत्ति-नामक धर्मों से निवृत्ति), विपर्ययेच्छा (निष्फल क्रियाओं को समझना), मौन (बेकार की बातें नहीं करना), आत्मविमर्शन (शरीर से अलग आत्मा का ज्ञान), संविभाग (अपनी आवश्यकता से अधिक अन्न को प्राणियों में बाँट देना), सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को देखना, परमेश्वर के गुणों का श्रवण, कीर्तन, परमेश्वर का स्मरण, परमेश्वर की सेवा, यज्ञ, परमेश्वर को प्रणिपात, उसके प्रति दास भाव, परमेश्वर के प्रति मित्रता एवं उसके प्रति समर्पण ये ३० कर्म मनुष्यों के लिये श्रेष्ठ धर्म हैं जिनसे परमेश्वर सन्तुष्ट होते हैं।[1]

स्मृतियों में एवं योगसूत्र में यम-नियम के आधार पर भी सामान्य धर्म का विशद वर्णन किया गया है। यम एवं नियम में सभी सामान्य धार्मिक आचरणों का वर्णन है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र कहता है कि इस जीवन के दोषों का पूर्ण नाश योग से होता है। काम-क्रोध, लोभ एवं कपट आदि १५ दोषों को सूत्रकार ने गिनाया भी

१—नारद उ०—नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे, वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम्‌ योऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः। लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो-बदरिकाश्रमे। धर्ममूलं हि भगवान्‌ सर्वदेवमयो हरिः। स्मृतं च तद्विदां राजन्‌ येन चात्मा प्रसीदति॥ सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः। अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्‌॥ सन्तोषः समदृक्‌ सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः नृणां विपर्ययेहेच्छा मौनमात्मविमर्शनम्‌। अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ! श्रवणं कीर्त्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्म समर्पणम्‌॥ नृणमयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः। त्रिंशल्लक्षणवान्‌ राजन्‌ ! सर्वात्मा येन तुष्यति॥ भाग०—७-११-२-१२

है। ईसा से ४थी शताब्दी पहले भारत में मन को अनुशासित करने वाली विधि का ज्ञान फैल चुका था, जिसे योग कहते हैं। पतञ्जलि ने योगदर्शन में यम-नियम की परिभाषा दी है—

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
शौचसन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः॥

याज्ञवल्क्यस्मृति में दस यम एवं दस नियम गिनाये गये हैं—

ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता।
अहिंसा स्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः॥
स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः।
नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधप्रमादताः॥ ३।३१२-१३

लगभग ८ वीं शताब्दी के बाद की रचना योगयाज्ञवल्क्य में भी १० यम एवं १० नियमों का उल्लेख है किन्तु कुछ अन्तर है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचं त्वेते यमा दश॥
तपःसन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्।
एते तु नियमाः प्रोक्तास्तांश्च सर्वान् पृथक्-पृथक्॥ (१।५०-५१)

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार—ब्रह्मचर्य दया, क्षमा, दान, सत्य अकल्कता, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य (प्रसन्न मुख रहना) और दम ये यम हैं। स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) का निग्रह गुरुसेवा, शौच, अक्रोध, अप्रमादता ये दस नियम हैं।

योगी याज्ञवल्क्य ने याज्ञवल्क्यस्मृति का ही अनुकरण किया है किन्तु शौच को स्मृति नियम मानती है तो योग याज्ञवल्क्य शौच को यम में रखे हैं। अमरकोषकार के अनुसार यम-नियम-नित्य एवं अनित्य कर्म हैं। यम शरीर साधनापेक्ष है अर्थात् शरीर द्वारा किया जाने वाला कर्म है।[1] नियम अनित्य है जो शरीर के साधनों पर ही आश्रित नहीं हैं बल्कि बाहरी साधनों पर आश्रित होना पड़ता है।

1—शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत्कर्म तद्यमः।
नियमस्तु स यत्कर्म नित्यमागन्तु साधनम्॥
(अमरकोष—ब्रह्मवर्ग द्वितीय काण्ड)

मनु ने यमों एवं नियमों को गिनाया है किन्तु यमों को पालन करने का निर्देश करते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर यमों का पालन सबको करना चाहिए। यमों के पालन को व्रत कहा जाता है, किन्तु देश काल एवं अवसर की परवाह किये बिना इसका जो अभ्यास या प्रयोग करता है, वह महाव्रती या महायोगी कहलाता है। मोक्ष का मार्ग योग से ही योगी लोग तय करते हैं। सभी प्रकार की इच्छाओं को इसी से योगी दमन करते हैं। स्मृतियाँ यम-नियमों में सामान्य लोगों के लिये कुछ छूट देती हैं। जैसे गौतम, वसिष्ठ एवं महाभारतकार ने ५ अवसरों पर असत्य भाषण को भी क्षम्य माना है।[1] मनु कहते हैं कि सत्य अप्रिय हो तो नहीं बोलना चाहिए[2]। योगियों के लिये यह छूट नहीं है। मिताक्षरा ने वैसे असत्यभाषण का निषेध किया है जिससे प्राणियों का नाश न हो।

इस प्रकार सामान्य धर्म सबके लिये अनुकरणीय है। याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने तो अहिंसा आदि सामान्य गुण सबके लिये करणीय बताये है, यहाँ तक कि चाण्डाल के लिये भी। शंख स्मृति, क्षान्ति, सत्य, आत्मनिग्रह (दम) एवं शुद्धि नामक गुण सबके लिये उपयोगी बताती है। महाभारत ने तीन गुण सबके लिये लिखा है—

> एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत।
> निर्वैरता महाराज सत्यम क्रोध एव च[3]॥
> एवं त्रीण्येव तु पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम्।
> नद्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परं वदेत्॥[4]

निर्वैरता, सत्य एवं अक्रोध तीन सर्वश्रेष्ठ गुण हैं। वसिष्ठ ने सभी वर्णों के लिये सत्य, अक्रोध, दान, अहिंसा, प्रजनन आदि गुण निर्धारित किये हैं। मनु तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह सभी वर्णों का धर्म बताते हैं।[5] इन

१—उद्वाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥ वसिष्ठ० १७।३१

२—सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ ४।१३८ (मनु०)

३—आश्रमवासिपर्व २८।९। ४—अनुशासनपर्व १२०।१०।

५—अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एवं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः। १०।६३।

सामान्य गुणों के अतिरिक्त स्मृतिकारों ने वर्णों के अनुसार अलग-अलग नियम एव कर्तव्य निर्धारित किये हैं।

चतुर्दश विद्याओं में सामान्य गुणों (धर्मों) की इतनी विशद व्याख्या की गई है कि धर्मग्रंथों के सम्पर्क में आने के बाद मानव जीवन अप्रभावित नहीं रह सकता है। कतिपय विशिष्ट उद्धरणों के द्वारा सामान्य धर्मों का निरूपण किया जा रहा है।

सत्य

उपनिषद् कहते हैं 'सत्यं वद ? सत्यान्न प्रमदितव्यम्। (तै० उ०) सत्य बोलो। सत्य के प्रति प्रमाद नहीं करना चाहिए। सत्य की प्रशंसा में मुण्डकोपनिषद् कहता है कि—

सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्नृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।
सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येषा आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।

सत्य विजयी होता है, असत्य नहीं। सत्य से ही देवलोक का मार्ग बना है। तत्त्व ज्ञानी ऋषिगण सत्य के द्वारा ही सत्स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करते हैं। सत्य, ज्ञान एवं ब्रह्मचर्य से ही यह आत्मा सदा लाभान्वित होती है। शरीर के भीतर सत्य का ही शुभ्र प्रकाश है जिसे दोष रहित संन्यासी देखते हैं।

प्रश्नोपनिषद् कहता है—

तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति॥

यह ब्रह्मरूपी आत्मा उन्हीं लोगों के द्वारा देखी जाती है, जिनमें तप, ब्रह्मचय एवं सत्य भरा हुआ है और जिनमें कुटिलता, मिथ्या एवं माया नहीं होती।

तैत्तिरीय संहिता ने सत्य को साक्षात् परेश्वर ही माना है—

सत्यं परं पर ँ सत्य ँ सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते
कदाचन सत ँ हि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते।

सत्य परेश्वर है एवं परेश्वर सत्य है। सत्य के कारण लोग स्वर्गलोक से गिरते नहीं। सत्य भाषण सन्तों का स्वभाव है। अतः वे सत्य में ही रमण करते हैं।

मनुस्मृति में सत्य की महिमा सनातन धर्म के रूप में गाई गयी है।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।

सत्य बोलें, प्रिय बोलें किन्तु अप्रिय सत्य नहीं बोलें। प्रिय असत्य भी नहीं बोलना चाहिए। यही सनातन धर्म हैं।

महाभारत तो सत्य के उदाहरणों से भरा पड़ा है। भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा कि—

'नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत् ।।'

सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं और असत्य से बड़ा पाप नहीं है। सभी धर्मों का मूल सत्य ही है। इसलिये सत्य का लोप कभी नहीं करें। वेद का मूल और धर्म की जड़ सत्य पर आश्रित है। हजारों अश्वमेध यज्ञ इसकी बराबरी नहीं कर सकते।

सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ।।
सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम्।
सत्याद्धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्यं प्रतिष्ठितम् ।।
सत्यं वेदास्तथाङ्गानि सत्यं विद्या तथा विधिः।
व्रतचर्या तथा सत्यमोङ्कारः सत्यमेव च ।।
प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं सन्ततिरेव च।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः ।।
सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्यं यज्ञस्तपो वेदः स्तोभा मंत्राः सरस्वती ।।
तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम्।
समकक्षां तुलयतो यतः सत्यं ततोऽधिकम् ।।
यतो धर्मस्ततः सत्यं सर्वं सत्येन वर्द्धते।

सभी धर्मों से सत्य का पलड़ा भारी होता है। सबकी वृद्धि सत्य से ही होती है। अतः सत्य साक्षात् परमेश्वर ही है। हरिश्चन्द्र ने इसी सत्य का पालन किया। युधिष्ठिर इसी सत्य के अनुयायी थे, जो भगवत्स्वरूप हो गये।

धृति—(धैर्य)

आपत्तिकाल में धर्म न छोड़ना धृति है। धैर्यवान् व्यक्ति वैसी इच्छा नहीं करते जो प्राप्त नहीं हो सकती है। नष्ट हुई वस्तु के लिये वैसे व्यक्ति शोक भी नहीं करते हैं। प्रतिकूल भाग्य के अतिरिक्त भी विषाद की रेखा धैर्यवान् को विचलित नहीं करती है। बिदुर कहते हैं—

विषयप्रवणंचित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।
नियन्तु महितादर्थात् धृतिर्हि नियमात्मिका।।

विषयों में लगे हुए अन्तःकरण (चित्त) को धृति के बिना नियंत्रित नहीं किया जा सकता है। चित्त को नियमन या नियंत्रित करने वाली वृत्ति को ही धृति कहते हैं।

गीता में धृति के तीन रूप वर्णित हैं।

धृत्या यथा धारयते मनः प्राणेन्द्रिय क्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी।।
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थराजसी।।
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।

१८।३३-३५

जो धृति मन, प्राण, इन्द्रिय को शास्त्र विरुद्ध जाने से रोकती है, वह धृति सत्व गुण वाली है। पार्थ! धर्म, अर्थ, काम के लिये कर्म करने का निश्चय जिस धृति से होता है, वह रजोगुण सम्पन्न धृति है। निद्रा, भय एवं शोक को जो धृति के वशीभूत होकर भी नहीं छोड़ता है, वह तामसी धृति है। धृति के सम्बन्ध में भीष्म ने भी युधिष्ठिर को समझाया कि वस्तु या व्यक्ति के नाश होने पर धृति ही सहायिका होती है।

पुत्रदारैः सुखश्चैव वियुक्तस्य धनेन वा।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप।।
धैर्येण युक्तं सततं शरीरं न विशीर्य्यते।।

धृति कठिन दुःख को सहने की शक्ति देती है, सुख, आरोग्य को उत्पन्न करती है। इस सम्बन्ध में महाभारत में राजा बलि एवं इन्द्र की कथा वर्णित है।

क्षमा

क्षमा की महिमा भी सत्य की तरह धर्मग्रन्थों में पाई गई है। क्षमा को धर्म का प्रमुख अंग माना गया है। कहीं-कहीं तो इसका भी ब्रह्म स्वरूप वर्णन किया गया है।

देवलस्मृति—

विगर्हातिक्रमक्षेप हिंसाबन्धवधात्मनाम्।
अन्यमन्यु समुत्थाने दोषाणां मर्षणं क्षमा ।।

क्रोध से दूसरे के द्वारा की गई निन्दा, अनादर, क्षेप, वध इन दोषों को सहना क्षमा है।

बृहस्पतिस्मृति कहती है—

वाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चौत्पत्तिके क्वचित्।
न कुप्यति नवा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ।।

वाह्य या मानसिक या किसी उत्पात से उत्पन्न दुःख की दशा में क्रोध या हिंसा न करने का नाम क्षमा है।

मिताक्षरा के अनुसार—**अपकारोऽपि चित्तस्याविक्रिया क्षमा,** वस्तुतः क्षमादान वही दे सकता है जो सामर्थ्य होने पर भी बदले की भावना से प्रेरित होकर किसी का अहित नहीं पहुँचोयें कायर बलवान् को क्षमा नहीं दे सकता है। भागवतकार ने क्षमा की अत्यधिक महिमा गायी है—

क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथाप्रभा।
क्षमिणामासु भगवांस्तुष्यत्याशु जनार्दनः ।।

सूर्य के तुल्य ब्राह्मण का तेज क्षमा से बढ़ता है। क्षमा से परमेश्वर शीघ्र प्रसन्न होते हैं। महाभारत के वन पर्व में तो क्षमा की अद्‌भुत महिमा वर्णित है।

द्रौपदी से युधिष्ठिर कहते हैं कि काश्यप मुनि की उक्ति है कि—

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमावेदाः क्षमाश्रुतम्।
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ।।
क्षमा ब्रह्म, क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ।।

अतियज्ञविदां लोकान् क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च ।
क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमायज्ञः क्षमाशमः ।
तां क्षमा तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत् ।।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाः प्रतिष्ठिताः ।।
क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।

अतः क्षमा धर्म है, क्षमा सत्य है, वही परमेश्वर है। क्षमा से ही जगत् की यह स्थिति है। यह तपस्वियों का तेज है एवं उनका ब्रह्म है। ब्रह्म, लोक, सत्य एवं यज्ञ सब क्षमा से ही प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार इसका त्याग नहीं करना चाहिए।

क्षमा जिनके पास शोभती है, उनको लोग असहाय समझते हैं किन्तु क्षमा तो बलवानों का भूषण है। क्षमा ही वशीकरण है, इससे क्या नहीं सिद्ध हो सकता है **"क्षमावशी कृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।"** सचमुच जिनके पास क्षमा है, वह किसी का शत्रु नहीं बन सकता। क्रोध तो क्षमाशील को उत्पन्न ही नहीं होता। इसलिये क्षमा दुर्जनों के कष्ट से मुक्ति दिला देती है। ऋषियों ने इसलिये क्षमा को परम धर्म कहा है।

महाभारत की ही उक्ति है कि—

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ।।

दो पुरुष स्वर्ग के ऊपर प्रतिष्ठित हैं—एक जो समर्थवान् होकर क्षमायुक्त है दूसरा जो दरिद्र होकर भी दान देता है।

उद्योग पर्व में समर्थवानों एवं बलहीनों की क्षमा का वर्णन आया है। समर्थवान् क्षमा करता है तो धर्म करता है, कमजोर क्षमा करता है तो अपना कल्याण करता है। जिस प्रकार तपस्वियों का बल तप है, ब्रह्म ज्ञानियों का बल ब्रह्म है, दुर्जनों का बल हिंसा है, उसी प्रकार गुणवानों का बल क्षमा है।

तपोबलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसाबलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ।।

दम

महाभारत में दम का निरूपण करते हुए व्यास ने लिखा है कि—**'मनसो दमनं दमः' स च मनसो दुष्टविषयेभ्यो वारणम्।** मन को दुष्ट विषयों से वारण करना दम है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में दम की बृहत् महिमा गायी गई है। ब्रह्मचर्याश्रम के सभी धर्म का मूल दम है। ब्रह्मचारी दम में ही निरत रहते हैं तथा अपने पापों का नाश करते हैं।

दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दमे रमन्ते।
दमेन दान्ताः किल्विषमवधुन्वन्ति दमेन॥
ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन् दमोभूतानां दुराधर्षम्।
दमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दमं परमं वदन्ति॥

कलियुग में दम की महिमा बहुत है। नाना विषयों में इन्द्रियाँ भटकती रहती हैं फिर भी विषय वासना की तृप्ति नहीं होती है। अमूल्य समय विषयों के चक्कर में ही बीत जाता है, चित्त को शान्ति नहीं मिलती है।

भीष्म कहते हैं—

दमं निःश्रेयसे प्राहुर्वृद्धा निश्चयदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमोधर्मः सनातनः॥
दमात्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चाति वर्तते॥
दमस्तेजो वर्द्धयति पवित्रं च दमः परम।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत्॥

निश्चय ही दम मोक्ष का कारण है। ब्राह्मण के लिये विशेष रूप से दम सनातन धर्म कहा गया है। दम से समन्वित ब्राह्मण की कृपा का ही फल मिलता है। दान, यज्ञ और अध्ययन से भी दम का फल अधिक है। यह तेज को बढ़ाता है एवं पाप का नाश करता है।

दम से रहित, विवेकहीन, विषयों में आसक्त मनुष्य अनेक कष्ट पाता है। अनेक पाप जन्म लेते हैं। इसलिये सभी आश्रमों में उत्तम व्रत दम को ही कहा गया है।

"आश्रमेषु चतुष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
तस्य लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥"

दम से ही निम्नाङ्कित धर्म उत्पन्न होते हैं ।

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः प्रियवादिता ।
अविहिंसानसूया चाऽप्येषां समुदयो दमः ॥
गुरुपूजा च कौरव्य दयाभूतेष्व पैशुनम् ।
जनवादं मृषावादं स्तुतिनिन्दा विवर्जनम् ॥
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम् ।
रोषमीर्षावमानं च नैव दान्तो विषेवते ॥
अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः ।
समुद्रकल्पः स नरो न कथञ्चन पूर्य्यते ॥
अहं त्वयि मम त्वञ्च मयि ते तेषु चाप्यहम् ।
पूर्वसम्बन्धिसंयोगान्नैव दान्तो निषेवते ॥

क्षमा धृति, अहिंसा, सत्य आदि गुणों को प्रदान करने वाला दम अनेक दुर्गुणों (काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, मूढ़ता, आत्मप्रशंसा आदि) से मनुष्य को बचाता भी है । किसी पर दोष नहीं लगाने वाला दम युक्त पुरुष समुद्र की तरह गम्भीर होता है । "मैं" और "मेरा" की बुद्धि उसकी नहीं होती । इसलिये दम परम धर्म है ।

उर्वशी को देखकर अर्जुन ने दम से ही काम लिया था ।

विष्णुस्मृति ने भी दम की शिक्षा दी है—'दमयेन तिष्ठेत्' ।

दमश्चेन्द्रियाणां प्रकीर्त्तितः दान्तस्यालं लोकः परश्च ।
नादान्तस्य क्रिया काचित् समृध्यति ॥
दमः पवित्रं परमं मङ्गल्यं परमं दमः ।
दमेन सर्वमाप्नोति यत्किञ्चिन्मनसेच्छति ॥

दशार्द्धयुक्तेन रथेन याति मनोवशेनार्य्यपथानुवर्त्तिना ।
तञ्चेद्रथं नापहरन्ति वाजिनस्तथागतं नावजयन्ति शत्रवः ॥

आपर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

यह निश्चित है कि दम के बिना अगाध विषय सागर को पार लगाना बड़ा कठिन है। कामियों की इच्छायें समाप्त नहीं होती अतः वह दम के अभाव में पुण्य की जगह पापों के अथाह सागर में अपना जीवन खो देता है।

अस्तेय

चोरी करना पाप है किन्तु चोरी नहीं करना धर्म है। शास्त्र का कहना है कि पाप के पश्चात् प्रायश्चित् करने से अच्छा है, पाप (चोरी) नहीं करना। महाभारत के शान्ति पर्व में अस्तेय के क्रम में शंख एवं लिखित नामक दो धर्म-शास्त्रकारों की कथा वर्णित है। दोनों भाई थे। शंख की अनुपस्थिति में लिखित ने उनके आश्रम के कुछ फल तोड़ लिये। शंख ने इसे चोरी बतलाया और राजा सुद्युम्न के पास दण्ड के लिये लिखित को भेजा। राजा को अपना अपराध बताकर दण्ड की याचना की। धर्म संकट में पड़े हुए राजा को अपना कर्म करने की शिक्षा भी लिखित ने दी। चोरी के अपराध में दोनों हाथ काट दिये गये। बड़े भाई ने लिखित को बाहुदा नदी में स्नान एवं तर्पण करने को कहा। लिखित को स्नान के बाद ज्योंहि तर्पण करने की इच्छा हुई कि दोनों हाथ पूर्ववत् हो गये। ऐसा शंख ने अपने योगबल से किया। दण्ड देने के अधिकारी ने दण्ड दिया। दण्ड पाने वाले ने दण्ड पाया और योगबल से युक्त ऋषि ने अपना कर्त्तव्य निभाया।

धर्म का व्यतिक्रम लिखित ने किया। इसलिये दण्ड दिलाया गया।

"धर्मस्तु ते व्यतिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता"

इस उदाहरण से लगता है कि बिना आज्ञा या अनुमति के किसी की वस्तु उठाना पाप या दण्डनीय समझा जाता था।

अलोभ

लोभ करना पाप है, किन्तु लोभ नहीं करना धर्म है। वेद, पुराण, उपनिषद्, स्मृति एवं अन्य धर्म ग्रंथों में लोभ से बचने की शिक्षायें दी गई हैं। धर्म कार्य में रत मनुष्य का पतन लोभ के कारण ही होता है। यह लोभ कई पापों का जन्म-दाता है। शुद्ध यश एवं शुभ्र गुणों को थोड़ा सा लोभ नष्ट कर देता है: जैसे छोटा सा श्वेत कुष्ट सुन्दर शरीर की शोभा को नष्ट कर देता है।

"यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघया ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपितान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवोप्सितम् ॥"

भाग० ११-२४

एक बार युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि पापों का मूल क्या है? भीष्म ने बतलाया कि—"एको लोभो महाग्राहो लोभात् पापं प्रवर्तते। अर्थात् लोभ महाग्राह है जिससे अनेक छोटे-२ ग्राह पैदा होते हैं। भीष्म ने लोभ से उत्पन्न पापों का भी उल्लेख किया।

"लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रवर्तते
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता
अक्षमा ह्री परित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः।
अभिध्याप्रख्यता चैव सर्वं लोभात् प्रवर्तते।
अत्यागश्चातितर्षश्च विकर्मसु च या क्रिया।
कुल विद्यामदश्चैव रूपमैश्वर्यमदस्तथा ॥
सर्वभूतेष्वभिद्रोहः सर्वभूतेष्व सत्कृतिः।
सर्वभूतेष्वविश्वासः सर्वभूतेष्वनार्जवम् ॥
हरणं परवित्तानां परदाराभिमर्षणम्।
वाग्वेगो मनसो वेगो निन्दावेगस्तथैव च ॥
उपस्थोदर योर्वेगो मृत्युवेगश्च दारुणः
ईर्ष्यावेगश्च बलवान् मिथ्या वेगश्च दुर्जयः
रस वेगश्च दुर्वार्ष्यः श्रोत्रवेगश्च दुःसहः ॥
कुत्सा विकत्था मात्सर्यं पापं दुष्करकारिता।
साहसानां च सर्वेषामकार्य्याणां क्रियास्तथा ॥

अर्थात् क्रोध, काम, मोह, माया, मान (गर्व), स्तम्भ (क्रिया में आसक्ति), पराधीनता, अक्षमा, लज्जा, त्याग, ऐश्वर्यनाश, चिन्ता, अपकीर्ति ये सब लोभ के फल हैं।

अत्याग (दान नहीं देना), अतितर्ष (पाप करने की लालसा), कुल मद (गर्व), विद्यामद, रूपमद, ऐश्वर्यमद, सब प्राणियों में द्रोह, सब प्राणियों का अनादर, सब प्राणियों में अविश्वास, सब प्राणियों पर क्रूरता, परधनों का हरण, परपत्नीगमन, वचन का वेग, मनोवेग, निन्दावेग, उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) वेग, उदर वेग,

मृत्युवेग, ईर्ष्या वेग, मिथ्या वेग, रसवेग, श्रोत्रवेग, आत्मप्रशंसा, अन्यद्वेष, अकार्य करना, साहस, डाका मारना आदि लोभ से उत्पन्न होते हैं।

लोभ जन्म से मृत्यु तक मनुष्य का साथ नहीं छोड़ना चाहता है। नदियों से समुद्र पूर्ण नहीं होता। उसी तरह लोभ से लोभ पूर्ण नहीं होता **"न प्रहृष्यति यो लाभैः कामैर्यश्च न तृप्यति"** अर्थात् जो सभी प्रकार के कामों से तृप्त नहीं होता, उस लोभ तत्त्व को जीतना चाहिए। लोभी मनुष्य के पास ५ अवगुण रहते हैं—

दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा।
भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम्॥

दम्भ (पाखण्ड), द्रोह, निन्दा, पैशुन्य (गुप्तनिन्दा), मत्सर (द्वेष) ये पाँच लोभ के गण हैं। अनेक शास्त्रों के विद्वान् भी लोभ के कारण क्षुद्र एवं पतित हो जाते हैं। लोभयुक्त पुरुषों के पास दर्प, क्रोध, अतिशयन, अति हर्ष एवं अति शोक देखने को मिलता है। ऐसे अशिष्ट लोभी पुरुषों से धर्म की शिक्षा नहीं लेनी चाहिए। उपर्युक्त अवगुणों से आच्छादित व्यक्ति महान् विद्वान् होकर भी अशिष्ट कहलाता है।

लोभ के नाश के लिए भीष्म ने सुझाव दिया है कि—

ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च।
निर्ममानिरहंकाराः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः॥

लाभालाभौ सुखदुःखे च तात प्रियाप्रियं मरणं जीवितं च।
समानि येषां स्थिरविक्रमाणां बुभुत्सतां सत्त्वपथस्थितानाम्॥
धर्मप्रियास्तान् सुमहानुभावान् दान्तोऽप्रमत्तश्च समर्चयेथाः।
दैवात् सर्वे गुणवन्तो भवन्ति शुभाशुभे वाक् प्रलापास्तथान्ये॥

जिनमें अलोभ और अमोह है, जो सत्त्वगुणी एवं समदर्शी हैं अर्थात् लाभ, हानि, सुख, दुःख, प्रिय, अप्रिय, मरण और जीवन जिनकी दृष्टि में बराबर है, जो दम से युक्त एवं प्रमाद रहित हैं, वैसे महापुरुषों के पूजन एवं संगति से लोभ का नाश होता है।

अनादि काल से ही लोभ से बचने की शिक्षा वेद देता है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

—यजु ४०।१

इस संसार में सब कुछ चलायमान है, पर एक अचल ईश्वर आवास्य है। ईश्वर ने ही जीव के लिए सब भोग दिये हैं। अतः सब भोग, ऐश्वर्य, वैभव, उसी के हैं। तू इन्हें अपना मत समझ और लालच (लोभ) मत कर।

अथर्ववेद छः प्रकार के दुर्व्यसनों से अलग रहने की शिक्षा देता है। इन सब की उत्पत्ति लोभ से ही होती है।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहिश्वयातुमुतकोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुतगृध्रयातुं दृषदेव प्रमिण रक्ष इन्द्र ॥ ८।४।२२

उल्लू की चाल अर्थात् अज्ञान, मोह से दूर रहो। भेड़िया (शुशुलूक) की चाल यानी हिंसा एवं क्रोध से अलग रहो। कुत्ते की चाल अर्थात् मात्सर्य से दूर रहो। चकवा-चकवी की चाल यानी काम को छोड़ देना चाहिए जो निर्लज्ज बना देता है। सुपर्ण (गरुड़) अभिमान का प्रतीक है। अतः उसकी चाल छोड़ना ही श्रेयस्कर है। गृध्र की चाल लोभ की है। मांस भक्षी गृध्र परमलालची होता है। ऐसे लोभ को छोड़ देना चाहिए।

ऐसे दुर्गुणों को छोड़ने की शिक्षा हमारे आर्यग्रंथ अनादिकाल से देते आ रहे हैं।

शौच

शौच दो प्रकार का होता है (१) वाह्य (२) आभ्यन्तर। वाह्य शौच मिट्टी और जल से हो जाता है किन्तु आन्तरिक शौच लोभादि दोषों से बचने के संकल्प से होता है।

मनुस्मृतिकार का कथन है कि—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः ॥ ५।१०६

सभी पवित्रताओं में अर्थ शुचिता श्रेष्ठतम है। जिसके मनमें पर धन हरण का लोभ बना रहता है, वह कभी भी आभ्यन्तरिक दृष्टि से शुचि नहीं कहा जा सकता है। मृतिका और जल से तो बाहरी गन्दगी दूर की जा सकती है किन्तु मन को निर्मल करने के लिए सत्य, अहिंसा एवं दम आदि सद्गुणों को अपनाकर लोभ आदि को निकालना होगा।

गंगातोयेन कृत्स्नेन मृद्भारैश्च नगोत्तमैः ।
आमृत्योश्चाचरञ्छौचं भावदुष्टो न शुध्यति ॥

गंगा के सम्पूर्ण जल से, मृतिका के पर्वत से अपने जन्मपर्यन्त भी शौच करते रहे, तब भी भावदुष्ट आदमी शुद्ध नहीं हो सकता । वेद विहित एवं स्मृति विहित कर्म शुद्ध भाव से किये जायँ तभी शौच की प्राप्ति हो सकती है ।

त्रिदण्डधारणं मौनं जटाभारोऽथ मुण्डनम् ।
वल्कलाजिनसंवेष्टं व्रताचर्याऽभिषेचनम् ॥
अग्निहोत्रं वने वासः शरीरपरिशोषणम् ।
सर्वाण्येतानि मिथ्या स्युर्यदि भावो न निर्मलः ॥

त्रिदण्ड धारण करना, मौन, जटाभार, मण्डन, वल्कल, मृगचर्म धारण करना, व्रत, स्नान, अग्निहोत्र, बन में वास, उपवास करके शरीर को शुष्क करना इत्यादि । सभी निष्फल या मिथ्या हो जाते हैं अगर धर्म पालन में शुद्धि नहीं है । अन्तःकरण से शुद्ध संकल्प करने पर ही धार्मिक क्रियायें फलवती होती हैं ।

इन्द्रियनिग्रह

कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों पर नियंत्रण रखना धर्मसम्मत है । धर्मकार्यों में विषय-वासना इन्द्रियों के माध्यम से बाधा उपस्थित करती है । दुष्ट विषयों से अगर इन्द्रियों को रोका नहीं जाय तो विपत्तियों का द्वार खुल जायेगा ।

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥

विषयों से इन्द्रियों का वारण किया गया तो सम्पत्ति का मार्ग, नहीं किया तो विपत्ति का मार्ग मिलेगा । इनमें से किसी एक मार्ग पर चलना पुरुष की इच्छा के अधीन है ।

मनुस्मृति में इन्द्रियनिग्रह की विशद् चर्चा है ।

इन्द्रियाणं विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥

—मनुस्मृ० २।८८

जिस प्रकार सारथी घोड़ों को सम्भालता है तब रथ चलता है । उसी प्रकार विद्वान् विषयों की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों को सम्भालने का यत्न करता है ।

इन्द्रियाँ एकादश हैं—(१) श्रोत्र, (२) त्वक्, (चर्मेन्द्रिय), (३) नेत्र, (४) जिह्वा, (५) नासिका, (६) पायु (मलेन्द्रिय), (७) उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय), (८) हस्त, (९) पाद, (१०) मुख एवं एकादश इन्द्रिय मन है। क्रमशः ५ ज्ञानेन्द्रिय एवं ५ कर्मेन्द्रिय हैं।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषभृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

इन्द्रियों के स्वतंत्र होने से दुःख और उनको वश में करने से सुख होता है। यह सत्य है कि काम (इच्छा) की समाप्ति विषयों के भोग से नहीं होती है। अग्नि में घी के समान विषयों के भोग से काम प्रज्वलित होता है। अतः स्मृतिकार का कहना है कि—"**विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः**" अर्थात् विषयों की उपेक्षा से दोनों लोकों में सुख होता है।

इन्द्रियों का सारथी मन जब तक संयमी नहीं बनता, विषयों से शरीर को अलग नहीं रखा जा सकता। राग-द्वेष आदि दोष दूषित मन से उत्पन्न होंगे एवं ज्ञान, यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मों को नष्ट कर देंगे। इसलिए जितेन्द्रिय बनने के लिए मन को वशीभूत करना होगा।

जितेन्द्रिय के लक्षण हैं—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदिकम् ॥

वशीकृत्येन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥

जो पुरुष अपनी स्तुति या निन्दा सुन, कोमल या कम्बल धारण कर, सुरूप या कुरूप को देख, सरस या नीरस को खाकर, सुगन्ध या दुर्गन्ध को धारण कर हर्ष या विषाद को नहीं प्राप्त होता, वह जितेन्द्रिय कहलाता है।

किसी एक इन्द्रिय को भी छूट देने से एक छिद्र वाले चर्म जलपात्र की भाँति जल बाहर निकल जाता है। अतः मन को नियंत्रित करने की जरूरत है।

तप

'तपः स्वधर्म (सुकर्म) वर्तित्वम्' —महाभारत

व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनं तपः —देवलस्मृति

शरीरतपने तपः—कृ० र०

तप साधना है। व्रत, उपवास एवं नियम से शरीर को तपाया जाता है। तप के द्वारा ही इन्द्रादि देवता हुए हैं। स्वर्ग जाने का साधन तप ही है। शत्रुओं पर विजय तप से ही पाया जाता है, इसलिये तप को श्रेष्ठ कहा गया है।

तप वह नियम है जो सबके लिए समान नहीं है। ब्रह्मचारियों के लिए तप वेदाध्ययन है तो गृहस्थाश्रम के लिये दान ही तप है। वानप्रस्थ आश्रमवासियों के लिए उपवास तप है। संन्यासियों के मन की एकाग्रता एवं इन्द्रियों का दमन ही तप है।

यथा—'तपो हि स्वाध्यायः' इति ब्रह्मचारिधर्मः।

'एतत् खलुवाव तप इत्याहुर्यः स्वं ददाति'। इतिगृहस्थधर्मः

'तपोनानशनात्परम्' इति वानप्रस्थधर्मः।

'मनसश्चेन्द्रियाणां च' ह्येकाग्र्यं परमं तपः।

तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः परमुच्यते" ।। इति यतिधर्मः

—तैत्तिरीयारण्यक १०।६२

तप को चर्चा करते हुए मनुस्मृति कहती है—

तपो मूलमिदं सर्वं दैवं मानुषकं सुखम्।
तपो मध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम् तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैशस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥

मनुष्य की आध्यात्मिक एवं मानसिक सुखों के मूल में तप ही है। वेदज्ञ बताते हैं कि सुख के मूल में, मध्य में एवं अन्त में तप ही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के तप अलग-अलग हैं। ज्ञान, प्रजापालन, कृषि वाणिज्यादि एवं ब्राह्मण सेवा क्रमशः चारों वर्णों के तप हैं।

फल-मूल खाने वाले तपस्वी तप के बल से त्रैलोक्य की हर चीज देख लेते थे। (तपसैव प्रपश्यन्ति) तप से ही औषध निरोगिता एवं ब्रह्म विद्या प्राप्त होती थी।

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधास्थितिः।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम्॥

तप की महिमा का वर्णन हिन्दू संस्कृति के प्रायः सभी ग्रंथों में है। तप से वह तेज प्राप्त होता है जिससे असाध्य भी साध्य हो जाता है।

मनु ने कहा है—

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ ११।२३८

बड़े-बड़े दुःखों से छुटकारा पाना, दुर्लभ गुणों को प्राप्त करना, स्वर्गादि बड़े-बड़े दुर्गों तक पहुँचना ये दुष्कर कार्य तप से ही सम्भव हैं।

ब्रह्महत्या आदि पातक भी तप से ही छूटते हैं—

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्विषात्ततः॥ ११।२३९

मन, वचन एवं शरीर से जो पाप कर्म किये जाते हैं उनका नाश तप से ही होता है।

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः।
तत्सर्वं निर्दहत्याशु तपसैव तपोधनाः॥ ११।२४१

तप प्रज्वलित अग्नि के समान पापराशियों को जला देता है।

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात्।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित्॥ ११।२४६

जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठ राशि को भस्म कर देती है। उसी तरह वेदार्थं तत्त्व जानने वाला ब्राह्मण अपने ज्ञान रूपी तप से पाप राशियों को क्षण भर में भस्म कर देता है।

दया

दया भूतहितैषित्वम्—

बृहस्पति परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्त्तिता॥

—बृहस्पति

दया नहीं करने से ही असुर निन्दित हैं। प्रजापति ने असुरों को संकट से मुक्ति पाने के लिए दया करने को ही कहा। तीन नरक के द्वार बताये जाते हैं, काम

लोभ एवं क्रोध। काम को दम से दमित किया जाता है। लोभ को दान से एवं क्रोध को दया से जीता जा सकता है।

भागवत में परमात्मा की प्रीति प्राप्त करने का एक उपाय दया को भी बतलाया गया है। यथा—

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्टया येनकेन वा।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः॥

सब भूतों पर दया, थोड़ी सी वस्तु से संतोष एवं सभी इन्द्रियों का दमन, इन तीनों से परमात्मा तुरन्त प्रसन्न होते हैं।

अहिंसा

श्रुति कहती है—'**न हिंस्यात् सर्वा भूतानि**' किसी प्राणी की हिंसा न करें।

देवलस्मृति कहती है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अपने प्रतिकूल जो हो वह दूसरे के लिए नहीं करें। जो कार्य स्वयं को कष्ट दे सकता है वह दूसरो को भी दे सकता है, इसलिए अपने आचरण से किसी को दुःख न देना ही धर्म है।

महाभारत को उक्ति है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेभ्यो यदि नेच्छसि।
परेषां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तय ततो मनः॥

मनु ८ प्रकार को हिंसा मानते हैं[1]—

(१) अनुमन्ता—जिसकी अनुमति के बिना वध नहीं हो सकता
(२) विशसिता—बध किए हुए प्राणियों के अंगों को काटने वाला
(३) निहन्ता—मारने वाला
(४) विक्रेता—मांस बेंचने वाला
(५) क्रेता—मांस को खरीदने वाला
(६) संस्कर्ता—मांस को पकाने वाला
(७) उपहर्त्ता—उपहार रूप में मांस को देने वाला
(८) खादक—मांस खाने वाला

---

१. अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः।५।५१

मनुस्मृति में मांस शब्द का निर्वचन बड़ा तार्किक है—

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ।। ५।५५

पण्डितों द्वारा मांस का यह अर्थ किया जाता है—कि 'मां' (मुझको) 'स' (वह) अर्थात् इस लोक में जिसका मांस खाता हूँ परलोक में वह मुझको खायेगा ।

श्रद्धा

धर्मार्जन करने का यह एक प्रमुख सोपान है। बिना श्रद्धा के किसी कृत्य का फल नहीं मिलता है। देवीपुराण की उक्ति है—

कायक्लेशैर्न बहुभिर्न चैवार्थस्य राशिभिः ।
धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धाहीनैः सुरैरपि ।।

शरीर को क्लेश दिया जाय या प्रचूरधन खर्च किया जाय श्रद्धा के अभाव में धर्म नहीं प्राप्त हो सकता, चाहे वे देवता ही क्यों न हों ? ऐसी श्रद्धा जो धर्मबुद्धि को जन्म देती है उसकी परिभाषा देवल ने दी है—

प्रत्ययो धर्मकार्येषु सदा श्रद्धेत्युदहृता ।
नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य धर्मकृत्य प्रयोजनम् ।।

धर्मकार्यों में सदा फलदायी विश्वास करना श्रद्धा है। क्योंकि श्रद्धा रहित मनुष्य को धर्म से फल नहीं मिलता ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में आया है कि—

कस्मिन्नुश्रद्धा प्रतिष्ठितेति ? हृदय इति होवाच ।
हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव
श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः ।।

हृदय (अन्तःकरण) से श्रद्धा जन्म लेती है। यह हृदय की एक वृत्ति है, इसलिए हृदय में प्रतिष्ठित है ।

मनु श्रद्धा के फल की चर्चा करते हुए कहते हैं—

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ।। ४।२२६

इष्ट एवं पूर्त कर्म स्वर्गादि फल की कामना छोड़कर श्रद्धा से करनी चाहिए। न्यायार्जित धन से इष्ट एवं पूर्त धर्म श्रद्धा पूर्वक किये जांय तो अक्षय फल को देते हैं।

जिनकी जैसी श्रद्धा होती है बुद्धि तदनुरूप हो जाती है। सत्त्विकी, राजसी एवं तामसी श्रद्धा से पुरुष भी सात्त्विक, राजस एवं तामस होता है।

पाँचवाँ अध्याय

वर्णधर्म

ऋग्वेद में 'वर्ण' शब्द कई बार आया है। यथा—

"यो दासं वर्णमधरं गुहाकः" —ऋग्वेद (२।१२।४)

"कृष्णं च वर्णमरुणं च सं धुः" —ऋग्वेद (१।७३।७)

इसी प्रकार ऋग्वेद २।३।५, ९।९७।१५, ९।१०४।४, १०।१२४।७ आदि ऋचाओं में भी वर्ण शब्द आया है। उपर्युक्त मंत्रों में वर्ण का प्रयोग रंग या प्रकाश के अर्थों में हुआ है। ऋग्वेद कालीन सामाजिक अवस्था से ज्ञान प्राप्त होता है कि आर्य एवं अनार्य के बीच लम्बा संघर्ष हुआ था। पराजित अनार्य दास या दस्यु बना लिये गये। जिनको अव्रत (देवताओं के नियम-व्यवहारों को न मानने वाले) 'अक्रतु' (यज्ञ न करने वाले) 'मृध्रवाच' (जिनकी वाणी मधुर एवं स्पष्ट नहीं हो) 'अपनासः' (चिपटी नाक वाले) आदि नामों से ऋग्वेद में सम्बोधित किया गया है। इस आधार पर वर्ण के अन्तर्गत आर्य और दास या दस्यु लोग ही आते थे। प्राचीन काल में वर्णों का दो ही रूप रहा होगा। कहा जाता है कि पुरुषसूक्त ऋग्वेद में बाद में जोड़ा गया है। पुरुषसूक्त चार वर्णों का नाम प्रकाशित करता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र जो एक ही विराट् पुरुष के अंगों से उत्पन्न हुए हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में दो वर्णों की चर्चा है। ब्राह्मण जो दैवी वर्ण के हैं और शूद्र जो असुर्य वर्ण के हैं[1]।

ऋग्वेद की ऋचाओं से यह ध्वनित नहीं होता कि वर्ण व्यवस्था स्मृतिकाल के समान थी। देवापी और शान्तनु की कथा वर्ण व्यवस्था के स्वरूप पर प्रकाश डालती है। ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि ने अग्रज होकर भी राजा नहीं बनना चाहा तब अनुज शन्तनु राजा बना। शन्तनु के दुराचारों से अकाल पड़ा। देवापि ने यज्ञ किया, वर्षा हुई। शन्तनु ने बड़े भाई को ही पुरोहित रखा। यह गाथा बतलाती है कि एक ही पिता के दो पुत्र एक ब्रह्मचर्य, एक क्षात्र धर्म का पालन कर सकता था। इसी

१. ब्राह्मणश्च शूद्रश्च चर्मकर्तो व्यायच्छेते। दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असुर्यःशूद्रः। तै.ब्रा. १।२ ६।

तरह एक स्तुतिकर्त्ता कवि ने कहा है कि मेरी माँ चक्की में आटा पीसती है, पिता मेरे वैद्य हैं, हमलोग विविध क्रियाओं द्वारा धनोपार्जन करना चाहते हैं[१]। ये मंत्र वर्णव्यवस्था की लचोली व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं।

विश् शब्द ऋग्वेद में कई बार आया है जिसका अर्थ जनसमुदाय है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'विशः' का अर्थ राष्ट्र या देश है। ऐतरेय ब्राह्मण में आया है कि ब्राह्मण को गायत्री के साथ उत्पन्न किया गया, राजन्य को त्रिष्टुप के साथ और वैश्य को जगतो के साथ किन्तु शूद्र को किसी छन्द के साथ उत्पन्न नहीं किया गया[२]। शतपथ ब्राह्मण कहता है शूद्र असत्य हैं, शूद्र श्रम है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्ण सम्बन्धी कठोरता की जो रूप-रेखा मिलती है, वह ऋग्वेद में नहीं मिलती। पुरुषसूक्त ब्राह्मणों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के मुख से, राजन्य की बाहु से, वैश्य की जाँघ से एवं शूद्रों की पैर से बताता है[३]। यह वर्ण विभाजन को प्रचीन सिद्ध करता है। गीता भी वर्ण विभाजन को ईश्वर कृत मानती है-**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**

वर्ण व्यवस्था ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणयन के समय इतनो सुव्यवस्थित हो गई थी कि समाज का वर्ण विभाजन करने के बाद देवताओं का भो विभाजन कर दिया गया था।

अग्नि, बृहस्पति ब्राह्मण, इन्द्र, यम और वरुण-क्षत्रिय, वसु, रुद्र, विश्वेदेव एवं मरुत् विश् थे एवं पूषा शूद्र था। चार वर्णों के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों एवं शिल्पों के आधार पर कुछ और वर्ग थे जो व्यवसाय या शिल्प के आधार पर ही जाति नाम से अभिहित किये जाने लगे। जैसे—वप्ता (नाई), त्वष्टा (बढ़ई), भिषक् (वैद्य), सूत, कर्मार आदि।

वर्ण एवं जाति—ये दोनों शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलतः आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है। स्मृतियों में भी वर्णों का आदर्श है, समाज के वर्गों के मापदण्ड तथा कर्तव्यों पर जोर देना न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों पर जोर देना। इसके विपरीत जाति व्यवस्था, जन्म एवं

---

१. कारूरहं ततो भिषगुपप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवो अनुगा इव तस्थिम (कारू= स्तुति प्रणेता) (ऋ०. ९।११।२।३।)

२. ऐत. ब्रा. ५।१२

३. ऋ. १०।९०।१२

आनुवंशिकता पर अधिक जोर देती है। जाति व्यवस्था कर्तव्यों के आचरण पर बल नहीं देती। वैदिक साहित्य के पश्चात् वर्ण को जाति के रूप में भी प्रयोग किया जाने लगा। मनु ने मिश्रित जातियों के अर्थ में भी वर्ण शब्द का प्रयोग किया है[1] तथा कहीं-कहीं जाति अर्थ में भी हुआ है।[2]

वर्णसंकर—यह मिश्रित जाति है। बृहस्पति ने अनुलोम एवं प्रतिलोम को वर्ण संकर कहा है। मिताक्षरा और मेधातिथि ने वर्णसंकरता का प्रयोग किये हैं। चारों वर्णों से अनेक मिश्रित जातियाँ पनपी—मेधातिथि ने ६० की चर्चा की है। महाभारत में वर्णसंकरता की उत्पत्ति की चर्चा है। धन, लोभ, काम, वर्णों के अनिश्चय एवं वर्णों के अज्ञान से वर्णसंकर की उत्पत्ति होता है। गीता कहती है जब नारियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं तब वर्णसंकरता उपजती है (१।४१-४३)। वर्णसंकरता को रोकने के लिये राजाओं को दण्ड देने का अधिकार दिया गया। स्मृतियों ने वर्ण व्यवस्था की रक्षा के लिए वर्णधर्म निर्धारित किया तथा उल्लंघन करने वाले को समुचित दण्ड देने का विधान बनाया।

वर्ण-धर्म—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को द्विज कहा जाता है। धर्मशास्त्रों में इन वर्णों के लिये अनेक नियम तथा उपनियम बने हैं। वेदाध्ययन, यज्ञ करना एवं दान देना क्रमशः तीनों वर्णों के (आवश्यक) कर्तव्य थे। इसके अतिरिक्त वेदाध्ययन कराना, यज्ञ कराना एवं दान लेना ब्राह्मणों के विशेषाधिकार थे। युद्ध करना एवं प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय के विशेष अधिकार थे। कृषि, पशुपालन एवं व्यापार वैश्य के निश्चित विशेषाधिकार माने जाते थे।[3]

अध्ययन—तीनों वर्ण वेदों का अध्ययन करते थे, किन्तु सबसे अधिक उत्तरदायित्व ब्राह्मणों की थी। वेदाध्ययन कराने वाले अधिकतर ब्राह्मण थे जो श्रुति परम्परा यानी बोलकर ऋचाओं को कण्ठस्थ कराते थे। विष्णु पुराण में उद्धरण आया है कि ब्राह्मण सत्त्व गुण सम्पन्न होते हैं। सत्त्व गुण से ब्राह्मण, रजोगुण से क्षत्रिय एवं रज तथा तम के संयोग से वैश्य तथा तम से शूद्र की उत्पत्ति ब्रह्मा ने

---

१. मनुस्मृति. १०।२७, ३१।

२. मनु. ३।१५, ८।१७७, ९।८६

३. द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानम्। ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः। पूर्वेषु नियमस्तु। राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम्। वैश्यस्याधिक कृषिवणिक्पशुपाल्यकुसीदम्। गौतम १०।१-३,७,५०, आप० २।५, बौधा० १।१०।२-५, वसिष्ठ० २।१३-१९, मनु १।८८-९०, याज्ञ० १।११८-१९, विष्णु २।१०, अत्रि-१३-१५, मार्कण्डेय पु० २८।३-८।

की।[1] इससे भी स्पष्ट होता है कि अध्ययन-अध्यापन में ब्राह्मण वर्ण ही अधिक दत्त-चित्त था। क्षत्रिय भी अध्ययन करते थे। राजा जनक, अजात शत्रु, प्रवाहण-जैवालि, केकयराज अश्वपति ये क्षत्रिय थे जो ब्रह्मवेत्ता थे। इनके पास ब्राह्मण भी ब्रह्म-विद्या की शिक्षा ग्रहण करते थे। लेकिन क्षत्रिय अपने व्यवसाय के रूप में वेदाध्ययन नहीं करते थे।

निरुक्त में विद्यासूक्त नामक चार मंत्र हैं जिनमें प्रथम सूक्त के अनुसार विद्या ब्राह्मणों के पास आई और सम्पत्ति के समान अपनी रक्षा के लिये उसने प्रार्थना की[2]। इस प्रकार ब्राह्मण नियमपूर्वक वेदादि ग्रंथों का अध्ययन करते थे। मनु (४।१४७) के अनुसार वेद पढ़ना ब्राह्मण धर्म था। याज्ञवल्क्य[3] (१।१९८) ने तो कहा कि विधाता ने ब्राह्मणों को वेदों की रक्षा के लिये देवों एवं पितरों की तुष्टि तथा धर्म की रक्षा के लिए उत्पन्न किया है। तैत्तिरीयसंहिता एवं बौधायन[4] ने लिखा है कि जिस ब्राह्मण के घर में वेद पाठी नहीं है एवं श्रौत वेदी नहीं है वह घर तीन पीढ़ियों में दुर्ब्राह्मण का घर बन जायेगा।

अध्यापन—प्राचीन काल में पिता ही पुत्र को वेद की शिक्षा देता था। ऋग्वेद का मंत्र ७।१०३।५ बताता है कि शिक्षा पद्धति अलिखित थी। गुरु के शब्दों को शिष्य दुहराता था। अब्राह्मण गुरु से भी वैदिक शिक्षा लेने की परम्परा थी, किन्तु मनु कहते हैं कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी किसी अब्राह्मण गुरु के यहाँ ठहर नहीं सकता था।

ब्राह्मणों की जीविका के साधन वेदाध्यापन एवं यज्ञ कराना (पौरोहित्य) ये जीविका के मुख्य अंग थे। तीसरा साधन था कलंकरहित व्यक्ति का दान ग्रहण

१—अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्रिक्ता मुखात्प्रजाः।
वक्षसो रजसोद्रिक्तास्तथा वै ब्रह्मणोऽभवन्।
रजसा तमसा चैव समुद्रिक्तास्तथोरुतः।
पद्भ्यामन्याः प्रजा ब्रह्मा ससर्ज द्विजोत्तम।
तमः प्रधानास्ताः सर्वाश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः। —विष्णु पु० १।६।४-५

२—निरुक्त-२।४ यही बात मनु ने भी कही है--
विद्या ब्राह्मणमित्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ —२।११४

३—तपस्तप्त्वाऽसृजद्ब्रह्मा ब्राह्मणान्वेदगुप्तये।
तृप्त्यर्थं पितृदेवानां धर्मसंरक्षणाय च॥ याज्ञ० १।१९८

४—बौधायन गृह्यपरिभाषा १।१०।५-६ तै. सं. २।१।५।५

करना। यम के अनुसार तीनों वर्णों के योग्य व्यक्तियों का प्रतिग्रह (दान) अच्छा है किन्तु धन लेकर पौरोहित्य करना एवं शिक्षा देना ठीक नहीं है।[1] मनु (४।७८) कहते हैं ब्राह्मण उतना ही अन्न संचय करे जितना एक कुम्भी के अन्दर आ जाय। विना कष्ट के अपना धार्मिक कर्तव्य करने एवं कुटुम्ब का भरण-पोषण करने योग्य ही ब्राह्मण को धनोपार्जन करना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने मनु की तरह ही व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण की जीविका नहीं चले तो फसल कट जाने के बाद खेत में जो धान की बालियाँ गिर पड़ी हों उन्हें चुनकर खायें। ब्राह्मण को अपने योग-क्षेम (जीविका एवं रक्षण) के लिये राजा के पास जाना चाहिए। वहाँ से निराश होने पर धनिक के पास जाय। वहाँ भी क्षुधापूर्ति न हो तो अपने शिष्य या सत्पात्र के पास जाना चाहिए।

स्मृतियाँ बताती हैं कि यह राजा का कर्तव्य था कि श्रोत्रिय एवं दरिद्र ब्राह्मणों के लिये जीविका का प्रबन्ध करें। राजा इसका पालन भी करता था।

शूद्रों के लिये वैदिक मंत्र पढ़ना एवं जप, तप, होम आदि वैदिक कर्म करना दण्डनीय माना जाता था। वैश्य अपनी वृत्ति छोड़कर शूद्र की वृत्ति अपना सकते थे। मनु (१०।९८) का कथन है कि आपत्तिकाल में ब्राह्मण भी शूद्र की वृत्ति अपना सकते थे। किन्तु अपना कर्म करते हुए सेवा कार्य कर सकते थे। शूद्रों के साथ भोजन, चौका-वर्तन, वर्जित खाद्य-सामग्री का प्रयोग नहीं कर सकते थे। ब्राह्मणों का भरण-पोषण अपनी वृत्ति से नहीं होता था, इसलिये तीन वृत्तियों के अतिरिक्त भी ब्राह्मण जीविका ढूढ़ते थे। गौतम, मनु, वसिष्ठ, विष्णु, नारद एवं शंख-लिखित स्मृतियों ने यह व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण अपने कर्म को करने में असमर्थ हो तो क्षत्रिय का युद्ध एवं रक्षण कार्य कर सकता है। वह भी नहीं कर सके तो वैश्य-वृत्ति अपना सकता है[2]। उच्च वर्ण को निम्न वर्ण की वृत्ति अपनाने में व्यवस्था-भंग का कठिन प्रश्न नहीं उठता था किन्तु निम्न वर्ण उच्च वर्ण का कर्म नहीं कर सकता था।

ब्राह्मण का क्षात्र कर्म—पाणिनि के ग्रंथ में (५।२।७१) ब्राह्मणक शब्द की व्याख्या है कि जो ब्राह्मण अस्त्र-शस्त्र की वृत्ति अपनाता है वह ब्राह्मणक कहलाता

१—प्रतिग्रहाध्यापनयाजनानां प्रतिग्रहं श्रेष्ठतमं वदन्ति।
प्रतिग्रहाच्छुध्यति जापहोमैर्याज्यं तु पापैर्न पुनन्ति वेदाः।

२—आपत्काले मातापितृमतो बहुभृत्यस्यानन्तरका वृत्तिरिति कल्पः। तस्यानन्तरका वृत्तिः क्षात्रोऽभिनिवेशः। एवमप्यजीवन वैश्यमुपजीवेत्। शंखलिखित

था। ब्राह्मणों की सेना भी थी जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से विदित होता है। अर्थशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के पैरों पर गिरकर शत्रु ब्राह्मणों को अपने दल में कर लेते थे। इसलिये आपस्तम्ब का कहना है कि परीक्षा के लिये भी ब्राह्मण को अस्त्र-शस्त्र धारण नहीं करना चाहिए। गौतम कहते हैं कि आपत्काल में क्षात्र धर्म (आयुधग्रहण) भी ब्राह्मण कर सकते हैं।[1] मनु कहते हैं कि "गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वारि संकटे गृह्णीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेच्छया।" अर्थात् गाय, ब्राह्मण एव नारी के लिए शस्त्र उठाने की आज्ञा शास्त्र देता है। द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य आदि सेनापति ब्राह्मण ही थे। सेनापति पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण ही था। शुंग वंश को समाप्त करने वाला कण्वायन वंश का संस्थापक वासुदेव ब्राह्मण ही था। गौतम ने ब्राह्मणों को अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिये कृषि, क्रय-विक्रय एवं ऋण लेने-देने की छूट दी है किन्तु बन्धन यह है कि स्वयं न करके यह कार्य दूसरे से करावें। ब्राह्मण व्याज पर धन देता है तो वसिष्ठ धर्म सूत्र (२।४०) कहता है कि यह ब्रह्म हत्या के समान पाप है। मनु (१०।११७), नारद (१११ ऋण-दान), एवं आपस्तम्ब (१।९।२७।१०) ने कुसीद (व्याज पर धन देने के व्यवसाय) को ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के लिये गर्हित, निन्दनीय एवं पाप माना है। इन नियंत्रणों का अर्थ था ब्राह्मण वर्ग को पवित्र जीवन बिताने की प्रेरणा देना। ऋषिगण एवं स्मृतिकार चाहते थे कि ब्राह्मण अपने उत्तरदायित्व को धनार्जन का लोभ छोड़कर ही निभा सकते हैं। अतः सरल जीवनयापन करना इस वर्ण का आदर्श था।

ब्राह्मण और वैश्य-वृत्ति—वैदिककाल में कृषि कर्म ब्राह्मण भी कर सकते थे। वेदाध्ययन के साथ खेती करना असंगत लगता था। एक में मानसिक श्रम था और दूसरे में शारीरिक श्रम की आवश्यकता थी। बौधायन ने इसीलिये दोनों को एक साथ करने की शिक्षा नहीं दी थी। कृषि-कर्म से वेदाध्ययन का नाश होता है। कृषि एवं वेदाध्ययन में ब्राह्मण के लिये वेदाध्ययन को ही श्रेष्ठ बताया गया है। विशेष अवस्था में भोजन के पूर्व कृषि-कर्म में समय दिया जा सकता है। बौधायन एवं वसिष्ठ वेद पढ़ने में असमर्थ ब्राह्मणों के लिये वैश्य वृत्ति शर्त के साथ अपनाने को कहते हैं। पराशर भी शर्त के साथ कृषि कर्म करने को कहते हैं।[2] वृद्ध हारीत ने

१—परीक्षार्थोऽपि ब्राह्मण आयुधं नाददीत—आपस्तम्ब (१।१०।२९।७)
प्राण संशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत—गौतम (७।२५)
आत्मत्राणे वर्णसंवर्गे ब्राह्मण वैश्यौ शस्त्रमाददीयताम्—वसिष्ठ (३।२४)

२—षट्कर्म निरतो विप्रः कृषिकर्माणिकारयेत्—पराशर २।२

सभी आचार्यों के वचनों को ताख पर रखकर नियम बनाया कि कृषि-कर्म सभी वर्णों के लिये उचित है।[1] मनु एवं याज्ञवल्क्य ने धार्मिक कार्यों के लिये तिल बेचने की आज्ञा दी है। मांस, लोहा एवं नमक बेचने से मनुष्य तत्क्षण पापी हो जाता है। आचार्यों ने आपत्काल में जीविका के दस साधन बताये हैं। यथा—विद्या, कला, शिल्प, परिश्रम द्वारा धनार्जन, नौकरी, पशुपालन, वस्तु क्रय-विक्रय, कृषि, सन्तोष, भिक्षा एवं कुसोद।[2] याज्ञवल्क्य ने जीविका के कुछ साधन और जोड़ दिये हैं, यथा—गाड़ी हाँकना, राजा से भिक्षा माँगना आदि। मनु ने जीविका के साधनों को ५ भागों में बाँटा है—ऋतु (खेत में गिरे हुए अन्न पर जीवित रहना) (२) अमृत (जो बिना माँगे मिल जाय) (३) मृत (भिक्षा से प्राप्त) (४) प्रमृत (कृषि) (५) सत्यानृत (वस्तु क्रय-विक्रय)। नौकरी तो मनु की दृष्टि में श्ववृत्ति है, जो कुत्ते (श्वा) के जीवन के समान है।

ब्राह्मण वर्ण भी वृत्तियों के अनुसार कई भागों में बँटा था। देव-ब्राह्मण, मुनि-ब्राह्मण, द्विज-ब्राह्मण, क्षत्र-ब्राह्मण, वैश्य-ब्राह्मण, शूद्र-ब्राह्मण, निषाद-ब्राह्मण, पशु-ब्राह्मण, म्लेच्छ-ब्राह्मण (जो कूप एवं तड़ागादि बिना मतलब के नष्ट करें।) चाण्डाल-ब्राह्मण (धर्म, संस्कार एवं क्रिया-शून्य), ये दस प्रकार के ब्राह्मण अत्रि के अनुसार बताये गये हैं।

अपरार्क एवं देवल ८ प्रकार के ब्राह्मण बतलाते हैं—(१) जाति-ब्राह्मण (२) ब्राह्मण, (जो वेद का कोई अंश पढ़ा हो) (३) श्रोत्रिय (६ अगों के जानकार एवं ब्राह्मण के ६ कर्तव्य करने वाले) (४) अनूचान (श्रोत्रिय के अतिरिक्त अर्थ-ज्ञाता एवं अग्निहोत्री हो) (५) भ्रूण (अनूचान के अलावे जो यज्ञ करता है यज्ञांश खाता है) ऋषि-कल्प (लौकिक, वैदिक ज्ञानों के ज्ञाता एवं संयमी) (७) ऋषि (अविवाहित सत्यवादी, वरदान या शाप देने योग्य हो) (८) मुनि (निवृत हो एवं अनासक्त हो)। शातातप ने अब्राह्मणों के भी ६ प्रकार बतलाये हैं।[3]

१—कृषिस्तु सर्ववर्णानां सामान्यो धर्म उच्यते। कृषिर्भृतिः पाशुपाल्यं सर्वेषाम् न निषिध्यन्ते —वृद्धहारीत ७।१७९, १८२।

२—विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः। धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दस जीवन-हेतवः। मनु० १०।११६।

३—अब्राह्मणाश्च षट् प्रोक्ता ऋषिः शातातपोऽब्रवीत्। आद्यो राजाश्रयस्तेषां द्वितीयः क्रयविक्रयी॥ तृतीयो बहुयाज्यः स्याच् चतुर्थो ग्रामयाजकः। पंचमस्तुभृतस्तेषां ग्रामस्य नगरस्य च। अनागतां तु यः पूर्वां सादित्यां चैव पश्चिमम्। नोपासीत द्विजः संध्यां स षष्ठोऽब्राह्मणः स्मृतः॥

भिक्षा एवं ब्राह्मण—आपस्तम्ब ५ कार्यों के लिये ब्राह्मणों को भिक्षा माँगने को कहते हैं—(१) आचार्य के लिये, (२) अपने प्रथम विवाह के लिये (३) यज्ञ के लिये (४) माता-पिता के रक्षण के लिये (५) योग्य महात्माओं के कर्त्तव्यों की रक्षा के लिये। ऐसे ब्राह्मणों के लिये भिक्षा माँगना अनुचित है । ३ दिनों तक कुछ खाने को नहीं मिले, तब घर या कहीं से एक दिन का भोजन बिना कहे ले सकता है पर पूछने पर सच बताना आवश्यक है। व्यर्थ की भिक्षा को शंख, वसिष्ठ, पराशर आदि अनुचित बताते हैं।

ब्राह्मण वर्ण की महिमा—पवित्र ब्राह्मण वैदिक काल में देव स्वरूप थे। विष्णु-धर्मसूत्र कहता है—

देवाः परोक्षदेवाः प्रत्यक्षदेवा ब्राह्मणाः। ब्राह्मणैर्लोका धारयन्ते। ब्राह्मणानां प्रसादेन दिवि तिष्ठन्ति देवताः। ब्राह्मणाभिहितं वाक्यं न मिथ्या जायते क्वचित् ॥ १९।२०-२२।

ऐसी हो उक्ति तैत्तिरीय आरण्यक २।१५, शतपथ ब्राह्मण १२।४।४।६ ताण्डय ब्राह्मण ६।१।६ एवं उत्तररामचरित में आई है।

मनु हो या याज्ञवल्क्य, महाभारत हो या पुराण ग्रंथ सभी ब्राह्मणों की महिमा का वर्णन करते हैं। क्रुद्ध होने पर ब्राह्मण अग्नि, सूर्य, विष एवं शस्त्र बन जाना है। अनवरत ब्राह्मणों को प्रजा सम्मान देती थी। इसलिए उनकी महत्ता शास्त्रों में वर्णित है। यह नहीं सोचा जा सकता कि धर्मशास्त्रग्रन्थों में ब्राह्मणों ने अपनी प्रशंसा लिख डाली है। यदि समाज में उन्हें आदर नहीं मिलता तो बातें केवल काल्पनिक रहतीं। वास्तविकता तो यह है कि अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह सम्यक् रूप से ब्राह्मणों ने किया। विवश होकर समाज ने उनको प्रतिष्ठित किया क्योंकि समाज के वे मार्गदर्शक थे। दुर्भाग्यवश अपने मान-सम्मान को ब्राह्मण अक्षुण्ण नहीं रख सके। यह वर्ण अपने कर्म और ज्ञान से श्रेष्ठ था जिसको जन्मना मानकर ब्राह्मणों ने अपना अधिकार मात्र मान लिया, कर्म और ज्ञान से निष्क्रिय हो गये। तभी तो अन्य वर्णों का कर्त्तव्य निर्धारण करने वाला वर्ण, आज अपने ही कर्तव्य को भूल बैठा है दूसरों का मार्ग दर्शन क्या करेगा। इसमें ब्राह्मण का दोष नहीं युगधर्म की विशेषता है—

युगधर्मस्य प्रभावोऽयं दीयते कस्य दूषणम्।

गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, वसिष्ठ, शंख एवं आपस्तम्ब आदि सूत्रकार एवं स्मृतिकार अन्य वर्णों से इस वर्ण को श्रेष्ठ बतलाया तथा अनेक प्रकार की सुवि-

धाओं से विभूषित किया, आदर दिया एवं अधिकार सौंपा। ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं के बराबर दिया जाता था। उन्हें अवध्य, अबन्ध्य, अदण्ड्य, अब हिष्कार्य, अपरिवाद्य एवं अपरिहार्य माना जाता था। अपराध सिद्ध होने पर ब्राह्मण भी दण्डित होते थे।

ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त था ताकि अपने सत्कर्मों एवं सदाचारों के साथ धर्म एवं प्रजा की रक्षा करें। यदि ब्राह्मण में संस्कार, वेदाध्ययन, सद्-व्यवहार, सदाचार एवं त्याग आदि गुण नहीं होते तो संभवतः यह विशेषाधिकार भी नहीं मिलता। द्विजत्व का कारण शास्त्र जन्म नहीं मानता है—

न योनिः नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्॥
– (वनपर्व-३१३)

जन्म, संस्कार, वेदाध्ययन और संतति इनमें से कोई द्विजत्व का कारण नहीं है। केवल आचरण द्विजत्व का कारण है। सत्य, दान, क्षमा, शील, मृदुता, तप और दया जिसमें दिखाई दें उसको ही ब्राह्मण कहने की आज्ञा महाभारत देता है[1] आचारहीन ब्राह्मण कोई भी पूज्य नहीं होता, वेद या वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन आचारवान् बनाते हैं। यदि इनसे आचरित जीवन ब्राह्मणों का नहीं बना तो ब्राह्मण पूज्य नहीं है।

आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य,
वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था
अन्धस्य दारा इव दर्शनीया॥

आचारहीन ब्राह्मण को वेदाङ्ग एवं यज्ञ सहित वेद कोई आनन्द नहीं दे सकते जिस प्रकार सुन्दर दर्शनीय पत्नी अन्धे पति को आनन्द नहीं दे सकती।

द्विज में क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण भी आता है। क्षत्रिय को राजन्य भी कहा जाता है। यह शासक तथा रक्षक वर्ग है। राजा ब्राह्मण को छोड़कर सबका स्वामी है—"राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्"। ब्राह्मण की प्रेरणा से कार्य करने वाला राजा समृद्धशाली होता है। ब्राह्मण को धर्म का विधान करने वाला माना जाता था

१—सत्यं दानं क्षमाशीलम् आनृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥ वनपर्व १८०।२१

तो राजा को उसका पालन कराने वाला कहा जाता था। इन दोनों के समन्वय से लोक रक्षा होती थी। दण्ड देना राजा का धर्म है। अगर वह दण्ड देने में अनियमितता वरते तो वह पापी है। राजा निरंकुश नहीं होता था वह ब्राह्मण एवं योग्य विधि-वेत्ताओं पर निर्भर था। राजा का यह कर्तव्य था कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्णों के कर्मों की रक्षा करें, ताकि वे लोग धर्म, अर्थ, काम की साधना करें। सभी वर्ण अपने कर्म में रत रहें तभी समाज का विकास सम्भव था। इसलिये सभी वर्णों के अलग-अलग कर्म एवं धर्म निर्धारित किये गये।

क्षात्र धर्म था—

प्रजानां रक्षणं दानम् इज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्ति च क्षत्रियस्य समादिशत्॥

—मनु० १।८९

प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, विषयों में अनासक्ति होना, क्षत्रियों के लिये निर्धारित किये गये।

वैश्यवर्ण का धर्म था—

पशूनां रक्षणं दानम् इज्याध्ययनमेव च।
वणिकपथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

—मनु १।९०

पशुओं का पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन, व्यापार करना, लेन-देन करना, खेती करना आदि कर्म वैश्य के लिये बनाये गये। याज्ञवल्क्य भी कहते हैं—

इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च। १।११८
कुसीदकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यं विशः स्मृतम्॥ १।११९

द्विजमात्र के लिये तीन कर्म सामान्य बतलाये गये हैं। यज्ञ करना, वेदाध्ययन करना एवं दान देना इन कर्मों के कारण ही द्विजत्व की रक्षा होती थी। राष्ट्र की समृद्धि इस वैश्य वर्ण पर आश्रित थी। विष्णु भागवत का कथन है कि—जाति या वर्ण परिचायक जो चिह्न बतलाये गये हैं वह चिह्न यदि दूसरी जाति के मनुष्य में दिखायी पड़े तो उसे उसी जाति का समझना चाहिए।[1] इस श्रेणी में

१—यस्य यत् लक्षणं प्रोक्त पुंसो वर्णाभिव्यंजकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्॥ ७।९।३५

व्यापारी, सौदागर, उद्योग धंधों के प्रबन्धक, पूँजीपति आदि आते थे। इनके ऊपर देश की प्रगति निर्भर थी। वे परहित की भावना से ओतप्रोत होते थे। व्यक्तिगत उन्नति के स्थान पर सबकी उन्नति एवं कल्याण के आकांक्षी थे।

शूद्रों की स्थिति

मनु कहते हैं—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।। १।९१

प्रभु ने शूद्रों के लिये एक ही काम बनाया है कि बिना अनसूया (डाह)के द्विजवर्णों की सेवा करें।

आपस्तम्ब की उक्ति है—शुश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम् ।। गौतम भी इसी विचारधारा के पोषक हैं "परिचर्या चोत्तरेषाम्। तेभ्यो वृत्तिं लिप्सेत्। तत्र पूर्वं परिचरेत्।" महाभारतकार ने आध्यात्मिक पुट देकर लिखा कि—प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्। इन उक्तियों से लगता है कि शूद्र का सेवा के लिए जन्म हुआ है। वैदिक काल में आर्यों की विरोधी जाति होने के कारण इसे दस्यु, दास आदि नामों से पुकारा गया। हिन्दूसमाज ने अपनी वर्ण व्यवस्था का जब एक अंग इसे बना लिया तो कुछ अधिकार और कर्तव्य भी निर्धारित कर दिये। केवल शुश्रूषा [illegible] पोषण नहीं होता था तो शिल्पी का जीवन भी वे लोग बिताते थे। कई शूद्र वैश्य एवं क्षत्रिय का भी कार्य करते थे। याज्ञवल्क्य की दृष्टि में[1] शूद्र केवल सेवा वृत्ति पर ही निर्भर नहीं रह सकते थे। जीविका के लिये शूद्र बढ़ईगिरी, चित्रकारी, पच्चीकारी, रंग साजी, नृत्य, गायन, वादन आदि कर्मों को कर सकते थे। लघ्वाश्वलायन तथा हारीत ने शिल्पी का जीवनयापन शूद्रों के लिये शास्त्रसम्मत बताया है। कृषिकर्म भी शूद्र धर्म में था। कृषक के रूप में अनेक शूद्र जीवनयापन करते थे। महाभारत तो जीविका न मिलने पर वाणिज्य और पशुपालन का कर्म अपनाने को बताता है।[2] इससे लगता है कि शूद्रों का कर्मक्षेत्र विस्तृत था। वे खेतीहर

१—शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तथाऽजीवन्वणिग्भवेत्।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद्द्विजातिहितमाचरन् ।। १।१२०

मिताक्षरा टीका में देवल की उक्ति उद्धृत है—

शूद्र धर्मो द्विजातिशुश्रूषा पापवर्जनं कलत्रादिपोषणं कर्षण पशुपालनमारोद्वहनपण्यव्यवहारचित्रकर्मनृत्यगीतवेणुवीणामुरजमृदङ्गवादनादीनि।

२—वाणिज्यं पशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्। शूद्रस्यादि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते
शान्ति पर्व—२९५।४

थे, महाजन थे, दुकानदार थे, व्यापारी थे, वीणा वादक, मृदंग एवं ढोलक बजाने वाले थे।

शूद्रों को दो भागों में बाँटा गया था (१) अनिरवसित (बढ़ई एवं लोहार आदि) (२) निरवसित शूद्र (चाण्डाल, श्वपच आदि) के कुछ शास्त्रकारों की दृष्टि में शूद्रों को खानपान के आधार पर दो वर्गों में बांटा गया (१) भोज्यान्न—(जिनका बनाया भोजन द्विज खा सकते थे) इस वर्ग में पशुपालक, नाई और कृषक आदि थे। (२) अभोज्यान्न (जिनका बनाया भोजन नहीं चलता था) भविष्य पुराण में सच्छूद्र की परिभाषा बताई गई है जो मांस एवं शराब न प्रयोग करता हो तथा सद्व्यवसाय करता हो[१]। अतः शूद्र को भी मांस एवं शराब के प्रयोग का निषेध था।

शूद्रों पर प्रतिबन्ध एवं वर्जित कर्म—वेदाध्ययन वे नहीं कर सकते थे। बहुत पहले यह नियम कठोरता पूर्वक पालन नहीं किया जाता होगा। छान्दोग्य उपनिषद् में रैक्व ने जानश्रुति नामक शूद्र को ब्रह्मविद्या सिखलाई। बाद में वेदाध्ययन पर कठिन पावन्दी लगा दी गई। शूद्र पुराण एवं महाभारत का पाठ सुन सकते थे भारद्वाज श्रौतसूत्र ५।२।८ एवं कात्यायन श्रौतसूत्र में १।१।६ से स्पष्ट झलकता है कि वैदिक क्रिया एवं संस्कार शूद्रों के लिये भी थे। किन्तु धर्मसूत्रकारों एवं स्मृतिकारों ने वैदिक मंत्रों से शूद्र को दूर रखना ही उचित समझा इसलिये उनके मोक्ष ज्ञान के लिये अलग-अलग सरल विधान बनाये। षडक्षर राममंत्र एवं पंचाक्षर शिव-मंत्र का वे जप कर सकते थे तथा साधारण अग्नि में आहूति दे सकते थे। शूद्र व्रत, उपवास एवं दान कर सकते थे। पूर्त धर्मपालन करने में शास्त्र बाधक नहीं था। अनेक प्रायश्चित्तों एवं संस्कारों के चक्कर से शूद्र प्रायः मुक्त रखे गये।

आश्रम धर्म

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आश्रम चार हैं—(१) गार्हस्थ्य, (२) गुरुगृह में रहना, (३) मुनि रूप में रहना (४) वान प्रस्थ (वन में रहना) इस धर्मसूत्रकार ने गृहस्थ धर्म की महत्ता के कारण पहला नाम गार्हस्थ्य का लिया। गौतम के अनुसार—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु एवं वैखानस तथा वसिष्ठ के अनुसार—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं परिव्राजक या यति चार आश्रम हैं। मनु चौथा आश्रम संन्यासाश्रम बतलाते हैं।

१—न सुरां सन्धयेयस्तु आपणेषु गृहेषु च। न विक्रीणाति च तथा सच्छूद्रो हि स उच्यते ॥ भ्रा० वि० ४४।३२.

इन आश्रमों की कल्पना हमारे ऋषियों ने मानव जीवन को नियमित, संयमित एवं आध्यात्मिक बनाने के लिए की। ऋषि प्रणीत आश्रम व्यवस्था हिन्दू संस्कृति का मुख्य स्तम्भ है। मानव जीवन भौतिक आवश्यकताओं के लिये ही नहीं है वरन् भौतिक आवश्यकतायें तो आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए सहायिका मात्र हैं। लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को सुखमय एवं आनन्दमय बनाने के लिए ही आश्रमों की व्यवस्था की गई। आश्रम शब्द अपना परिचय स्वयं देता है। "आश्राम्यन्ति अस्मिन् आश्रमः", (श्रम का जीवन) मनुष्य के जीवनयापन के लिये चार अवस्थायें बनाई गईं। जीवन का हर क्षण धार्मिक हो एवं जीवन का हर क्षण आनन्द से उल्लसित हो, यह ध्येय आश्रम व्यवस्था से पूरा होता है। इस व्यवस्था के पीछे समाज की उदात्त भावना छिपी थी। सबको कार्य करने का समय निर्धारित था ताकि समाज में असंगति, असन्तोष, अनुशासनहीनता एवं असद् आचारण का जन्म न हो सके।

ऋग्वेद एवं अन्य वैदिकसंहिताओं में ब्रह्मचर्य की चर्चा आई है। ब्रह्मचारी के रूप में जीवनयापन करने के लिये जीवन का कुछ भाग निश्चित था। गृहस्थ जीवन की भी चर्चा आई है किन्तु गृहस्थाश्रम के रूप में नहीं है। वानप्रस्थ की चर्चा स्पष्ट रूप से वेद में नहीं है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में 'वैखानस' शब्द आया है जो वानप्रस्थ का समानार्थी समझा जाता है। यति शब्द ऋग्वेद में आया है किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि वह संन्यास का बोधक था।

ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन आया है कि "किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः। पुत्रं ब्रह्मांण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः" अर्थात् मल (सम्भोग) से क्या लाभ मृगचर्म, दाढ़ी एवं तप से क्या लाभ ? हे ब्राह्मण पुत्र की इच्छा करो। वह विश्व है जिसकी बड़ी प्रशंसा होगी। यहाँ मृगचर्म से ब्रह्मचारी का बोध किया जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम में मृगचर्म आवश्यक आसन था। श्मश्रूणि से वानप्रस्थ का बोध होता है। वानप्रस्थ में दाढ़ी, बाल आदि काटा नहीं जाता था। तप संन्यास का सूचक है। गौतम वैखानस का वर्णन करते हुए उनको तपःशील भी बताया है। इससे भी स्पष्ट संकेत छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है जिसमें धर्म के तीन स्कन्ध बताये गये हैं। यज्ञ, अध्ययन, दान, में पहला (गृहस्थाश्रम), दूसरा तप में एवं तीसरा ब्रह्मचर्य में धर्म का अलग-अलग रूप मिलता है। तीन आश्रमों की चर्चा है। लगता है उस समय तक वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में भेद नहीं था। बृहदारण्यकोपनिषद् एवं जाबालोपनिषद् में चारों आश्रमों की सविधि व्याख्या मिलती है।

परिव्राजक या संन्यासी शब्द ईसा से ३०० वर्ष पहले भारत में प्रचलित था। बौद्ध भिक्षु, प्रव्रज्या (पब्बज्जा) शब्द पाणिनि के काल में प्रचलित था। मस्करी शब्द का अर्थ भी परिव्राजक लगाया जाता है। मुक्ति के लिये या ज्ञान के लिये तपस्या एवं ज्ञान के बाद भिक्षुक की चर्चा बौद्ध साहित्य में प्रचूर है। उपनिषद् भी निर्वेद या वैराग्य की शिक्षा खूब देते हैं।

वर्ण का सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज के लिये था, किन्तु आश्रम का सिद्धान्त व्यक्ति के लिये था। सामाजिक दृष्टि से एक व्यक्ति के अधिकार एवं कर्तव्य को शिक्षा देना वर्ण धर्म था, किन्तु व्यक्ति को अपना जीवन कैसे बिताना है एवं आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है ? आश्रम धर्म के इन शंकाओं एवं समस्याओं का समाधान करता था। विभिन्न आश्रमों के अन्तर्गत जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के लिये स्पष्ट कर्तव्य निर्दिष्ट है जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालते हैं।

ब्रह्मचर्य—जीवन का प्रथम चतुर्थांश ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता था। यह जीवन का आदि काल था। सम्पूर्ण जीवन रूपी अट्टालिका की नींव इसी आश्रम में रखी जाती थी। अनुशासन एवं संयमों का पालन करते हुए अक्षय ज्ञानार्जन करना इसका उद्देश्य था। मनु ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि ३६ वर्ष बताते हैं। इतना न हो सके तो इसका आधा, इतना भी नहीं हो सके तो चतुर्थांश हिस्सा ज्ञानार्जन में लगाना चाहिए।[१]

ब्रह्मचर्य शब्द "बृहत्वाद बृंहणत्वात् वा, आत्मैव ब्रह्म इति गीयते" से बनता है। आत्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्म के रूप में ही समस्त संसार का बृंहण या प्रसारण करता है, आत्मज्ञान ही सभी प्रकार के अन्धकारों का उन्मूलन कर सकता है। एतदर्थ ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुगृह में शास्त्र ज्ञान प्राप्त किया जाता था।

ज्ञानब्रह्म एवं शुक्रब्रह्म को संचित करने का यही आश्रम है। अन्न से शुक्र होता है और शुक्र से ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिये अन्न को भी ब्रह्म कहा गया है, शुक्र भी ब्रह्म है एवं ज्ञान को भी ब्रह्म से सम्बोधित किया जाता है।

मनु कहते हैं कि अन्न की पूजा करें तथा बिना निन्दा किये हुए भोजन करें तब शरीर में बल उत्पन्न होगा।[२] ऐसे अन्न से उत्पन्न शुक्र ब्रह्मशुक्र कहलाता है।[३]

१—षट्त्रिंशदऽब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् तदर्धिकं, पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा।

२—पूजयेद् अशनं नित्यं अद्यात् च एतद् अकुत्सयन्,
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलम् ऊर्जं च यच्छति।

३—पाके रसस्तु द्विविधः प्रोच्यतेऽन्नरसात्मकः, रससारमयोभागः शुक्रं ब्रह्मसनातनम्।

ब्रह्मचारियों को आहार शुद्धि पर ध्यान देना चाहिए। चरक का कहना है कि—

आहारस्य परं धाम शुक्रं, तदरक्ष्यं आत्मनः।
क्षयो हि अस्य बहून रोगान्, मरणं च, प्रयच्छति ॥

अर्थात् आहार से शुक्रब्रह्म की उत्पत्ति होती है। इसकी रक्षा करनी चाहिए। इसके नष्ट होने से अनेक रोग होते हैं, मृत्यु होती है 'मरणं विन्दुपातेन' और संचय से आत्मज्ञान मिलता है। जीवन की आधारशिला इसी आश्रम में रखी जाती है।

'ज्ञानं, शौर्यं, महः सर्वं ब्रह्मचर्ये प्रतिष्ठितम्।

गार्हस्थाश्रम—ब्रह्मचर्य के बाद व्यक्ति विवाह करता था, संसार के आनन्द का स्वाद गृहस्थ जीवन में लेता था। सन्तानोत्पत्ति करता था। कुल की स्थापना करता था। सभी आश्रमों में यह श्रेष्ठ था। जीवन का यौवन काल इसी आश्रम में बीता था। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने इस आश्रम में बहुत नियमों का निर्देश दिया। अन्य आश्रमों को शक्ति प्रदान करने वाला यही आश्रम था। अन्य आश्रम-वासी गृहस्थों से मान, सम्मान, भोजन आदि पाते थे।

गौतम कहते हैं "एकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधाना; गार्हस्थ्यस्यैव" अर्थात् सभी आचार्य गृहस्थाश्रम को ही प्रधान मानते हैं क्योंकि सभी आश्रमों का यह उपजीव्य है।

मनु भी यही कहते हैं कि—

"गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः सत्रिनेतान्विभर्तिहि" ६।९

इससे स्पष्ट है कि तीन आश्रम वासियों का भरण-पोषण यही आश्रम करता था।

गृहस्थ का धर्म—देव, पितृ, मनुष्यर्षि पूजन ही इस आश्रम का मुख्य धर्म है। सन्तानोत्पत्ति करना भी धर्म माना गया है।[1] अर्थार्जन गृहस्थ कर्मों के सम्पादन के लिये आवश्यक है। याज्ञवल्क्यस्मृति का कथन है कि "आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्माम-शठां तथा" अर्थात् गृहस्थको स्वधर्मानुकूल, सरल और शठता से वर्जित जीविका करनी चाहिए।

१—किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं सर्वलोको वदावदः ॥ ऐ० ब्राह्म० ३३।११

अतिथि सत्कार इस आश्रम धर्म के अन्तर्गत आता है। यथा—

दद्यात्सदैवातिथीन्भोजयेच्च

—मत्स्य पुराण-४०।३

भोजयेत्पूर्वमतिथि—

अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेद विचारयन

—मनु–३।११४

संभोज्यातिथि भृत्यांश्च दम्पत्यो शेषभोजनम्

—याज्ञ–१।१०५

अतिथि को भोजन करा कर ही भोजन करना चाहिए।

यज्ञ—देवताओं के प्रीत्यर्थ यज्ञ करना चाहिए। याज्ञिक अनुष्ठान गृहस्थों के लिये अपेक्षित है। मत्स्य पुराण कहता है कि 'धर्मागत प्राप्य धनं यजेत' अर्थात् धर्म पूर्वक प्राप्त धन यज्ञ में व्यय करना चाहिए।

बलिकर्म एवं स्वाध्याय – गृहस्थों को भूतों की सन्तुष्टि के लिये बलि कर्म करना चाहिए।[1] ऋषियों की अर्चना एवं पूजा करने के लिये या ऋषि ऋण से उऋण होने के लिये स्वाध्याय करना चाहिए।[2]

पंच महायज्ञ—शतपथ ब्राह्मण की व्यवस्थानुसार ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, पितृ यज्ञ, नृयज्ञ एवं भूत यज्ञ ये पाँच महायज्ञ हैं। प्रतिदिन गृहस्थ के घर ५ प्रकार के पाप होते हैं—ओखल (कण्डनी), पीसने (पेषणी), चुल्ली से (चुल्हे से), जल-कुम्भी से (जलपात्र कुएँ के भरने से) एवं झाड़ू आदि से (प्रमार्जनी)।[3] इन पाँच पापों से मुक्ति पाने के लिये नित्यप्रति ५ महायज्ञ बतलाये गये हैं।

ऋषियज्ञ अध्ययन-अध्यापन को कहते हैं। मनु इसे स्वाध्याय यज्ञ कहते हैं। पढ़ना, मनन करना और दूसरों को ज्ञान की शिक्षा देना इस यज्ञ का लक्ष्य है।

देवयज्ञ—का वाह्य रूप होता है। देवताओं की प्रसन्नता के लिये अपने श्रम से प्राप्त वस्तुओं का कुछ अंश होम द्वारा उन्हें देना चाहिए।

---

१ —अन्नैर्मुनींश्च स्वाध्यायैरपत्येन प्रजापतिम्। –वि० पु० ३.९।१०
पितृंश्राद्धैरन्नदानैर्भूतानि बलिकर्मभिः। –म० पु० ५२।१४

२—स्वाध्यायैरचर्ययेच्चर्षीन् होमैर्विद्वान्यथा विधि। –म० पु० ५२ १४

३ —कण्डनी पेषणी चुल्ली जलकुम्भी प्रमार्जनी।
पंच सूना गृहस्थस्य तेन स्वर्गं न गच्छति। –म० पु० ५३।१६ एवं मनु ३।६८–७०

पितृ यज्ञ—वाह्य रूप है तर्पण। अपने पूर्वजों के ऋण को समझकर पितरों की अर्चना पिण्डदान एवं तर्पण से करनी चाहिए।

नृयज्ञ वाह्य रूप है अतिथिसत्कार। मानवता की सेवा करने की प्रवृत्ति इससे जगती है।

भूत यज्ञ—भोजन के पूर्व पशु-पक्षियों एवं सूक्ष्म जीवों के लिए कुछ आहार देना तथा बलि कर्म करना भूत यज्ञ कहलाता है।

मनु की व्यवस्था है—

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यः तेभ्यः कार्यं विजानता॥
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि।
पितृन्श्राद्धैश्च नृन् अन्नैः भूतानि बलिकर्मणा॥ ३।८०-८१॥

ऋषि, पितर, देव, भूत तथा अतिथि सब लोग कुटुम्बी गृहस्थ से आशा करते हैं। इसलिये जानने वाले को यह सब करना चाहिए।

ऋषियों को वेद के अध्ययन से, देवों को होम से, पितरों को वेद के अध्ययन से, मनुष्यों को भोजन से और भूतों को बलि से विधिवत् तृप्त करना चाहिए।

वानप्रस्थ

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यंसमाश्रयेत्॥ मनु ६।२

गृहस्थ जब अपने शरीर पर झुर्रियाँ, बालों में सफेदी और लड़के की गोद में लड़का देखे, तब अरण्य को ओर प्रस्थान करे। विष्णु पुराण पत्नी का सहवास एच्छिक उद्घोषित करता है। याज्ञवल्क्यस्मृति ने व्यवस्था दी है कि पत्नी को पुत्रों के पास रखा जा सकता है।[1] सभार्या अगस्तऋषि वैखानस आश्रम व्यतीत किये, ऐसा उदाहरण मत्स्य पुराण में आया है।[2]

उद्देश्य—धर्मशास्त्रों एव पुराणों ने व्यवस्था दी है कि तपस्या का आचरण वैखानसों का लक्षण माना गया है।[3] गौतमस्मृति में वैखानस को तपःशील कहा

१—सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वनुगतो वनम्। वानप्रस्थ–४५
२—सभार्यः संवृतो विप्रैस्तपश्चक्रे सुदुश्चरम्। म० पु० ६१।३७
३—साधनात्तपसोऽरण्ये साधुर्वैखानसः स्मृतः। वायु पु० ५९।२४

गया है। मनु के मत में वानप्रस्थ आश्रमी को तपश्चर्या के द्वारा अपने शरीर को शोषित करना आवश्यक है।[1]

आहार—इस आश्रम में पर्ण, फल एवं मूल (पर्णमूलफलाहार:) जो वन में सुलभ है, आहार बतलाया गया है। मत्स्यपुराण बताता है कि वानप्रस्थी ययाति नृप खेतों में बचे हुए अनाजों से भोजन करते थे। गौतम एवं मनु भी फल, शाक एवं मूल पर निर्वाह करने की व्यवस्था देते हैं।

वस्त्र—वन में जो सुलभ हो वही वस्त्र धारण करना उचित था। वन में चर्म, कुश, एवं काश मिलते हैं उसी से परिधान एवं उत्तरीय बनाना पड़ता था। मनु चर्मचीर की व्यवस्था देते हैं।[2] हारीत वस्त्र के सम्बन्ध में लिखते हैं कि—"वल्कलशाणचर्मचीरकुशमुञ्जफलकवास:" अर्थात् वल्कल, कुश एवं मूंज से वस्त्र बनाया जा सकता था।

कर्म—दोनों काल (प्रात:-सायम्) स्नान करें। संध्या करें। याज्ञवल्क्य-स्मृति त्रिकाल स्नान की व्यवस्था देती है तो मनुस्मृति दो बार कहती है। हवन कार्य इस आश्रम का मुख्य नियम था। अतिथिसत्कार मुख्य कर्त्तव्य था। विष्णु-पुराण की उक्ति है कि अभ्यागतों की पूजा वानप्रस्थी का परम कर्त्तव्य है।[3] गौतम धर्मसूत्र निषिद्ध व्यक्तियों के अतिरिक्त आये हुए सभी लोगों को अतिथि की संज्ञा देता है। वसिष्ठ भी सभी अतिथियों की सेवा का सन्देश देते हैं।[4] मत्स्यपुराण में नहुष की अतिथि सेवा वर्णित है।

दान—भिक्षादान मुख्य दान है। वानप्रस्थी किसी से लेता नहीं है किन्तु यथा शक्ति देता है। वन में रहकर भी कल्याण की भावना वानप्रस्थी में रहनी चाहिए। स्वार्थ की जगह परार्थ की चिन्ता करना श्रेयस्कर है।

यह आश्रम संन्यासाश्रम की तैयारी है। आचरण, आहार एवं कर्त्तव्य की दृष्टि से जीवन की यह अवस्था सबसे कष्टकर एवं दुरूह मालूम पड़ती है।

१—उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मन: ॥ ६।२४

२—वसीत चर्मचीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६।६

३—अतिथीन्पूजयन्नित्यं। म० पु० ३५।१४

४—आश्रमागतमतिथिमभ्यर्चयेत्। —वसिष्ठ धर्मसूत्र ९।७।

संन्यासाश्रम

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्मकरोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निः नचाक्रियः ॥

भगवद्गीता में वर्णन आया है कि कर्म के फल का विचार न करके जो अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है। जो निरग्नि और क्रिया रहित है, वह संन्यासी अथवा योगी नहीं है। मनुस्मृति ने व्यवस्था दी है कि आयु के तृतीय भाग में वनों में बिहार करके आयु के चौथे भाग में सब सङ्गों का परित्याग कर दे तब सन्यास ग्रहण करके भ्रमण करना चाहिए।[1] इस आश्रम को परमाश्रम कहते हैं।[2] इसमें भिक्षु का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। संन्यासी बनने से पहले संसार के सभी सम्भावित पापों का अपहार आवश्यक था, इसके लिये ही वानप्रस्थ आश्रम था। गृहस्थ आश्रम के बाद संन्यासाश्रम अपनाने पर भौतिक भोगों की आसक्ति उसे आकृष्ट कर सकती है। इसलिये गृहस्थाश्रम के बाद एक अवस्था संन्यास के लिये तैयारी ही होती है।

पुराणों में ब्रह्मचर्य के बाद ही संन्यास में प्रवेश के कई उदाहरण मिलते हैं। नहुष पुत्र ययति ने कुमारावस्था में ही सन्यासाश्रम को अपना लिया था। मनोवृत्ति की परिपक्वता इस आश्रम में आवश्यक है। तभी तो सौभरि ऋषि ने संन्यासी बनने के पूर्व वानप्रस्थी होकर समस्त पापों का क्षय किया। मन को विजित करके वैरागी बने।

उद्देश्य—एक ही लक्ष्य इस आश्रम का है—मोक्ष प्राप्त करना। विष्णु पुराण ने इसे मोक्षाश्रम भी व्यक्त किया है। जिस प्रकार ईन्धन रहित अग्नि शान्त रहती है वैसे ही इम आश्रम में व्यक्ति गतिशून्य शान्ति का अनुभव करता है। शुभ-अशुभ कर्मों का परित्याग कर देत। है। याज्ञवल्क्य ने सत्य, अस्तेय, अक्रोध, लज्जा, शौच धीः, कृति, दम, संयम, (इन्द्रिय संयम), आत्मज्ञान आदि[3] गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को ही संन्यासी माना है।

१—वनेषु तु विहृत्यैव तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्।

२—आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तस्तु परमाश्रमम्।
अतः संवत्सरस्यान्ते प्राप्य ज्ञानमुत्तमम् ॥ वा० पु० १६।१

३—सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः ॥ ३।६६

गौतम धर्मसूत्र में भिक्षु को 'अनिचय' की संज्ञा दी गई है। संन्यासी धनसंग्रह नहीं कर सकता है। ब्रह्मप्राप्ति तभी हो सकती है जब कि सांसारिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति हो। मनु भी निर्देश करते हैं कि राग-द्वेष का क्षय एवं इन्द्रिय-निरोध मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक है।[1]

इन्द्रियनिग्रह के अभाव में संन्यास सफल नहीं हो सकता। जितेन्द्रिय या अव्यवाय आवश्यक है।

गौतम धर्मसूत्र संन्यासी के लिये 'उर्ध्वरेताः' लिखा है।[2] वीर्य भंग नहीं करे। वर्षा ऋतु में एक जगह ही रहे। भिक्षा के लिये ही गाँव जायें। वाणी, नेत्र और कर्म में संयम करें।[3] केवल गुप्तांगों के आच्छादन के लिये पर्याप्त वस्त्र धारण करें। मनु के मत से संन्यासी को अल्पाहार करना चाहिए। मत्स्य पुराण कहता है कि भिक्षु वही है जिसका अपना घर नहीं है।[4] वसिष्ठधर्मसूत्र परिव्राजक को अभय दान देना कर्तव्य बताता है।[5] योगी अपनी योग साधना से इसी चौथे आश्रम में परमात्मा का दर्शन करते हैं।

१—इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेष-क्षयेण च।
अहिंसया चभूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६।६०

२—उत्तरेषां चैतदविरोधीति, जितेन्द्रियत्वे सिद्धेऽपि पुनरूर्ध्वरेता। इति।
रेतसः स्रोतोभङ्गो यथा भवेत्तथा प्रयतेतेत्येवमर्थम् ॥ १।२।११

३—वाक् चक्षुः कर्मसंयतः—गौतम धर्मसूत्र १।२।१६
धर्मयोगं पथिप्रश्नं स्वाध्यायं च तथैव च।
भिक्षार्थं देहि वचनं न निन्दति यतेरपि ॥

४—अनोकाशायी विगूहश्च...देशान्तेचरः सभिक्षुः म० पु० ४०।४

५—अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा चरति यो मुनिः। तस्यापि सर्वं भूतेभ्यो न।
भयं जातु विद्यते। वसिष्ठ धर्मसूत्र। १०।१-२

छठाँ अध्याय

वर्णाश्रम धर्म

चार वर्ण एवं चार आश्रम सनातन धर्म की विशेषता है। समाज को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित करने के लिये वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। व्यक्ति के जीवन को संयमित, नियमित एवं गतिशील बनाने के लिए आश्रमों की व्यवस्था की गई। भारतीय धर्मशास्त्रों में वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याणपरक कर्मों का अपूर्व समन्वय परिलक्षित होता है। प्रत्येक वर्ण के लिये सामाजिक कर्तव्य निर्धारित किये गये थे जिनकी चर्चा वर्ण धर्म में की जा चुकी है। प्रत्येक आश्रम में प्रत्येक वर्ण के कर्तव्याकर्तव्य का वर्णन ही वर्णाश्रम धर्म है।

वर्णों के निर्धारित आश्रमों को जाबालोपनिषद् में व्याख्या की गई है। ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् गृहीभूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। इन आश्रमों को अपनाने के सम्बन्ध में ३ मत प्रचलित है।

(१) समुच्चय (२) विकल्प (३) बाध

समुच्चय मत वालों का कहना है कि चारों आश्रमों को क्रम से पालन करना चाहिए। किसी एक आश्रम को छोड़कर दूसरा आश्रम अपनाना अनुचित है। इस मत के प्रबल समर्थक मनु हैं। गौतम, बौधायन एवं आपस्तम्ब भी गृहस्थ आश्रम को विशेष महत्व देते हुए अन्य आश्रमों का वर्णन करते हैं।

(२) विकल्प—इस मत वाले ब्रह्मचर्याश्रम के बाद विकल्प की बात करते हैं। आश्रमों का क्रम इन मत वालों के लिये उचित नहीं है। अध्ययन समाप्त करने के बाद संन्यास आश्रम या परिव्राजक धर्म अपनाया जा सकता है। या गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम को न अपना कर संन्यास आश्रम को ही धारण किया जा सकता है। इस विकल्प मत के समर्थक ग्रन्थों में पहला स्थान जाबालोउपनिषद् का है।[1] याज्ञबल्क्य, वसिष्ठ एवं लघु विष्णु ने भी इस मत का समर्थन किया है।

१— ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृहीभवेत् गृहीभूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा' इति (जाबाल उप०)

बाध—इस मत वालों का विचार है कि सभी आश्रम कलियुग के लिये अनुकरणीय नहीं है। एक ही आश्रम वास्तविक है वह है गृहस्थाश्रम। इस आश्रम की तैयारी के लिये ब्रह्मचर्याश्रम है। ब्रह्मचर्याश्रम का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है वरन् वह गृहस्थाश्रम के लिये आचरित किया जाता है। इस मत की चर्चा गौतम ने मुक्त कण्ठ से की है।[1]

मनु[2] ने इस आश्रम को सर्वोत्कृष्ट माना है। विज्ञानेश्वर ने इन तीनों मतों की चर्चा की है और तीनों मतों को वैदिक धर्म सम्मत माना है। कोई भी मत व्यवहार में लाया जा सकता है।

ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचारी के धर्म—उपनयन (उप=समीप, नयन=ले जाना) के पश्चाद् द्विज को गुरु के निकट विद्याध्ययन के लिये लाया जाता था। उपनयन एक संस्कार है जो वेदाध्ययन या ब्रह्मचर्याश्रम के पूर्व सम्पादित कर दिया जाता है।

उपनयन के उपरान्त तीन रात या १२ रात या १ वर्ष तक लवण नहीं खाना चाहिए। पृथ्वी पर शयन करना चाहिए।[3] ३ दिनों तक अग्नि प्रज्वलित रहनी चाहिए।[4] यह अग्नि उपनयन काल की है उसके बाद साधारण अग्नि में समिधाडाली जाती थी। समिधा पलाश, अश्वत्थ, न्यग्रोध, प्लक्ष, वैकंकत, उदुम्बर, विल्व, चन्दन, सरल, शाल, देवदारु एवं खदिर की हो सकती है। गुरु की आज्ञा से ब्रह्मचारी अन्य धर्मों का पालन करें।

(१) **भिक्षा माँगना**—आचार्य पात्र एवं दण्ड देता है आचार्य के आदेश से पहली भिक्षा माता से और अन्य भिक्षा दयालु घरों से माँगकर गुरु को देता है। ब्राह्मण 'भवति भिक्षां देहि' कहें राजन्य (क्षत्रिय) 'भिक्षां भवति देहि' कहें एवं

१—एकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थस्यैव। गौ० ध० सू० १-३-३५

२—यथावायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ ३।७७
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृति विधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि॥ ६।८९
यदा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम्॥ ६।९०

३—अश्वलायन गृह्यसूत्र १।२२।१७

४—बौधायन गृह्यसूत्र २।५।५५

वैश्य 'देहि भिक्षां भवति' कहकर भिक्षा माँगें।[1] मनु, याज्ञवल्क्य, गोभिल, खादिर एवं शांखायन ने भी इन्हीं नियमों का वर्णन किये हैं। ब्रह्मचारी को भिक्षा देने में आनाकानी नहीं करना चाहिए, अन्यथा संचित पुण्य नष्ट हो जाते हैं।

शूद्रों से भोजन नहीं माँगना चाहिए।[2] आपत्तिकाल में भी शुद्र के यहाँ का पकाया भोजन नहीं लेना चाहिए।[3] भिक्षा पर आश्रित ब्रह्मचारी उपवास का फल पाता है। थोड़ी-थोड़ी कई घरों से भिक्षा लेनो चाहिए ताकि एक घर पर भार नहीं पड़े।[4] अग्नि में समिधा डालना और भिक्षा माँगना ब्रह्मचारी का आवश्यक कर्तव्य माना जाता था।[5] गुरु के लिये भी भिक्षा मांगी जाती थी। गुरु की अनुपस्थिति में गुरुपत्नी, या गुरुपुत्र को निवेदित कर भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। गुरु सेवा के कार्य में ब्रह्मचारी का धर्म था जलपात्र में जल लाना, पूजा की सामग्री जुटाना।

संध्या—उपनयन के बाद सन्ध्या करना अनिवार्य है। इसमें गायत्री मंत्र की प्रधानता है। प्रातः एवं संध्या काल में सन्ध्योपासना करनी चाहिए। सूर्योदय एवं सूर्यास्त के तीन घटिका तक सन्ध्या हो जानी चाहिए। सूर्योदय के पूर्व की सन्ध्या उत्तम होती है। गायत्री मंत्र का जप एवं ध्यान आवश्यक था। बुद्धि, आयु एवं आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति इससे होती थी। सन्ध्या के लिए ग्राम के बाहर, नदी का तट, गौशाला, विष्णु या शिव मन्दिर श्रेष्ठ स्थान है। प्रातःकालीन संध्या खड़ा होकर एवं सायंकालीन बैठकर करनी चाहिए। स्नान के बाद शुद्ध आसन एवं यज्ञोपवीत धारण कर प्रातः पूर्वाभिमुख एवं साम को उत्तर-पश्चिम की ओर करनी चाहिए।

संध्या में आचमन का जल ब्राह्मण के लिये हृदय तक क्षत्रिय के लिये कण्ठ तक एवं वैश्य के लिये तालु तक होना चाहिए। स्त्री एवं शूद्र को तालु तक आचमन का जल पीना चाहिए।

१—भवति भिक्षां देहीति ब्राह्मणो भिक्षेत् भिक्षां भवति देहीति राजन्यः। देहि भिक्षां भवतीति वैश्यः बौधायन गृ० सू० २।५।४७

२—याज्ञवल्क्य० १।२९, मनु० २।१८३, १८५

३—पराशरमाधवीय १।२

४—मनु० (२।१८८), याज्ञ० १।३२ ४. बौधायन धर्मसूत्र १।२।५४। मनु० (२।१८७)

५—अश्वलायन गृह्यसूत्र ३।७६, शंखायन ग.स्. २।९।१ एवं मनु २।१०२

प्राणायाम में भी गायत्री का मंत्र एव शिरः दुहरना चाहिए। प्राणायम से अनेक दोष नष्ट हो जाते हैं।[1] ताम्र, उदुम्बर काष्ठ या मिट्टी के बरतन में पवित्र जल रख कर कुश से मार्जन करना चाहिए। "आपो हिष्ठा" नामक ३ मंत्रों का पाठ करना चाहिए।[2]

अघमर्षण—यह पाप भागने की क्रिया है। गौ के कान के समान दहिना हाथ का रूप बना कर जल लेकर नाक के पास रखकर 'ऋतंच' नामक ३ मंत्रों का पाठ कर बायीं ओर पृथ्वी पर जल गिरा देना चाहिए।

अर्घ्य—गायत्री मंत्र का पाठ कर ३ बार सूर्य को जल दोनों हाथों से अर्पण करना चाहिए। तत्पश्चात् सूर्य की प्रार्थना करनी चाहिए। जो ब्राह्मण संध्या नहीं करता, बौधायन कहते हैं, उस व्यक्ति से राजा शूद्र का काम करावें।[3]

वेदाध्ययन

अध्यापन मौखिक था इसलिये गुरु की महिमा बहुत अधिक थी। वैदिक एवं ब्राह्मण ग्रंथों में स्पष्ट संकेत मिलता है कि आचार्य की वाणी को शिष्य वैसे ही ही दुहराते थे जिस प्रकार मेढक की आवाज को अन्य मेढक दुहराते हैं।[4] शिष्य को चाहिए कि वह गुरु को भगवान् माने।[5] शुभ विद्या शूद्र से भी ब्राह्मण सीख सकता है।[6] आपत्काल में क्षत्रिय एवं वैश्य को भी गुरु या आचार्य बनाया जा सकता है।

पहली शिक्षा प्रणव, व्याहृतियाँ एवं गायत्री मंत्र की दी जाती थी। तत्पश्चात् वेद एवं वेदाङ्गों की शिक्षा दी जाती थी। गुरु का चरण स्पर्श प्रतिदिन करना चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि वेद बहुत विशाल था। भारद्वाज ७५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर वेद का बहुत थोड़ा भाग पढ़े थे। इसलिये किसी एक वेद को ही पढ़ने की व्यवस्था गौतम वसिष्ठ, मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि धर्म-

---

१—प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृति प्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥ मनु० ६।७०
...तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ६।७१

२—मानव गृह्यसूत्र १।१।२४, याज्ञवल्क्य २।२८

३—बौधायन धर्मसूत्र–२।४।२०

४—गो०ब्रा० (२।१), अथर्व० वे० (११,७,३), शत. ब्रा. (११।५।४।१२),

५—आपस्त. धर्मसू. (१।२।६।१३)

६—मनु० (२।२२८)

शास्त्रकारों ने की। शिष्यगण प्रायः एक ही जगह रहकर पढ़ते थे किन्तु पानी के बहाव की तरह (जिस प्रकार ढाल होने पर पानी बह जाता है) विख्यात गुरुओं के पास शिष्य दौड़कर चले जाते थे।[१]

ब्रह्मचारी या शिष्य के गुण—पवित्र हो, ध्यानमग्न रहता हो, बुद्धिमान् हो, गुरु के प्रति सत्य भाषण करता रहता हो, एवं विद्या की रक्षा धन की तरह करता हो उसे शिक्षा देनी चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् से मालुम होता है कि गुरु के पशुओं को चरावें, भिक्षा माँगे, गुरु के लिये पवित्र अग्नि की रक्षा करें तथा गुरु-कार्य सम्पादन के बाद समय मिले तो वेदाध्ययन में लगावे। धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में ब्रह्मचारी के लिये लम्बी-लम्बी तालिका बनी हुई है कि कौन-कौन काम करना चाहिए एवं कौन काम त्याज्य है। सबके मूल में यही भावना रही कि गुरु या आचार्य प्रसन्न रहें एवं ब्रह्मचर्य भंग नहीं हो। वैसी चीजें जो उत्तेजक थी वर्जित थी।

आचार्य का किसी के स्वगत में आसन छोड़ कर उठने को प्रत्युत्थान कहा जाता है। प्रणाम करने का अभिवादन, हाथों से पैर पकड़ने को उपसंग्रहण कहा जाता है। प्रत्यभिवाद में प्रणाम का उत्तर दिया जाता है। नमस्कार में नमः के साथ सिर झुका लिया जाता है।

ब्राह्मण ब्रह्मचारी को चाहिए कि दोनों हाथ जोड़कर दाहिनी कान सीध में फैलाकर अभिवादन करना चाहिए। क्षत्रिय को छाती तक वैश्य को कमर तक एवं शूद्र को पैर तक बाहु फैलाकर अभिवादन करना चाहिए।[३]

ब्रह्मचर्य की अवधि—छान्दोग्य उपनिषद से यह ज्ञात होता है कि १२ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करना पड़ता था। प्रत्येक वेद को पढ़ने में ३ वर्ष अर्थात् १२ वर्ष वेदाध्ययन में व्यतीत किया जाता था। ब्रह्मचर्य से गृहस्थ आश्रम में जो विद्यार्थी न आते थे वे ४८ वर्षों तक ब्रह्मचर्य पूर्वक वेद वेदाङ्गों का अध्ययन करते थे।[४]

अध्ययन के प्रमुख विषय—ब्रह्मचारी को वेद का अध्ययन आवश्यक था। वेदान्तसूत्र[५] के अनुसार वेद शाश्वत है। वेदाध्ययन के बाद ही गृहस्थधर्म के धार्मिक

१—यथापः प्रवतायन्ति यथा मासा अहर्जरम्।
एवं मां ब्रह्मचारिणे धातरायन्तु सर्वतः ।। तै० उप० १।४।३

२—छान्दोग्य ४।३।५, ४।४।५, ८।१५।१,

३—दक्षिणं बाहुं श्रोत्र समं प्रसार्य ब्राह्मणोऽभिवादयी तोरः समं राजन्यो मध्यसम वैश्यो नीचैः शूद्रः प्राञ्जलि। आप. ध. सू. १।२।५।१६-१७.

४—पारस्कर गृह्यसूत्र २।५

५—वहीं १।३।२८-०९

कार्य सविधि सम्पादित किये जा सकते थे। वैदिक साहित्य के बाद उपनिषद एवं वेदाङ्ग लिखे गये। ब्रह्मचारी इनकी ओर अधिक प्रवृत्त हुआ क्योंकि वेद की अपेक्षा वेदाङ्ग कम दुरुह है। मनु ने[1] पहला कर्तव्य वेद पढ़ना ही बताया है। वेद को कण्ठस्थ करना और अर्थ जानना आवश्यक था।

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञ क्रियाक्षमा।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ।। मनु० ११।२५५
यथैधस्तेजसा बह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात्।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ।। मनु० ११।२४६
वेदाभ्यासरतं क्षान्तं पंचयज्ञ क्रिया परम्।
न स्पृशन्तीह पापानि महापातकजान्यपि ।। याज्ञ० ३।३१०
यद्यकार्यशतं साग्रं कृतं वेदश्च धार्यते।
सर्वं तत्तस्य वेदाग्निर्दहत्यग्निरिवेन्धनम् ।। वसिष्ठस्मृति
न वेद वल माश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत्।
अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दह्यते कर्म नेतरम् ।। वसिष्ठस्मृ०

फल—वेदाध्ययन का महात्म्य स्मृतियों में बहुत मिलता है। विद्यार्थी को ही ब्रह्मचारी कहा जाता था। मनुस्मृति ब्रह्मचारी के लिये आवश्यक कर्त्तव्य का निर्देश करती है। गुरू कहें या न कहें ब्रह्मचारी को अध्ययन करने में तथा आचार्य की सेवा में लगे रहना चाहिए।[2] मद्य, मांस, सुगन्धित द्रव्य, माला, स्त्री, स्वादिष्ट भोजन, खटाई और जीवहिंसा का परित्याग करना चाहिए। काम क्रोध, लोभ नाचना, गाना, बजाना, जुआ, गप लड़ाना, निन्दा करना या झूठ बोलना आदि दुर्गुणों को त्याग देना चाहिए। ब्रह्मचारी अकेले शयन करें, वीर्य नष्ट नहीं करें, कामवासना से वीर्यपात करने वाला ब्रह्मचारी व्रत को नष्ट कर देता है।[3]

१—योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।। २।१६८

२—चोदितो गुरुणा नित्यम अप्रचोदित एव वा।
कुर्याद् अध्ययने यत्नम् आचार्यस्य हितेषु च ।। मनु० २।१९१

३—वर्जयेत् मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ।।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीत वादनम्।
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।।
एकः शयीत सर्वत्र नरेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ।। मनु० २।१७७-८०

हारीत का मत है कि पवित्र देश (स्थान) में वेदाभ्यास करना चाहिए (वेदञ्चैवाभ्यसेन्नित्यं शुचौ देशे समाहितः) मृगचर्म, मेखला एवं काष्ठ दण्ड यज्ञोपविती के लिये आवश्यक था (अजिनं दण्ड काष्ठञ्च मेखलाञ्चो पवीतकम् धारयेदप्रमत्तश्च ब्रह्मचारी समाहितः),, ब्रह्मचारी को गुरु चरणों का अभिवादन, संध्या कर्म एवं योगासन अवश्य करना चाहिए।

> अभिवाद्य गुरोः पादौ सन्ध्या कर्मावसानतः।
> तथा योगं प्रकुर्व्वीत माता पित्रोश्च भक्तितः॥
> एतेषु त्रिषु नष्टेषु नष्टाः स्युः सर्वदेवताः।
> एतेषां शासने तिष्ठेद् ब्रह्मचारी विमत्सरः॥
>
> —हारीत ३।८-१०

वेदाध्ययन के लिये कोई शुल्क नहीं था। विद्याध्ययन के पश्चात् गुरु दक्षिणा के रूप में भक्ति एवं शक्ति के अनुसार शिष्य देता था।

क्षत्रियों के लिये भी ब्रह्मचर्य की वही प्रक्रिया थी जो ब्राह्मण के लिये थी। क्षत्रिय राजकुमारों के लिये प्राचीन काल में ब्रह्मचारी के सभी नियम आवश्यक नहीं थे। घर में गुरु की नियुक्ति हो जाती थी, जैसे गुरु द्रोण। क्षत्रियों को सैनिक दक्षता भी प्राप्त करनी पड़ती थी। उपनयन के पूर्व गणित एवं अक्षर का ज्ञान होना चाहिए उपनयन के बाद १६ वर्ष की अवस्था तक चार विद्याओं का अध्ययन करना चाहिए। हाथी गुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि सिक्का, वित्त-गणना, राजकीय पत्रव्यवहार (लेख) एवं व्यवहार (कानून-न्यायशासन) का अध्ययन २४ वर्ष की अवस्था तक खारावेल के उत्तराधिकारी ने किया। ऐसे ही राजकुमार चन्द्रापीड के लिये नगर के बाहर विद्यालय बनाया गया जहाँ वह १६ वर्ष की आयु तक विद्यार्जन किया। सामान्य क्षत्रियों के लिये ब्राह्मणों जैसी ही व्यवस्था होगी; या तो वेदज्ञ के पास वेदाध्ययन करते होंगे या शस्त्र-विशारद के पास अस्त्र-शस्त्र की कला सीखते होगें। तंत्रवार्तिक से मालूम होता है कि क्षत्रिय एवं वैश्य विद्वान भी शिक्षण का कार्य करते थे।

वैश्य की शिक्षा में वेदाध्ययन के साथ वाणिज्य-व्यवसाय की शिक्षा भी आवश्यक थी। वैश्यों का मुख्य कार्य व्यवसाय ही था शिल्प ज्ञान के लिये शिल्प-गुरु के यहाँ ब्रह्मचारो रहता था। उसके ज्ञानार्जन की अवधि में उस पर पूर्ण अधिकार गुरु का होता था।

शूद्र की शिक्षा के लिये कोई विशेष नियम नहीं था। शूद्र की परम्परा से कृषि एवं शिल्प की शिक्षा मिल जाती थी। शिल्प-विद्या के पण्डित भी शूद्र हो सकते थे। बहुत से उद्धरणों के आधार पर यह कहना उचित है कि धर्मशास्त्रकारों ने शूद्र को वेदाध्ययन के लिये सत्पात्र नहीं समझा। कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था कि वे वैदिक ऋचाओं का अध्ययन तो दूर श्रवण भी नहीं कर सके। सामाजिक कार्यों को सुव्यवस्थित गति देने के लिये वर्ण बने किन्तु ऊँच-नीच की भावना इतनी बढ़ गई कि द्विज वर्ण के लोग शूद्रों के अध्ययन-अध्यापन के बारे में नहीं सोचे। उन्हें यह भय था कि उनकी सेवा में विघ्न या बाधा नहीं पड़े। अतः उन्हें केवल इतिहास पुराण का श्रवण करने का आदेश था। स्त्रियाँ शिक्षा में बहुत बढ़ी हुई थी। विश्ववारा ऋग्वेद के मंत्रों (५।८) की द्रष्टा थी। मैत्रेयी ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर चुकी थी। गार्गी वाचक्नवी परम विदूषी थी। जब से बाल विवाह या कम अवस्था में ही कन्या की शादी की जाने लगी, शिक्षा का लोप होता गया। स्त्रियाँ केवल घर की शोभा बन गई। गृह कार्यों में दत्त रहने के लिये उच्च शिक्षा का मार्ग उनके लिये बन्द हो गया।

ब्रह्मचारी के भेद

मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में ब्रह्मचारी के दो भेद बताये गये हैं—(१) उपकुर्वाण (२) नैष्ठिक।

(१) उपकुर्वाण—न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्॥

—मनु २।२४५

अध्ययन समाप्त होने के बाद ब्रह्मचारी गुरु को दक्षिणा देता था और गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था—

(२) नैष्ठिक—नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्य संनिधौ।
तदभावेऽस्य तनये पत्न्यां वैश्वानरेऽपि वा॥
अनेन विधिना देहं साधयन्विजितेन्द्रियः।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेह जायते पुनः॥

बृहत्पराशर के अनुसार ४ भेद हैं—(१) गायत्र (जो बिना नमक का भोजन, गायत्री जप एवं भिक्षा पर आश्रित हो) (२) वैधस (ब्राह्म, भिक्षा पर जो

ब्रह्मचारी ४ वेदों का अध्ययन किया हो, (३) नैष्ठिक—गुरु गृह में रहकर ब्रह्मचर्य पूर्वक ज्ञानार्जन करें (४) प्राजापत्य—ऋतुकालाभिगामी, परस्त्री एवं पर्व वर्जित हो, भिक्षाभुक् वेदार्थी प्रजापत्य कहलाता है।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये गुरु सेवा और ब्रह्मचर्य पूर्वक अध्ययन आजीवन-व्रत बन जाता था। मिताक्षरा टीका में निष्ठा का अर्थ दिया है "आत्मानं निष्ठा उत्क्रान्तिकालं नयतीति नैष्ठिकः" निष्ठा पूर्वक ब्रह्मचारी रहना सबसे सम्भव नहीं था। इसलिये अपरार्क एवं स्मृति चन्द्रिका में कुब्ज, वामन, जन्मान्ध, क्लीव पंगु एवं अति रोगी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी होने की शिक्षा दी गई है।

अनध्याय—नीहारे बाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः।
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ४।११३
अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्य हन्ति चतुर्दशी।
ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्॥ मनु० ४।११४
संध्यागर्जितनिर्घातभूकम्पोल्कानिपातने ।
समाप्य वेदं द्युनिशमारण्यकमधीत्य च ॥
पंचदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके।
ऋतुसंधिषु भुक्त्वा वा श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥
—याज्ञवल्क्य १।१४५-४६

विजली चमके, ब्रजपात हो, तूफान हो, सन्ध्याकाल हो, अष्टमी, अमावास्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा हो तो वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए। सुन्दरकाण्ड रामायण (५९।३२) प्रतिपदा को भी अनध्याय का दिन मानता है। युगादि एवं मन्वन्तरादि तिथियों को भी अनध्याय होना चाहिए।

वैशाख शुक्ल तृतीया, कार्तिक शुक्ल नवमी, भाद्रपद कृष्ण त्रयोदशी और माघपूर्णिमा ये युगादि तिथि कहीं जाती है (क्रमशः कृत, त्रेता द्वापर एवं कलियुग के आरम्भ की सूचिका ये तिथियाँ हैं)।

मत्स्य पुराण ने १४ तिथियों को मन्वन्तरादि तिथि घोषित किया है।

तृतीया—चैत्र शुक्ल की एवं भाद्रपद शुक्ल की

सप्तमी—माघ शुक्ल

अष्टमी—श्रावण कृष्ण

नवमी—आश्विन शुक्ल

दशमी—आषाढ़ शुक्ल

एकादशी—पौषशुक्ल

द्वादशी—कार्तिक शुक्ल

आमावस्या—फाल्गुन की

पूर्णिमा—आषाढ़, कार्तिक फाल्गुन, चैत्र एवं जेष्ठ

याज्ञवल्क्य ने (१।१४८-१५१) अल्पकाल के लिये भी अनध्याय की चर्चा की है जैसे सामगान के समय, भोजनोपरान्त एवं अतिथि आदि के आने पर। मनु एकोद्दिष्ट श्राद्ध, राजा की मृत्यु एवं ग्रहण पर भी अनध्याय मानते हैं।

अनध्याय के नियम वेदाङ्ग एवं यज्ञ, होम, जप, काम्य क्रियाओं एवं परायण से सम्बन्ध नहीं रखते हैं।

यथा—वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममंत्रेषु चैवहि ॥ मनु० २।१०५

प्रथम वेदाध्ययन था। वेदाध्ययन से ही अनध्याय के नियम सम्बन्ध रखते हैं। स्मृत्यर्थसार के अनुसार १, ८, १४, १५ (पूर्णिमा एवं अमावास्या) तिथियों को छोड़ कर धर्म विद्याओं का अन्य अनध्याय के दिनों में भी अध्ययन करना चाहिए। वेदाध्ययन के बाद गुरु गृह से लौटते समय जो स्नान होता था वह समावर्तन या स्नान-संस्कार कहलाता था। समावर्तन का अर्थ है गुरु-गृह से अपने घर को लौट आना। स्नान किये हुवे व्यक्ति को स्नातक कहा जाता है। जिसने वेदाध्ययन पूरा किया हो किन्तु व्रत न किया हो वह विद्या-स्नातक, कहलाता है। जो व्रत किया परन्तु वेदाध्ययन पूर्ण नहीं किया हो वह व्रत-स्नातक कहलाता है। जो वेद एवं व्रत दोनों पूर्ण कर लिया है वह वेद व्रत स्नातक या विद्याव्रत स्नातक कहलाता है। वेद व्रत चार हैं—(१) महानाम्नीव्रत (२) महाव्रत (३) उपनिषद्व्रत (४) गोदान-व्रत। इन व्रतों की चर्चा आश्वलायन स्मृति, लघ्वाश्वलायन स्मृति में पाई जाती है।[१]

१—महानाम्नी व्रतं कुर्यात्पूर्णाब्दे चोत्तरायणे।
शुक्ले पक्षे शुभेऽह्नि स्यादुपनायनवच्च हि ॥
महाव्रतं द्वितीये तु भवेत्तत्पूर्ववच्च हि।
सम्पूर्णे च तृतीयेऽब्दे तथा चोपनिषद् व्रतम् ॥
मासे पूर्णे तथा कुर्यात्क्रमाच्चैतद् व्रतत्रयम्।
कुर्यात्परिददाम्यास (म्यन्त) मुपनायन होमवत् ॥
—लघ्वाश्वलायनस्मृति० ११।१-३

गृहस्थाश्रम

'एक्याश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानद् गार्हस्थ्यस्यैव'
—गौ. धर्मसूत्र १।३।३५

आचार्य गण एक ही आश्रम (गृहस्थाश्रम) को श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि गृहस्थाश्रम पर ही सभी आश्रम आधारित है। मनु ने रोचक शैली में कहा है कि जिस प्रकार वायु सभी प्राणियों का आश्रय है उसी प्रकार यह आश्रम सभी आश्रमों का आधार है।[1] इस आश्रम की महत्ता सन्तानोत्पत्ति के कारण भी है। दूसरे आश्रमों में सन्तान उत्पत्ति को आज्ञा नहीं है। अतः यही आश्रम सृष्टि का आधार है। मार्कण्डेय स्मृति इस आश्रम की प्रशंसा में कहती है—

कलौ तु केवलं वच्मि गार्हस्थ्यं ह्युत्तमोत्तमम्।
ततस्सन्नेव यत्नेन कृतकृत्यो भवेदिति॥

महाभारत की प्रसिद्ध उक्ति है कि अन्य आश्रम गृहस्थाश्रम पर उसी प्रकार आश्रित है जिस प्रकार सभी प्राणी माता पर आश्रित हैं।[2]

ब्राह्मण गृहस्थों को दो भागों में बौधायन[3] एवं देवल ने बाँटा है, (१) शालीन (२) यायावर। वृहत्पराशरस्मृति में गृहस्थों के चार भेद बताये गये हैं—(१) वार्ता (२) शालीन (३) यायावर (४) घोर सन्यासी।

बृहत्पराशर[4] की तरह वैखानस गृह्यसूत्र में भी गृहस्थ के चार भेद बताये गये हैं—वार्ता वृति, शालीन, यायावर, घोराचारिक।

१—यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वे आश्रमाः॥ ३।७७

२—यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमा॥ शा. प. २७०।६. ६.

३—बौधायन धर्मसूत्र-३।१।१

४—गृहस्थो चतुर्भेदो वार्ताशालीनवृत्तिको
यायावरस्तथा वान्यो घोरसंन्यासिकस्तथा
कृषि-गोरक्ष वाणिज्यैः कुर्वन् सर्वाः क्रियाद्विजः
बिहितैरात्म विघ्नैश्च वार्ता वृत्तिः स उच्यते॥
ददात्यध्येति यजते याजयेन्न च पाठयेत्।
कुर्यात्कर्मा प्रतिग्रही शालीनो ध्यानकृद्द्विजः॥
उक्तः सन् कारयेदन्यां क्रियां कुर्यात्प्रतिग्रहम्।
पाठयेच्च तथात्मानं यायावरः स उच्यते॥
तिष्ठेद्याच्च शिलोञ्छाभ्यामुद्धृताग्निश्च उच्यते।
आत्मविच्च क्रियाः कुर्यात् घोरसंन्यासिकः स्मृतः॥ —वृहत्पराशरस्मृति १२।१५३-५७

(१) कृषि, पशुपालन एवं व्यवसाय आदि करने वाले गृहस्थ को वार्तावृत्ति वाला कहते थे।

(२) पाक यज्ञ करने वाला, श्रौत अग्नि जलाने वाला, दर्श एवं पौर्णमास यज्ञ करने वाला, हर वर्ष सोम यज्ञ करने वाला शालीन कहलाता था।

(३) हवि, सोमयज्ञ, यज्ञ में पुरोहित बनना, वेद का अध्ययन-अध्यापन, दान देना एवं लेना, श्रौत एवं स्मार्त अग्नि की सेवा करना, अतिथि सेवा करना, इन कर्मों को करने वाला यायावर कहलाता था।

(४) घोर संन्यासिक या घोराचारिक उस गृहस्थ को कहते थे जो यज्ञ करता है किन्तु दूसरे के यज्ञ में पुरोहित नहीं बनता, वेद पढ़ता, पर पढ़ाता नहीं, दान देता है, लेता नहीं, खेत में गिरे हुये अन्न से अपना भरण-पोषण करता है। अग्नि होम करता है एवं मासादि व्रत करता है।

गृहस्थधर्म—स्मृतियों, पुराणों एवं महाभारत में इस आश्रम की महिमा भरी हुई है। यह आश्रम जीवन को सरस बनाता है। किन्तु नियन्त्रण के अभाव में नारकीय जीवन भी बन सकता है। धर्म के सामान्य गुणों की चर्चा करते हुए महाभारत ने इस आश्रम को सर्वश्रेष्ठ धर्म घोषित किया है। अहिंसा सत्यवचन, सभी जीवों पर दया, शत्रु एवं यथाशक्तिदान के कारण यह श्रेष्ठ धर्म है।[1] इनकी चर्चा धर्म के सामान्य भेद के अन्तर्गत की जा चुकी है।

पराशरस्मृति के अनुसार षट्कर्म द्विजगृहस्थ के लिये आवश्यक है। संध्या-वन्दन, जप, होम, देवपूजन, अतिथिसत्कार एवं वैश्व, ये ही षट्कर्म कहलाते हैं।[2] धर्मग्रन्थों में दैनिक क्रियाओं में निम्नांकित की चर्चा है। ब्राह्ममुहूर्त में उठना, शौच, दन्तधावन, स्नान-संध्या, तर्पण, पञ्चमहायज्ञ, अग्निसेवा, भोजन, धन-प्राप्ति, पठन-पाठन, सायं की संध्या, दान, शयन, निर्धारित समय पर यज्ञ आदि करना।

प्रातःकाल शय्या त्यागनी चाहिए।[3] ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानु शशी

१—अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्। शमोदानं यथाशक्तिः गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः॥ परदारे स्वसंसर्गोन्यासस्त्रीपरिरक्षणम्। अदत्तादानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम्। एष पंचविधो धर्मो बहुशाखः सुखोदयः। अनु० प० १४१।२५

२—संध्यास्नानं जपो होमो देवतातिथिपूजनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च षट् कर्माणि दिने दिने॥ पराशर १।३९

३—ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौचानु चिन्तयेत कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्वार्थमेव च।

भूमिसुतो बुधश्च। गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् (वामन पु० १४।२३) का पाठ करना चाहिए।

कुछ लोग भारत सावित्री का पाठ ब्राह्म मुहूर्त में करने का निर्देश करते हैं। आचाररत्न १० चिरंजीवियों के नाम का उच्चारण करने को कहता है। पराशर का मत है कि यज्ञ करने वाले, कृष्ण-पिंगल गाय, राजा, संन्यासी तथा समुद्र को देखा जाय तो पवित्रता आती है। आज भी ब्राह्मवेला में उठने के बाद अनेक घरों में अश्वत्थामा[1] बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य, परशुराम एवं मार्कण्डेय के साथ ५ पवित्र स्त्रियों के नाम लिये जाते हैं—अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती एवं मन्दोदरी। कहीं कुन्ती की जगह सीता का नाम मिलता है।

मैत्र—मलमूत्र त्याग के सम्बन्ध में भी अनेक नियम धर्म ग्रन्थों में मिलते हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, ब्राह्मण, जल, देवमूर्ति एवं गाय तथा वायु की ओर मुख करके मल त्याग नहीं करना चाहिए। दिन में उत्तराभिमुख एवं रात्रि में दक्षिणाभिमुख होकर मल त्याग करें[2] जल और मिट्टी के प्रयोग से पवित्रता प्राप्त करनी चाहिए। मिट्टी स्वच्छ और चिकनी होनी चाहिए। (यावत्साध्विति मन्येत तावच्छौचं विधीयते। प्रमाणं शौच संख्यायां न शिष्टैरुपदिश्यते ॥) यज्ञोपवीत दहिना कर्ण पर होना चाहिए। वनपर्व में वर्णन आया है कि मूत्रत्याग के बाद नलने पैर नहीं धोया तो दुर्गुणों के देवता कलि उनमें प्रवेश कर गये। १२ प्रकार के मल अत्रि के द्वारा बताये गये हैं—(१) चर्बी (२) वीर्य (३) रक्त (४) मज्जा (५) मूत्र (६) विष्ठा (७) नासामल (८) खूँट (९) खखार (कफ) (१०) आंसू (११) नेत्रमल (१२) पसीना—प्रथम ६ मिट्टी और जल से एवं बाद के ६ केवल जल से पवित्र किये जाते हैं।[3]

१—अश्वस्थामा बलिर्व्यासो हनुमानश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥

२—मूत्रोचार—(गुदा के देवता का नाम मित्र है, अतः मैत्र का तात्पर्य मूत्रपुरीषोत्सर्ग माना जाता है)

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च तथा दिवा॥ मनु० ४।५०

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः।
यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च॥ मनु० ४।५१

३—वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट् घ्राणकर्णविट्।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥ मनु ५।१३५

आचमन

शिखा बाँध कर पवित्र वस्त्र पहनकर करतल में इतना जल आचमन के लिये रखना चाहिए जितने में उड़द का बीज डूब जाय। मनुष्य के हाथ में ही कई तीर्थ हैं। अतः करतल का जल तीर्थ जल बन जाता है। विश्वरूप ने दाहिने हाथ के उस भाग को तीर्थ कहा है जिसके द्वारा धार्मिक कार्यों में आचमन किया जाता है और जल गिराया जाता है।

हाथ के पाँच विभाग किये गये हैं[1] याज्ञवल्क्य के अतिरिक्त विष्णु धर्मसूत्र में भी पाँच ही करतल तीर्थ माने गये हैं। (१) देव तीर्थ—दाहिना हाथ का अगला भाग (२) पित्र्य—दाहिने हाथ का दाहिना भाग (३) प्राजापत्य—कानी अगुँली के पास वाला भाग (५) ब्राह्म—अंगूठा एवं कानी अंगुली के बीच तीन अंगुलियों के सामने हथेली का ऊपरी भाग (५) पारमेष्ठ्य—दाहिने करतल का मध्य भाग। हारीत के अनुसार देव तीर्थ के उपयोग मार्जन, देवपूजन, बलि देने या भोजन के समय किया जाता है। आह्निक होम में, पितरों के कार्यों में पित्र्य तीर्थ प्रयुक्त होता है।

आचमन की विधि भी चार प्रकार की हैं (१) पौराणिक (२) स्मार्त (३) आगम (४) श्रौत। पौराणिक विधि ही केशव, नारायण, माधव आदि के नामों को लेकर आचमन करना अधिक प्रचलित है।

दन्तधावन

वट, अर्क, खदिर, करञ्ज, बदर, सर्ज, निम्ब, अरिमेद, अपामार्ग, मालती, ककुभ, विल्व, आम, पुन्नाग, शिरीष एवं असन की लकड़ियाँ दन्तधावन के काम में लाई जा सकती हैं। उत्तर या पूर्वाभिमुख हो कर दांत साफ करें। १२ अंगुल की लकड़ी होनी चाहिए जो कनिष्ठा अंगुली के समान मोटी हो। चारों वर्णों के स्त्रियों के लिये गर्ग ने दन्तधावन की लकड़ी का नाम दिया है। जो क्रमशः १०, ९, ८ एवं ७ अंगुल लम्बा दाँतुन होना चाहिए विष्णु धर्मसूत्र[2] कहता है कि प्रत्येक भोजन के बाद दन्तधावन करें।

स्नान

पूजन एवं यज्ञ कार्यों के लिये कुश एवं अंगूठी का होना आवश्यक है। कुश एवं स्वर्ण या रजत पवित्रता के साधन माने जाते हैं। जिसमें अंकुर नहीं निकले वह

१—मनु—अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः॥ २।५९

२—६१।१६

दर्भ है और जिसमें पुनः अंकुर निकलते हैं, वह कुश कहलाता है। धार्मिक कृत्यों में कुश के अभाव में दूर्वा का प्रयोग भी किया जाता है।

स्नान के तीन प्रकार बताये गये हैं।

(१) नित्य स्नान—जो प्रतिदिन नियमित रूप से किया जाता है।

(२) नैमित्तिक—जो किसी विशेष अवसर पर किया जाय।

(३) काम्य—किसी फल प्राप्ति की इच्छा से जो स्नान किया जाय। स्नान शीतल जल से होना चाहिए। साधारणतः दिन में दो बार स्नान का विधान अधिकतर स्मृतिकार मानते हैं। मनु के अनुसार खाने के बाद स्नान नहीं करना चाहिए।

बृहत्पराशर के अनुसार स्नान सात तरह के होते हैं।[1] मंत्र, पार्थिव, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण एवं मानस।

शंखस्मृति में जलस्नान ६ प्रकार का बताया गया है, यथा-नित्य, नैमित्तिक, काम्य, क्रियांग, मलापकर्षण (अभ्यंग स्नान) एवं क्रिया स्नान।

जनकल्याण के लिये निर्माण कार्य करने का जब संकल्प किया जाता है तब क्रियांग स्नान किया जाता है। तेल लगाकर स्वच्छ होने की इच्छा से मलापकर्षक स्नान किया जाता है, इसको ही अभ्यंग स्नान भी कहते हैं। तीर्थ पर फल प्राप्त्यर्थ जो स्नान किया जाता है वह क्रिया-स्नान कहलाता है।

रोगी जो स्नान करने में असमर्थ है। इस दशा में गर्म जल से उसका शरीर पोछ देने से स्नान समझा जाता है। यह क्रिया आवश्यक हो तो किया जाय इसे कापिल-स्नान कहते हैं। यह स्नान भी उसके (रोगी के) अनुकूल नहीं हो तो रोगी किसी को छू दे और वह हर बार स्पर्श के बाद स्नान करें यह प्रक्रिया दस बार हो तो रोगी पवित्र समझा जाता है।

१—मंत्रं पार्थिवमाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च।
वारुणं मानसञ्चेति सप्त स्नावान्यनुक्रमात्॥
शं न आपस्तु वै मान्त्रं मृदालम्भं तु पार्थिवम्।
भस्मना स्नानमाग्नेयं गोरेणुनाऽऽनिलं स्मृतम्॥
आतपे सति या वृष्टिर्दिव्यस्नानं तदुच्यते।
बहिर्नद्यादिके स्नानं वारुणं प्रोच्यते बुधैः॥
यद्ध्यानं मनसा विष्णोर्मानसं तत्प्रकीर्तितम्।
असामर्थ्येन कायस्य कालशक्त्याद्यपेक्षया॥ बृहत्पराशरस्मृति २।८८

जल द्वारा स्नान को वारुण कहते हैं। 'आपोहिष्ठा' इत्यादि मंत्रों से स्नान करने को मंत्रस्नान कहते हैं। मिट्टी शरीर में लगादी जाय तो पार्थिव या भौम स्नान कहलाता है। पवित्र राख या यज्ञीय विभूतियों को शरीर में पोतने की क्रिया को आग्नेय स्नान कहते हैं। गौ की खुरों से जो धूलि उठे उससे स्नान करने को वायव्य स्नान कहते हैं। धूप में या वर्षा में जो स्नान हो वह दिव्य है। मानस स्नान में भगवान् का स्मरण मात्र ही पर्याप्त है।

वृहत्पराशरस्मृति में स्नान पर अत्यधिक सामग्री है। दिन-रात्रि में नव छिद्रों से जो श्वास निकलते हैं उनके कारण अपवित्र मन एवं शरीर स्नान से शुद्ध होता है।[1] गर्म जल निम्नांकित दिन बिलकुल न प्रयोग करें।[2] नित्य स्नान की बहुत ही महिमा गायी गई है।[3]

तर्पण

देवताओं, ऋषियों एवं पितरों को जल देना तर्पण कहलाता है। ब्रह्म यज्ञ का यह अंग माना जाता है। स्नान के उपरान्त सन्ध्या के पूर्व या बाद में प्रातः-कालीन तर्पण प्रतिदिन करना चाहिए। मनु एवं पराशर के अनुसार स्नान के बाद नदी में खड़े होकर तर्पण किया जाता है।[4]

वस्त्रधारण

गृहस्थ के लिये दो वस्त्र, गरीब गृहस्थ के लिये एक ही वस्त्र होना चाहिए। देवपूजन का वस्त्र भिन्न होना चाहिए। नीले रंग का वस्त्र वर्जित है। ब्राह्मण का वस्त्र श्वेत, क्षत्रिय का लाल, वैश्य का पीला तथा शूद्र का काला वस्त्र होना चाहिए

१—अत्यन्तमलिनः कायो नवच्छिद्रसमन्वितः।
स्रवत्येष दिवारात्रौ प्रातः स्नानेन शुध्यति॥
—वृ० प० २।९५

२—रविसंक्रान्ति वारेषु ग्रहणेषु शशिक्षये।
व्रतेषु चैव षष्ठीषु न स्नायादुष्णवारिणा॥ वृ० प० २।११२

३—यः स्नानमाचरेन्नित्यं तं प्रशंसन्ति देवताः।
तस्माद्बहुगुणं स्नानं सदाकार्यं द्विजातिभिः॥
उत्साहाप्यायन स्वांतप्रशान्ति शक्तिवृद्धिदम्।
कीर्तिकान्तिवपुः पुष्टि-सौभाग्याऽऽयुः प्रवर्धनम्॥ २।११५-१६

४—नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥ मनु० २।१७६

ऐसा स्मृतिचन्द्रिका का मत है। पूजन के लिये पराशर माधवीय ने रेशमी वस्त्र धारण करने की शिक्षा दी है। मनु कहते हैं कि अवस्था, व्यवसाय, धन, विद्या, कुल एवं देश के अनुसार वस्त्र धारण करना चाहिए (४।१८)।

तिलक

अँगूठा, मध्यमा एवं अनामिका से माथे पर अपनी जाति एवं सम्प्रदाय के अनुसार तिलक, ऊर्ध्वपुण्ड्र या त्रिपुण्ड्र लगाया जाता है। आह्निक प्रकाश इस विषय में विशेष प्रकाश डालता है। वासुदेवोपनिषद् के मतानुसार गोपी चन्दन या उसके अभाव में तुलसी की जड़ की मिट्टी चन्दन के रूप में व्यवहृत की जाती है। चन्दन के रूप में निश्चित स्थानों की मिट्टी ही शास्त्र सम्मत है।[1] माध्व सम्प्रदाय के लोग अपने शरीर पर शंख, चक्र गदा एवं विष्णु के अन्य अस्त्रों की आकृति को तप्त मुद्रा (गरम धातु) द्वारा अंकित करते हैं। वृद्ध हारीत ने इसकी निन्दा की है। विष्णु एवं वायु पुराण ने इसका समर्थन किया है। तिलक के बिना पूजनादि का फल नहीं होता है।

होम

देवऋण को चुकाने के लिये होम एक आवश्यक कर्तव्य माना जाता है। सूर्योदय के पूर्व या बाद में प्रातः एवं गोधूलि के बाद सायं हवन करना चाहिए। श्रौत या स्मार्त अग्नि में अग्निहोत्री जीवन भर हवन करते हैं। ब्राह्मण को आह्वनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि तीन प्रकार की श्रौत अग्नियों को प्रज्वलित करना चाहिए। प्रत्येक गृहस्थ को सायं-प्रातः प्रतिदिन हवन (घृत का) करना पड़ता था (मनु ४।२५, याज्ञ० १।९९, आपस्तम्ब ध०सू० १।४।१३।२२ एवं १।४।१४।१)। श्रौत अग्नि के बिना जो होम करते थे उनकी अग्नि को औपासन आवसथ्य, औपसद, वैवाहिक एवं स्मार्त या गृह्य या शालाग्नि कहते हैं। इस तरह विभिन्न धर्म ग्रंथों में ६ प्रकार की अग्नियों की चर्चा मिलती है।

तीन श्रौत अग्नि, औपासन या गृह्याग्नि, लौकिक, सभ्य। लौकिक तो साधारण अग्नि को कहते थे। क्षत्रियों ने सभ्याग्नि को प्रज्वलित किया जिस प्रकार

१—पर्वताग्रे नदीतीरे ममक्षेत्रे विशेषतः।
सिन्धुतीरे च वल्मीके तुलसीमूलमाश्रिते॥
मृद एतस्तु संग्राह्या वर्जयेदन्यमृत्तिकाः॥ स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० ११५

गार्हपत्य अग्नि मंथन द्वारा प्रज्वलित की जाती थी। ६ अग्नियों को रखने वाले षडग्नि कहे जाते हैं। तीन श्रौताग्नि, औपासन एवं सभ्य इन पाँच अग्नियों के रखने वाले को पञ्चाग्नि या 'पंक्ति पावन' ब्राह्मण (जो अपनी उपस्थिति से भोजन में बैठने वालों को पवित्र करते हैं) कहते हैं।[1] इसी प्रकार एक, दो, तीन एवं चार अग्नियों के रखने वाले एकाग्नि, द्वयग्नि, त्र्यग्नि तथा चतुरग्नि कहते हैं। अग्नि पूजा सूर्य को उपासना है। अग्नियों को जो हम देते हैं वह सूर्य द्वारा ग्रहण होता है। उसकी कृपा से वर्षा होती है। अन्नोत्पत्ति होती है। पका हुआ चावल या यव का हवन भी दिया जाता है। घृत एवं तिल विशेष रूप से हवन सामग्री में गिने जाते हैं। गृहस्थ के अभाव में पुरोहित हवन कार्य करें। बिना अग्नि के कोई गृहस्थ नहीं रह सकता है। सपत्नीक हवन करने का विधान अत्यधिक फलदायी है।[2] याज्ञवल्क्य, विष्णु एवं गार्ग्य ने अग्नि के बिना तथा हवन न करने वालों को पापी माना है।[3]

जप

पूजन का एक अंग जप भी है। मनु ने कहा है—

"जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।। २।८७

ब्राह्मण जप से सब कुछ पा सकता है। और धार्मिक कृत्यों में जप की प्रधानता है। लघु हारीत के मतानुसार स्नान एवं संन्ध्या के बाद गायत्री का जप करना चाहिए।[4] जप तीन प्रकार का होता है।[5]

१—गौतम–१५।२९, आप० ध० सूत्र २।७।१७।२२ मनु० ३।१८५, याज्ञ० १।२२१।

२—गोभिलस्मृति–३।९।

३—याज्ञ०–३।२३४, २३९

४—घृतोर्ध्वपुण्ड्रदेहश्च चक्राङ्कितभुजस्तथा।
अष्टाक्षरं जपेन्नित्यं पुनाति भुवनत्रयम्।।
जपेद्भोगतया मंत्रं सततं वैष्णवोत्तमः।
न साधनतया जप्यं कर्त्तव्यं विष्णु तत्परैः।
अष्टोत्तरसहस्रं वा शतमष्टोत्तरन्तु वा।।
त्रिसन्ध्यासु जपेन्मंत्र तदर्थमनुचिन्तयन्।। वृ० हारीत ८।२२२-२४

५—विधि यज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः।। मनु–२।८५

त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य तत्त्वं निबोधत।
वाचिकश्च उपांशुश्च मानसश्च त्रिधाकृतिः।
त्रयाणामपि यज्ञानां श्रेष्ठः स्यादुत्तरोत्तरः।
यदुच्यनीयोच्चरितैः शब्दैः स्पष्ट पदाक्षरैः।
मंत्रमुच्चारयन वाचा जपयज्ञस्तु वाचिकः॥
शनैरूच्यारयन्मन्त्रं किञ्चिदोष्ठौ प्रचालयेत्।
किञ्चिच्छ्रवणयोग्यः स्यात् स उपांशुर्जपः स्मृतः॥
धिया पदाक्षर श्रेण्या अवर्णमपदाक्षरम्।
शब्दार्थचिन्तनाम्यान्तु तदुक्तं मानसं स्मृतम्॥

—ल० हारीत ४।३९-४४

वाचिक (स्पष्ट उच्चारित), उपांशु (अस्पष्ट अर्थात् न सुनाई देने योग्य), मानस (मन में कहना) इनमें से मानस उत्तम उपांशु मध्यम और वाचिक जप तृतीय श्रेणी का माना जाता है। गायत्री का जप नित्य होना चाहिए। गायत्री का उच्चारण ठीक नहीं हो तो षड़क्षर (ॐ नमो विष्णवे) या अष्टाक्षर (ॐ नमो वासुदेवाय) या द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का जप करना चाहिए।

माला के विषय में रूद्राक्ष, पद्माक्ष, तुलसी, कमल बीज मोती, स्फटिक, स्वर्ण या रत्न के प्रमाण मिलते हैं। कर्मों के अनुसार माला का प्रयोग लिखा गया है।[1]

पञ्चमहायज्ञ

पञ्चमहायज्ञ गृहस्थ का नित्य कर्म है। भूतयज्ञ, मनुष्य यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ—ये पाँच महायज्ञ माने जाते हैं। हमारी भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक होने के साथ-साथ कल्याणपरक है। लोकोपकार की भावना इस महायज्ञ से झलकती है।

(१) देवयज्ञ—देवताओं का ऋण हर मनुष्य पर है। अग्नि में आहूति दी जाती है देवताओं की प्रसन्नता के लिये तो देवयज्ञ कहलाता है। अन्न या घृत नहीं मिले तो समिधा की आहूति दी जाती है।

(२) पितृयज्ञ—पितरों के प्रति भी मनुष्य ऋणी हैं। उन्हें श्राद्ध तथा तर्पण से तृप्त किया जाता है। श्राद्ध सामग्री के अभाव में जल से तर्पण मात्र भी किया जाता है तो वह पितृयज्ञ है।

१—स्मृतिचन्द्रिका, मदनपारिजात, आह्निकप्रकाश देखें।

(३) भूतयज्ञ—जीवों को भोजन दिया जाय (बलि) तो भूत-यज्ञ कहलाता है।

(४) मनुष्य-यज्ञ—ब्राह्मणों या अतिथियों को भोजन कराया जाय तो मनुष्य यज्ञ कहलाता है।

(५) ब्रह्मयज्ञ—यह ऋषि ऋण है। स्वाध्याय करना, वैदिक ऋचाओं का पाठ करना ब्रह्मयज्ञ है।

महत्व—भारतीय संस्कृति की उदारता और सहिष्णुता के साथ कृतज्ञता के बीज इन पंच महायज्ञों में छिपे हुए हैं। इसमें जीवन के लक्ष्य की ओर संकेत हैं। बाद में स्मृतिकारों ने पाँच गृहकार्यों—अग्निकुण्ड, चक्की, झाड़ू, सूप, जलघट (तथा अन्य गृहकार्य यथा—चूर्ण लेप) से अनेक जीव मरते हैं इन पापों से मुक्ति के लिये पंचमहायज्ञ करना नित्य कर्म हैं। यह प्रतिदिन किया जाता है।

जप को भी ब्रह्मयज्ञ मान लिया गया है। देवता प्रसन्न होकर इस यज्ञ के कर्त्ता को दीर्घ आयु, दीप्ति, तेज, सम्पत्ति एवं यश देते हैं। तैत्तिरीयारण्यक में इस यज्ञ की प्रभूत महिमा वर्णित है। वेद जानने वालों के लिये पुरुषसूक्त का पाठ आवश्यक है। गायत्री जप भी ब्रह्महज्ञ है। शंखस्मृति, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य एवं बौधायन ने इन महायज्ञों की प्रशंसा वैदिक ग्रंथों के आधार पर की है।

देवयज्ञ

मनु होम को देवयज्ञ कहते हैं। देवपूजा, मूर्तिपूजा का विकास इसी यज्ञ के कारण हुआ। अश्वलायन देवयज्ञ के देवता के रूप में, सूर्य, अग्नि प्रजापति (अग्नि होम के देवता) सोम, वनस्पति, इन्द्र, द्यौ, पृथिवी, धन्वन्तरि, विश्वेदेव एवं ब्रह्मा, गौतम के मतानुसार अग्नि, धन्वन्तरि, विश्वे देव, प्रजापति एवं अग्निस्विष्टकृत देव यज्ञ के देवता हैं। कुछ स्मृतिकार देवयज्ञ और देवपूजा में अन्तर दिखलाते हैं। किन्तु अधिक प्रचलित मत है कि देवपूजा के बाद होम किया जाता है। आजकल होम का स्थान गौण हो गया है। देवपूजा का प्रचलन मूर्तिपूजा के रूप में परिणत हो गया है।

मूर्तिपूजा का इतिहास भारतीय संस्कृति की प्राचीनता के साथ जुड़ा हुआ है। ऋग्वेद में इन्द्र के अंगों की चर्चा है। इन्द्र जब 'तुविग्रीव' (मोटी गरदन वाले) 'वपोदर' (विशाल उदर वाले) 'सुबाहु' (सुन्दर बाहु वाले) कहे जाते हैं तो ऐसा लगता है कि मूर्तियों को देखकर या इन्द्र का स्वरूप योग से देखकर लिखा गया हो।

ऋग्वेद के १०वें मण्डल में इन्द्र को हरे रंग की ठुड्डी वाला, रंगीन बालों वाला (१०५।७, ९७।८) कहा गया है। रुद्र को 'ऋदूदर' (जिसका पेट कोमल हो) से सम्बोधित किया गया है। इन वाक्यों से प्रतिमा पूजन की प्राचीनता प्रकट होती है द्रविड़ों या बौद्धों ने आर्यों को मूर्तिपूजा का ज्ञान सिखाया।

वृद्ध हारीत[1] का कहना है कि नृसिंह के रूप में विष्णु की पूजा सभी वर्ण के लोग कर सकते हैं, नृसिंहपुराण भी इसी विचार का समर्थन करता है। इस संबन्ध में शातातप की उक्ति महत्वपूर्ण है। यथा—

अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम्।
काष्ठलोष्ठेषु मूर्खाणां युक्तस्यात्मनि देवता॥

(आह्निक प्रकाश में उद्धृत, पृ० ३८२) साधारण लोगों के देव जल में है, ज्ञानियों के स्वर्ग में, अज्ञानियों एवं अल्पबुद्धि वालों के काठ एवं मिट्टी (मूर्ति) में, योगियों के देव उनके सत्त्व हृदय में रहते हैं। ईश्वर की पूजा अग्नि में आहुतियों से होती है, जल में पुष्प अर्पण करने से, हृदय में ध्यान से एवं सूर्य के मण्डल में जप करने से होती है। देवपूजा को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए श्री शंकराचार्य ने अथक प्रयास किया। पंचायतन पूजा (विष्णु, शंकर, गणेश, देवी और सूर्य) में एक-एक के अनन्य उपासक बहुत मिलते हैं। षोडसोपचार विधि से पूजन करने की परम्परा आज भी है।

वैश्वदेव

'यत्र विश्वे देवा इज्यन्ते तद्वैश्वदेविकं कर्म।'

देवताओं को पक्वान्न देना। वैश्वदेव में सभी देवताओं के लिये भोजन पकाया जाता है। अतः वैश्वदेव के अन्तर्गत देवयज्ञ, भूतयज्ञ, एवं पितृयज्ञ तीनों आ जाते हैं।[2] वैश्वदेव बलि गृह्याग्नि या साधारण अग्नि में देनी चाहिए। यदि अग्नि नहीं

१—६।६, ८।२५६

पराशर माधवीय के अनुसार—

२—एते देवयज्ञ भूतयज्ञ पितृयज्ञा वैश्वदेव उच्यते। स्मृत्यर्थसार पृ० ४७
त एते देवयज्ञ भूतयज्ञ पितृयज्ञास्त्रयोपि वैश्वदेव शब्देनोच्यन्ते। यत्र विश्वे देवा इज्यते तद्वैश्वदेविकं कर्म। देवयज्ञे च एतन्नाम मुख्यम्। पितृयज्ञे छत्रिन्यायेन

हो तो जल या पृथ्वी पर छोड़ देनी चाहिए।[१] वैखानस ने वैश्वदेव को देवताओं का यज्ञ कहा है।[२] वैश्वदेव में तीन यज्ञ (देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं पितृयज्ञ) एक साथ प्रतिदिन किये जाते हैं। सभी देवताओं को आहुतियाँ देने के कारण या सभी देवताओं के लिये भोजन पकाये जाने के कारण इस कृत्य का नाम वैश्वदेव पड़ा। मनु के अनुसार वैश्वदेव के देवता हैं—अग्नि, सोम, अग्निषोम, विश्वदेव, धन्वन्तरि, कुहू, अनुमति, प्रजापति, द्यावापृथिवी, (अग्नि) स्विष्टकृत्।[३] गौतम के अनुसार अग्नि, धन्वन्तरि, विश्वेदेव, प्रजापति एवं स्विष्टकृत् (अग्नि) ये ही वैश्वदेव के देवता हैं।[४] विष्णु धर्मसूत्र ने इनके अतिरिक्त वासुदेव, संकर्षण, अनिरूद्ध, पुरुष, सत्य, अच्युत, वरुण, इन्द्र एवं इन्द्राग्नि को भी वैश्वदेव के रूप में स्मरण किया है।[५]

अपने लिये जो भी पवित्र भोज्य सामग्री बनाई जाती है उसका कुछ भाग पृथक् पात्र में रखकर घृत छोड़ा जाता है। पुनः उसके तीन भाग किये जाते हैं। वाम हस्त को हृदय पर रखकर दक्षिण हस्त द्वारा एक भाग में से अँगूठे से दबाकर थोड़ा-थोड़ा अन्न सूर्य आदि विश्वेदेवों को दिया जाता है। यह स्मरणीय है कि पक्वान्न पर दूध या दही, घृत छोड़ना चाहिए न कि तेल एवं नमक। आपस्तम्ब के अनुसार नमकीन वस्तु का होम नहीं होता है।[६] भोजन न रहने पर फल या जल

१—श्रौताग्नौ लौकिके वापि जले भूम्यामथापि वा।
वैश्वदेवश्च कर्त्तव्यो वेदयज्ञः स संस्कृत ॥ लघुव्यासः ३.५३
यदि स्याल्लौकिके पक्वं तदन्नं तत्र हूयते। शालाग्नौ तत्र चेदग्नौ विधिरेषः सनातनः
देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद् भूतबलिं हरेत्। श्वभ्यश्च श्वपदेभ्यश्च पतितादिज्य एव च
वैश्वदेवं विनार्थेन सायम्प्रातर्विधीयते।
एकन्तु भोजयेद्विप्रं पितृनुद्दिश्य यत्सदा ॥

२—पक्वान्नेन वैश्वदेवेन देवेभ्यो होमो देवयज्ञः (वैखानस स्मार्त ६।१७)

३—वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥८४॥
अग्ने सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५
कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च।
सहद्यावा पृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ मनु० ३।८६

४—गौतम० ५।९

५—विष्णु धर्मसूत्र ६७।१।३

६—आपस्तम्ब धर्मसूत्र—२।६।१५।१२-१४।

देने का विधान है। अपरार्क का मत है कि भले ही स्वयं भोजन न करें पर उस दिन वैश्वदेव को तो भोजन कराना ही चाहिए।[1]

भूतयज्ञ या बलिहरण

जब जीवों को बलि (भोजन या ग्रास या पिण्ड) दी जाती है तब उसे भूतयज्ञ की संज्ञा दी जाती है। देवयज्ञ के सभी देवताओं, वनस्पतियों, औषधियों, कुल देवताओं, स्थान देवताओं, इन्द्र, वरुण, सोम, ब्रह्मा, वैश्वदेव एवं उनके अनुचरों को बलि दी जाती है। उत्तर में राक्षसों को भी बलि देते हैं। शेषांश दक्षिण में पितरों को स्वधा नाम से कह कर छोड़ देते हैं। दिन में बलि दी जाय तो 'दिन में चलने वाले सभी प्राणियों को' एवं रात्रि में दी जाय तो 'रात्रि में चलने वाले सभी प्राणियों को' कहकर बलि देनी चाहिए।

भूतयज्ञ में बलि अग्नि में नहीं वरन् पृथिवी पर दी जाती है वैश्वदेव का पक्वान्न कुत्तों एवं चाण्डालों को देना चाहिए।[2] मनु के अनुसार विश्वेदेवों को आकाश में फेंक कर बलि दी जानी चाहिए।[3] मनु के अनुसार स्त्रियाँ बिना मन्त्रोच्चारण के सायंकाल की बलि दे सकती हैं।[4]

पितृयज्ञ

ऋग्वेद में 'पितृयज्ञ' शब्द यह आभास देता है कि पितृयज्ञ[5] की परम्परा वैदिक काल में भी रही होगी। पितरों को तीन तरह से तृप्त किया जाता है। (१) तर्पण के द्वारा[6] (पितृयज्ञस्तु तर्पणम्—मनु० ३।७०) (२) बलिहरण के द्वारा—इस कृत्य में वैश्वदेव आदि के लिये जो बलि दी जाती है उसका शेषांश पक्वान्न दक्षिण दिशा में पितरों की तृप्ति के लिये 'स्वधा' कहकर छोड़ दिया जाता है।[7]

१—अपरार्क० पृ० १४५।

२—आपस्तम्ब धर्मसूत्र २ ४।९।५-६।

३—विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्। मनु० ३।९०।

४—सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्। मनु० ३।१२१।

५—यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्।
तं हरामि पितृ यज्ञाय देवं स धर्ममिन्वात् परमे सधस्थे॥ ऋग्वेद १०।१६।१०

६—यदेव तर्पयत्यद्भिः पितृन्स्नात्वा द्विजोत्तमः।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृ यज्ञ क्रियाफलम्॥ मनु० ३।२८३

७—पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्॥ मनु० ३।९१

(३) श्राद्ध द्वारा—नित्य श्राद्ध तो अव्यवहारिक प्रतीत होता है किन्तु मनु के अनुसार पञ्चयज्ञ के अन्त में पितृप्रयोजन से एक ब्राह्मण का भोजन होना चाहिए।[1]

मनुष्ययज्ञ

अतिथिसत्कार को ही मनुष्य यज्ञ या नृयज्ञ कहते हैं। 'नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्' मनु की इस उक्ति से यही सिद्ध होता है। अतिथि सत्कार की परम्परा ऋग्वेद काल में भी प्रचलित थी। अपौरुषेय ऋग्वेद के सूक्तों में अग्नि को अतिथि माना गया है। यज्ञ करने वाले अग्नि को अतिथि रूप में पूजते थे।[2] मनु ने अतिथि की व्युत्पत्ति दी है—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथि रुच्यते॥ मनु ३।१०२

अतिथि वह है जो पूरी तिथि (दिन) तक नहीं रुकता है या वह ब्राह्मण अतिथि है जो एक रात्रि रुकता है। पराशरस्मृति की उक्ति है—

दूराद्ध्वानं पथि श्रान्तं वैश्वदेवे उपस्थितम्।
अतिथिं तं विजानीयान्नातिथिः पूर्वमागतः॥
न पृच्छेद्गोत्रचरणं न स्वाध्याय व्रतानि च।
हृदयं कल्पयेत्तस्मिन् सर्वदेवमयोहि सः॥
नैक ग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गमिकं तथा।
अनित्यं ह्यागतो यस्मात्तस्मादतिथिरूच्यते॥

—पराशरस्मृ० १।४१-४३

अतिथि वह व्यक्ति नहीं कहलाता जो भोजनार्थं पहले से ही आमंत्रित है। एक ग्राम का, मित्र या सहपाठी भी अतिथि की कोटि में नहीं आते हैं। बलिहरण के उपरान्त गृहस्थ को अपने गृह के द्वार पर अतिथि के आगमन की प्रतीक्षा उतनी देर करनी चाहिए जितनी देर में एक गाय दुह ली जाती है।[3]

१—एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थं पाञ्चयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत्कंचिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम्॥ मनु० ३।८३
(पितृप्रयोजनेपञ्चयज्ञान्तर्गते एकमपि ब्राह्मणं भोजयेत्)

२—स्योवशीरतिथिर्न प्रीणानो होतेव सद्म विधतो वि तारीत्। ऋग्वेद १।७३।१

३—हुत्वातिथिमाकांक्षेदागोदोह कालम्। बौधायन गृह्यसूत्र २।९।१-३

मार्कण्डेय पुराण में भी अतिथि की परिभाषा एवं प्रशंसा उद्धृत है, यथा—

वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातरुदाहृतम् ।
आचम्य च ततः कुर्यात्प्राज्ञोद्वारावलोकनम् ॥
मुहुर्त्तस्याष्टमं भागमुदीक्ष्योऽप्यतिथिर्भवेत् ।
अतिथिं तत्र सम्प्राप्त मन्नाद्येनोदकेन च ॥
न मित्रमतिथिं कुर्यान्नैक ग्रामनिवासिनाम् ।
अज्ञातकुलनामानां तत्काल समुपस्थितम् ।
बुभुक्षु मागतं श्रान्तं याचमानमकिञ्चनम् ॥
ब्राह्मणं प्राहुरतिथिं सम्पूज्यः शक्तितो बुधैः ।
नपृच्छेद्गोत्रचरणं स्वाध्यायश्चापि पण्डितः ॥
शोभनाशोभनाकारं तं मन्येत प्रजापतिम् ।
अनित्यंहि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरूच्यते ॥

—मार्कण्डेय पु०–२९।२६-३१

वैश्वदेव के पश्चात् प्रातः-सायम् अतिथि के लिये एक मुहूर्त के आँठवें भाग तक द्वार पर अवलोकन करें। जो अतिथि आ जाय उसको सत्कार पूर्वक भोजन दें। ब्राह्मण एवं विद्वान् अतिथि की महती प्रशंसा गायी गई है। कठोपनिषद् में ब्राह्मण अतिथि को अग्नि (वैश्वानर) ही कहा गया है।[1]

जो गृहस्थ अतिथि का सत्कार नहीं करता वह स्वयं केवल पाप भक्षण करता है, यथा—

तस्मिंस्तृप्ते नृयज्ञोत्थादृणान्मुच्येद् गृहाश्रमी ।
तस्यादत्त्वा तु यो भुङ्क्ते स्वयं किल्विषभुङ्नरः ॥
स पापं केवलं भुङ्क्ते पुरीषाञ्चान्य जन्मनि ।
अतिथिर्यस्य भग्नाशोगृहात्प्रतिनिवर्त्तते ॥

—मार्क० पु० ३९।३२-३३

यदि अतिथि निराश होकर लौट जाता है तो वह अपने पाप गृहस्थ को देकर और उसके पुण्यों को लेकर जाता है, यथा—

"सदत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ।"

—मार्क० पु० २९।३४

१—वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् । कठोपनिषद् १।७ ॥

अतिथि सत्कार के पीछे हमारे शास्त्रकारों की उदात्त भावना छिपी है। दया के द्वारा मानव समाज का सम्वर्द्धन करने की यह भारतीय परम्परा है। यात्रियों को एवं यतियों को इस भारतीय परम्परा से पर्याप्त आतिथ्य मिलता आ रहा है।

ब्रह्मयज्ञ

शतपथ ब्राह्मण में वेद एवं वैदिक साहित्य (यथा–वेदांग, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, गाथाएँ, नाराशंसी) के स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ कहा गया है।[1] प्रतिदिन वैदिक मंत्रों का पाठ देवताओं को प्रसन्न करता है, फलस्वरूप देवता सुरक्षा, सम्पत्ति, आयु, बीज एवं कल्याण प्रदान करते हैं, पितरों को घी एवं मधु की धारा से तृप्त करते हैं। मनु कहते हैं—'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः' (३।७०) शंखस्मृति कहती है—'स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञश्च' (५।४) वेद, वेदांगों का अध्ययन-अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है। तैत्तिरीयारण्यक के अनुसार यदि व्यक्ति ब्रह्मयज्ञ के लिये गाँव के बाहर न जा सके तो गाँव में ही दिन या रात्रि में ब्रह्मयज्ञ करें।[2] इस आरण्यक के अनुसार—

नमो ब्रह्मणे नमो स्वग्नये नमः पृथिव्यै नमः ओषधीभ्यः।
नमो वाचें नमो वाचस्पतये नमो विष्णवे बृहते करोमि॥

इस मंत्र से ब्रह्मयज्ञ का अन्त करें।

आश्वलायन गृह्यसूत्र[3] ने स्वाध्याय के लिए निम्नांकित ग्रन्थों के नाम उद्धृत किये हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास एवं पुराण। वेद का जो केवल एक अंश जानता है उसे पुरुषसूक्त[4] का पाठ करना चाहिए। ॐ एवं गायत्री का जप भी ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत किया जाता है।

भोजन

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः (छान्दोग्य ७।२६।२)

शुद्ध आहार से शुद्ध सत्त्व, सत्त्व शुद्धि से अविचल स्मृति या सत्त्व या सत्य-ज्ञान, अविचल स्मृति से सारे बन्धन (सांसारिक) कट जाते हैं।

१—शतपथ ब्राह्मण ११।५।६।३-८
२—तैत्तिरीयारण्यक २।१२
३—आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।३।१
४—ऋग्वेद १०।९०

मनु ने कहा है कि निम्नांकित दोषों के चलते ब्राह्मण की मृत्यु होती है[1] अर्थात् ब्रह्मणत्व नष्ट हो जाता है। (१) वेद का ज्ञान न होना (२) आचार (उचित अनुचित कर्तव्य एवं कर्म का ज्ञान) का अभाव (३) आलस्य (कहीं प्रमाद का पाठ मिलता है) (४) अन्न-दोष (भोजन सम्बन्धी दोष)। ये चार दोष भोजन से सम्बन्ध रखते हैं। जैसा उपनिषद् का कहना है कि शुद्ध आहार ही मोक्ष का कारण है।

स्मृतिचन्द्रिका ने बृहस्पति का कथन उद्धृत किया है कि एक पंक्ति में खाने से एक का पाप दूसरे को लग जाता है । गृहस्थ रत्नाकर ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत करके लिखा है कि हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाड़ी, कब्र, मन्दिर, बिस्तर एवं हथेली पर नहीं खाना चाहिए । हाथ पैर धोकर भोजन करना चाहिए। भोजन एकान्त में करना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका ने वृद्ध मनु का कथन उद्धृत किया है कि पाँच ग्रास तक महामौन रहना चाहिए, इसके बाद वाणी पर नियंत्रण रखना चाहिए। सन्धि-काल में नहीं खाना चाहिए । न प्रातः और न अर्द्धरात्रि में भोजन करना चाहिए। भोजन पात्र के नीचे जल से मण्डल बना देना चाहिए। गोबर से लिपा हुआ भोजन-गृह पवित्र माना जाता है। टूटा हुआ पात्र भोजन के प्रयोग में नहीं लाना चाहिए ।[2] पैठीनसि के अनुसार वट, अर्क, अश्वत्थ, कुम्भी, तिन्दुक, कोविदार एवं करंज की पंक्तियों से निर्मित पात्र में भोजन नहीं करना चाहिए।

भोजनोपरान्त एवं भोजन के पहले दो बार आचमन करना चाहिए। भोजन के समय स्वर्ण धारण करना चाहिए। सम्मान के साथ भोजन को ग्रहण करना चाहिए। दोष ढूढ़ना नहीं चाहिए (अन्नं अद्यात् अकुत्सयेत्)।

सर्वप्रथम मीठा खाना चाहिए तत्पश्चात् नमकीन वस्तु । अन्त में दूध पीना चाहिए। दूध के बाद दही सेवन वर्जित है। एक पंक्ति में बैठे हुए लोगों को एक ही समान व्यंजन दिये जाने चाहिए। भोजन करते वक्त जल भी दाहिने हाथ से ही पीना चाहिए। भोजनोपरान्त "अमृतापिधानमसि" का उच्चारण करना चाहिए।

१—अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ५।४

२—मनु० ४।६५

सूर्य ग्रहण के १२ घंटा पहले एवं चन्द्र ग्रहण के ९ घंटा पहले भोजन नहीं करना चाहिए। ग्रहणोपरान्त स्नान के बाद भोजन किया जा सकता है। ग्रहण में स्नान, दान तर्पण एवं श्राद्ध आवश्यक माना गया है।

भोजन में कौन वस्तु विहित है और कौन-कौन निषिद्ध है धर्म ग्रन्थों में विस्तार के साथ वर्णित है।

जाति दुष्ट—अर्थात् स्वभाव से वर्जित है लहसुन प्याज आदि।

क्रिया दुष्ट—"क्रियाओं के कारण वर्जित है", यथा—खाली हाथ से परोसा हुआ, कुत्तों, पतितों द्वारा देखा हुआ एवं पंक्ति में से उठकर कुछ व्यक्ति चले जायँ तब भोजन अपवित्र माना जाता है।

काल दुष्ट—समय बीत जाने पर भोजन करना।

संसर्ग दुष्ट—निम्न स्तर के गन्दे हाथों से स्पर्श किया हुआ भोजन या कुत्ते स्पर्श कर दिये हों।

सहृल्लेख—अस्वादु एवं अरुचि उत्पन्न करने वाले भोजन।

रस दुष्ट—जिस भोजन में स्वाद समाप्त हो गया हो यानी स्वादहीन।

परिग्रह दुष्ट—भोजन जो व्यभिचारी का हो। भविष्य पुराण इसकी विस्तृत चर्चा करता है। अपरार्क ने भविष्य पुराण से ही उद्धृत किया है। वर्जित भोजन करने से स्वभाव, काल, सम्पर्क, क्रिया, भाव एवं परिग्रह इन ६ कारणों से पाप लगता है।[1] वसिष्ठ धर्मसूत्र (१४।२८) ने व्यवस्था दी है कि "अन्नं पर्युषितं भावदुष्टं सहृल्लेखं पुनः सिद्धमाममांसं पक्वं च" भावदुष्ट भोजन उसे कहते हैं जो अनादर के साथ दिया जाय या जिस भोजन से घृणा उत्पन्न हो। उपर्युक्त प्रकार के भोजनों को निन्दित एवं निषिद्ध बतलाया गया है।

मांस-भक्षण—वैदिक काल से ही इसके पक्ष एवं विपक्ष में पर्याप्त वचन मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में मांस को सर्वश्रेष्ठ भोजन कहा गया है।[2] इसी ब्राह्मण ग्रन्थ में इस सिद्धान्त का भी उल्लेख मिलता है कि मांसभक्षी आगे के जन्म में उन्हीं पशुओं द्वारा भक्षित किया जायेगा।[3] मांस का प्रचलन उत्तरोत्तर कम होने का कारण प्रो०

१—जातिदुष्टं क्रियादुष्टं कालाश्रय विदूषितम्। संसर्गाश्रय दुष्टं च सहृल्लेखं स्वभावतः।
वृद्धहारीत—११।१२२-१२३ एवं अपरार्क-पृ० २४१

२—शतपथ ब्राह्मण—११।७।१।३

३—प्रो० काणे—धर्मशास्त्रका इतिहास, भाग १ पृ० ४२१

काणे यह बतलाते हैं कि आर्यजन ज्यों-ज्यों भारत के मध्य, पूर्व, एवं दक्षिणी हिस्सों में बढ़ते गये या फैलते गये, उन्हें अधिक अन्न, शाक-सब्जियाँ मिलो। पश्चिमी प्रदेशों से भिन्न जलवायु में रहने के कारण मांस-भक्षण में कमो आ गयी।[1] खान-पान के साथ बुद्धि, स्मृति, धृति आदि मानसिक वृत्तियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दही के मथने पर उसका जो अंश अत्यन्त लघु एवं सूक्ष्म है वह ऊपर की ओर उठता है, उसको घृत कहते हैं। उसी भाँति भक्ष्यादि पदर्थों को खाने के बाद उसका अत्यन्त सूक्ष्मांश ऊपर की ओर उठता है, उसी अंश से मन का निर्माण होता है।[2] अतः यह निर्विवाद तथ्य है कि "जैसा होगा अन्न वैसा होगा मन"। आध्यात्मिक एवं सात्विक प्रवृत्ति वाले पुरुषों ने मांस भक्षण का विरोध किया होगा। स्वाभाविक प्रवृत्ति मांस भक्षण की ओर रही होगी, इसलिये पक्ष-विपक्ष में वचन उपलब्ध होते हैं। मनु ने मधुपर्क, यज्ञ, देवकृत्य एवं श्राद्ध में पशुहनन की आज्ञा दी है[3]। किन्तु मनु ने अपनी दिव्यदृष्टि से मांस भक्षण की प्रवृत्ति का अनुमान लगाकर अपने स्मृतिग्रन्थ में निम्नांकित श्लोकों के माध्यम से उपदेश दिया, यथा—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते॥ मनु० ५।४५
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ ४८
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥ ४९
न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते॥ ५०
वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥ ५३
मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ मनु० ५।५५

१—प्रो० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १ पृ० ४२१

२—"दध्नः सौम्यमथ्यमानस्य योऽणिमा स उद्ध्वं, समुदिषतितत्सर्पिर्भवति। एवमेव खलु सौम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स उद्ध्वं समुदीषति तन्मनोभवति"।

३—मधुपर्के च यज्ञ च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः मनु० ५।४१।

उपर्युक्त श्लोकों द्वारा मनु ने मांस भक्षण का निषेध ही किया है। 'जो व्यक्ति जिस पशु का मांस खाता है दूसरे जन्म में पशु उस व्यक्ति का मांस खायेगा' 'मांस' शब्द की ऐसी निरुक्ति कर इसके भक्षण पर स्मृतिकार ने अपनी असहमति ही व्यक्त की है। शास्त्रानुमोदित अवस्थाओं में मांस ग्रहण करने का जो विधान है, मनु के अनुसार, उन अवस्थाओं में भी मांस भक्षण की प्रवृत्ति को त्यागने से महाफल की प्राप्ति होती है।[1]

सुरा—वैदिक काल में सोम एवं सुरा का प्रचलन भिन्न भिन्न रूपों में मिलता है। दोनों मदमत्त करने वाले पेय पदार्थ थे। सोम रस देवताओं एवं पुरोहितों द्वारा प्रयुक्त होता था। सुरा देवताओं को समर्पित नहीं होती थी। सोम को 'सत्य, समृद्धि एवं प्रकाश' तथा सुरा को असत्य, क्लेश एवं अन्धकार' माना गया है।[2] ऋग्वेद में वर्णित वरुण की प्रार्थना के क्रम में मनुष्य कृत पापों का कारण है—भाग्य, सुरा, क्रोध, जुआ एवं असावधानी। ये कारण ही पाप के लिये प्रवृत्त करते हैं।[3] सुरा को पाप का कारण माना गया है, इसी कारण मनु ने सुरा को भोजन का मल कहा है। मल का अर्थ पाप होता है, इस कारण तीन वर्णों को सुरापान नहीं करना चाहिए।[4]

मनु एवं, वृद्धहारीत का कथन है कि—"असत्य प्रलाप, मांस-भक्षण करने, मद्यपान करने, चोरी करने या दूसरे की पत्नी को चुराने से शूद्र भी पतित हो जाता है।[5]

रात्रि के कृत्य—गृहस्थाश्रम में नारी का महत्व सर्वाधिक रहा है। इस आश्रम का सारा सुख भार्या के आधीन माना गया है। जहाँ भार्या है वही गृह है। अतः गृहस्थाश्रम की कामना गृहिणी के अभाव में नहीं की जा सकती है।[6]

१—न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला मनु० ५।५६

२—शतपथ ब्राह्मण ५।५।४।२८।

३—न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः। अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता। ऋग्वेद० ७।८६।६

४—सुरा वैमलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद्ब्राह्मण राजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ मनु० ११।९३

५—वृद्धहारीत—९।२७७-२७८. (धर्मशास्त्र का इति. भाग १ पृ० ४२० में उद्धृत)

६—भार्याधीनं सुखं पुंसां भार्याधीनं गृहं वनम्। भार्याधीना सुखोत्पत्तिर्भार्याधीनः शुभोदयः ॥
यत्र भार्या गृहं तत्र भार्याहीनं गृहं वनम्। न गृहेण गृहस्थः स्याद्भार्यया कथ्यते गृही ॥
बृहत्पराशरस्मृति० ६।७०-७१

भोजनोपरान्त शयन करना चाहिए।

शुचौ देशे विविक्तेषु गोमये नोपलिप्तके।
प्रागुदक्प्लवनेचैव सम्विशेत्तु सदाबुधः॥
माङ्गल्यम्पूर्ण कुम्भञ्च शिरः स्थाने निधापयेत्।
वैदिकैर्गारुडैर्मन्त्रैरक्षांकृत्वा स्वपेत्ततः॥

विद्वान् पुरुष पवित्र, एकान्त एवं गोमयलिप्त स्थान में पृथ्वी पर शय्या विछावें। शय्या के उपर का बिछौना दिवाल या किसी और सामग्री से सटा हुआ न रहें। सदा जलपूर्ण कलश शय्या के सिरभाग के नीचे रखकर वैदिक और तन्त्रोक्त गारूड़ मन्त्रों द्वारा अपनी रक्षा कर शयन करना चाहिए।

धन्यगोविप्रदेवानां गुरुणाञ्चतथोपरि।
न चापिभग्नशयने नाशुचौ नाशुचिः स्वयम्॥
नार्द्रवासा न नग्नश्चनोत्तरापर मस्तकः।

अन्न के ऊपर, गो, ब्राह्मण, देवता, गुरुजन आदि से ऊंचे पर या टूटी शय्या पर, अपवित्र शय्या पर अथवा स्वयं अपवित्र रहकर या आर्द्रवस्त्र धारण किये या नग्न होकर उत्तर और पश्चिम की ओर शिर कर शयन नहीं करना चाहिए।

ऋतुकाल में स्त्री-गमन सम्बन्धी नियमों पर स्मृतियों में अनेक वचन मिलते हैं। मासिक धर्म (रजोदर्शन) से षोडश रात्रि पर्यन्त ऋतुकाल माना जाता है। षष्ठी अष्टमी, एकादशी, द्वादशी, चतुर्दशी, अमावस्या एवं पूर्णिमा, संक्रान्ति, श्राद्ध-दिन, जन्म-नक्षत्र, उपवास के दिन तथा विशेष पर्वों के दिन स्त्री-गमन निषिद्ध है।[1] रजोदर्शन के उपरान्त चौथे दिन नारी शुद्ध होती है। यहूदी जाति में उनके शास्त्रानुसार रजोदर्शन के उपरान्त नव दिन बीत जाने पर स्त्री संग किया जाता है। इस नियम का पालन करने पर स्वस्थ्य एवं चिरजीवी सन्तान की प्राप्ति होती है।

वानप्रस्थाश्रम

यह आश्रम प्राचीन काल में गृहस्थाश्रम के बाद एवं संन्यासाश्रम के पूर्व अर्थात् जीवन के तृतीय चरण में ग्रहण किया जाता था। मनु का कहना है कि

१—षष्ठ्यष्टमी हरिदिनं द्वादशी च चतुर्दशी।
पर्वद्वयं च संक्रान्ति श्राद्धाहो जन्मतारका॥
श्रवणव्रतकालश्च विशेष विवसास्तथा।
एते काला निषिद्धाःस्युः भद्रे मैथुन कर्मणि॥ वाघूलस्मृति० १८२-१८३

जब गृहस्थ अपने शरीर पर झुर्रियाँ देखें, उसके बाल पक जायँ, और जब उसके पुत्रों के पुत्र हो जाय तो उसे वन की राह लेनी चाहिए।[1] मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट के मत से ५० वर्ष के बाद वानप्रस्थ में जाना चाहिए।[2] वैदिक काल में 'वानप्रस्थ' शब्द का समानार्थक शब्द 'वैखानस' था। ऋग्वेद के दो सूक्तों के द्रष्टा भी वैखानस माने जाते हैं।[3] वैखानस और वानप्रस्थ में भेद नहीं माना जाता था। बौधायन ने वानप्रस्थ के भेदों एवं उपभेदों को गिनाकर अन्त में वानप्रस्थ को ही वैखानस नाम से सम्बन्धित किया है। वैखानस ऋषि ने इस आश्रम के नियमों का उल्लेख सर्वप्रथम किया होगा, इसलिए उनके नाम से यह आश्रमव्यवस्था वर्णाश्रम धर्म में प्रचलित प्रतीत होती है। वानप्रस्थ के नियमों का वर्णन पहले वैखानस शास्त्र में हुआ होगा। इसी कारण गौतम आदि प्राचीन महर्षि भी वानप्रस्थ के लिये वैखानस शब्द का प्रयोग किये हैं। कालिदास की शकुन्तला कण्वऋषि के आश्रम में रहते हुए 'वैखानसव्रती' सा जीवन बितायी। मनु (वैखानसमते स्थितः ६।२१) के अनुसार वानप्रस्थ वैखानस मत के अनुयायी होते हैं।

विज्ञानेश्वर ने वानप्रस्थ की व्युत्पत्ति की है—

वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थः,
वनप्रस्थ एव वानप्रस्थः, संज्ञायां दैर्घ्यम्॥

वह जो वन में नियम पूर्वक रहता है। किन्तु क्षीरस्वामी ने इसकी व्युत्पत्ति की है—**प्रतिष्ठन्ते अस्मिन् प्रस्थः, वनप्रस्थे भावी वानप्रस्थः वैखानसाख्यः।**

बृहत्पराशरस्मृति में वैखानस वानप्रस्थाश्रम का एक प्रकार है। इस स्मृति में वानप्रस्थ के चार प्रकार बताये गये हैं—(१) वैखानस (२) उदुम्बर (३) वालखिल्य (४) वनवासी।[4] बौधायन ने वानप्रस्थ के दो प्रकार बतालाये हैं—(१) पचमानक[5] (जो पका हुआ फल या भोजन खाते हैं) (२) अपचमानक (जो स्वयं अपने लिये

१—गृहस्थास्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥ मनु० ६.२

२—'वनं पञ्चाशतो व्रजेत्' मनुस्मृति की टीका-कुल्लूक-३।५०

३—ऋग्वेद ९।६६ सूक्त के ऋषिशत वैखानस एवं १०।९९ सूक्त के ऋषि वभ्र वैखानस मंत्र द्रष्टा माने गये हैं।

४—वानप्रस्थश्चतुर्भेदो वैखानस उदुम्बरः। वालखिल्यो वनेवासी तल्लक्षणमथोच्यते॥ बृहत्पराशर-१२।१५८

५—वानप्रस्थ द्वैविध्यम्। पचमानका अपचमानकाश्चेति॥ बौधायन स्मृति. ३।१-२

भोजन नहीं बनाते) पाचमानक के पाँच भेद होते हैं [१]—(१) सर्वारण्यक (२) वैतुषिक (३) कन्दमूलभक्षक (४) फलभक्षक (५) शाकभक्षक। सर्वारण्यक के दो भेद बतलाये गये हैं—(१) इन्द्रावसिक्त (२) रेतोवसिक्त। वे आरण्यवासी इन्द्रावसिक्त होते हैं जो लता, गुल्म आदि (वल्ली गुल्मलता वृक्षाणामानयित्वा सायं प्रातरग्निहोत्रं हुत्वा यत्यतिथि व्रतिभ्यश्च दत्त्वाऽथेतरच्छेषभक्षाः) लाकर पकाते हैं, उससे अग्निहोत्र करते हैं, आये हुए यति एवं अतिथियों का उससे सम्मान करते हैं, तदुपरान्त शेष भाग को ग्रहण करते हैं। (२) रेतोवसिक्त—(**मांसं व्याघ्रवृकश्येनादिभिरन्यतमेन वा हतमानयित्वा श्रपयित्वा सायं प्रातरग्नि होत्रं हुत्वा यत्यतिथि व्रतिभ्यश्च दत्त्वाऽथेतरच्छेषभक्षाः**) जो व्याघ्रों, भेड़ियों एवं बाज़ द्वारा मारे गये जन्तुओं का मांस पकाकर अग्निहोत्र करते हैं, अतिथि एवं यति को अर्पित करते हैं, तदुपरान्त शेषभाग का भक्षण करते हैं।

अपचमानक वानप्रस्थाश्रमी पाँच प्रकार के होते हैं—(१) उन्मज्जक—(**लोहाश्मकरणवर्जम्**) जो लोहे या पत्थर के पात्र का प्रयोग भोजन रखने के लिए नहीं करते (२) प्रवृत्ताशिनः—(हस्तेनाऽऽदाय प्रवृत्ताशिनः) जो हाथ में ही भोजन करते हैं (३) मुखेनादायिनः—मुखेनाऽऽदायिनो मुखेनाऽऽददते) जो विना हाथ का प्रयोग किये केवल मुख से (पशु के समान) भोजन करते हैं। (४) तोयाहार—जो केवल जल पीते हैं। वायुभक्ष—(वायुभक्षा निराहाराश्चेति) जो उपवास करते हैं। बौधायन के अनुसार वैखानस की यही दश दीक्षा है। [२]

वानप्रस्थाश्रम के नियम

वन में पत्नी के साथ (वृद्धा होने पर) पत्नी की इच्छा होने पर, अन्यथा पत्नी को पुत्रों के साथ छोड़कर वन में ब्रह्मचर्य धारण करते हुए वानप्रस्थी बनें। [३]

वन में अमावस्या एवं पूर्णिमा को दर्श एवं पौर्णमास यज्ञ, आग्रयण इष्टि, चातुर्मास्य, तुरायण द्राक्षायण यज्ञ करते रहना चाहिए। [४] गृहस्थ को घर से निकलते

१—तत्र पचमानका पञ्च विधाः।३।
सर्वारण्यका वैतुषिकाः कन्दमूल फलाभक्षाः शाकभक्षाश्चेति ॥ बौ० स्मृति० ३।३-४

२—वैखानसानां विहिता दशदीक्षाः ॥ बौ० स्मृ० ३।३।१७.

३—याज्ञवल्क्यस्मृति ३।४५: एवं मनुस्मृति—६।३.

४—वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि। दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९
ऋक्षेष्टयाग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्। तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥
मनु० ६।९-१०

समय वैतानिक अग्नि एवं उपासनाग्नि (गृह्याग्नि) के साथ वन में जाना चाहिए। सम्भवतः यह नियम ब्राह्मण-वैखानस के लिये निर्दिष्ट था।

गृहस्थ के रूप में जो भोजन करता था वानप्रस्थ में आने पर उन्हें छोड़ दें। फल, फूल, कन्द-मूल, वन या जल में जो वस्तु उगती हो ऐसी वनस्पति, नीवार, श्यामक (साँवा) आदि का प्रयोग भोजन में करना चाहिए। मधु, माँस, पृथिवी पर उगने वाले कुकुरमुत्ता, भूस्तृण, शिग्रुक तथा श्लेष्मातक फल का सेवन वर्जित है।[1] कुछ नहीं मिलने पर गौतम ने मांसभोगी पशुओं द्वारा मारे गये मृत पशुओं के मांस-सेवन की व्यवस्था दी है। यतियों के यहाँ भिक्षा माँगने एवं ग्रामवासियों से ८ माह तक भोजन माँगने की व्यवस्था मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में दी गई है।[2]

पंचमहायज्ञ प्रतिदिन करना चाहिए। तीन बार स्नान करना चाहिए। मनु के मत से दो बार स्नान करना चाहिए।

वृक्ष की छाल, मृगचर्म या कुश से शरीर ढकना चाहिए। सिर के बाल, नख काटना नहीं चाहिए (**जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च**)। वेद का मौन पाठ (**स्वाध्यायवान्दानशीलः सर्वसत्त्वहितेरतः—याज्ञ० ३।४८, स्वाध्याये नित्ययुक्तः—मनु० ६।८**) करना चाहिए।

वानप्रस्थ में ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना चाहिए, पत्नी के साथ रहने पर भी विषय-वासना से दूर रहें।

एक वक्त भोजन करें या दो दिनों में एक वक्त भोजन करें।[3] भोजन सामग्री एक दिन के लिये या एक माह के लिये एकत्र करें एवं आश्विन मास में उसे बाँट देनी चाहिए।

अर्थस्य संचयं कुर्यात्कृतमाश्वयुजे त्यजेत्।[4]

ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि[5] (चारों तरफ अग्नि एवं ऊपर सूर्य) के बीच में बैठकर वर्षा में बाहर खड़े रहकर हेमन्त (जाड़ा) में भीगे वस्त्र धारण कर यथा-

---

१—वर्जयेन्मधुमांसं च भौमानि कवकानि च।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातक फलानि ॥ मनु० ६।१४

२—याज्ञवल्क्यस्मृति—३।५४-५५, मनुस्मृति० ६।२७।२८।

३—विष्णुधर्म० ९५।५-६, मनु० ६।२०।२१, याज्ञ० ३।५०।

४—याज्ञ० ३।४७।

५—ग्रीष्मे पञ्चाग्नि मध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते शक्त्या वापि तपश्चरेत् ॥ याज्ञ० ३।५२

शक्ति तपस्या करें। अग्नियों को अपनी आत्मा में ही समारोपित करके वृक्ष को ही आवास बनाकर काँटा चुभने एवं चन्दन लेप से जो दुख एवं सुख के प्रति उदासीन रहें, वही सफल वानप्रस्थाश्रमी है।

आत्महत्या का विधान—आत्महत्या की निन्दा सामान्यतः अनेक स्मृतियों एवं सूत्र ग्रन्थों में की गई है। कुछ अपवाद शास्त्र में उल्लिखित है जहाँ शरीर या प्राण-त्याग पवित्र माना जाता है। मत्स्यपुराण में नर्मदा माहात्म्य के प्रसङ्ग में लिखा है कि—

> एवं भोगान् भजन्ते वै मृता येऽमरकण्टके।
> अग्निप्रवेशेऽथ जले तथा चैव अनाशके॥
> अनिवृत्ता गतिस्तस्य पवनस्याऽम्बरे यथा।
> पतनं पतते यस्तु अमरेशे नराधिप॥

अनुशासन[1] पर्व में आया है कि जो वेदान्त के अनुसार अपने जीवन को क्षणिक समझ कर पवित्र हिमालय में उपवास करके प्राण त्याग देता है वह ब्रह्म-लोक पहुँच जाता है। इसी तरह प्रयाग में भी प्राण त्यागने को शास्त्रविहित माना गया है।

शास्त्र के आदेशों का पालन बड़े-बड़े राजाओं ने किया, जिसकी पुष्टि शिला-लेखों से होती है। १०७३ ई० का प्राप्त खैरा दान-पत्र यह सूचना देता है कि कलचुरि राजा गांगेय ने अपनी सौ रानियों के साथ प्रयाग में मुक्ति प्राप्त की।[2] कालिदास ने रघुवंश[3] में महाराज रघु का गंगा-सरयू के संगम पर प्राण त्याग करने का उल्लेख किया है। १०६८ ई० में चालुक्य राजा सोमेश्वर ने योग साधन करने के उपरान्त तुंगभद्रा में अपने को डुबो दिया।[4] कुछ अपवादों को छोड़कर आत्महत्या निन्दनीय कर्म था।

अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, उपवास या पर्वतशिखर से गिरकर मरने के कई उदाहरण हमारे प्राचीन साहित्य में उपलब्ध है। शरभंग ने अग्नि-प्रवेश से आत्म-

---

१—अनुशासन पर्व २५।६२-६४।

२—ऐपिग्राफिक इण्डिया, जिल्द १२, पृ० २०५।

३—रघुवंश० ८।९४।

४—एपिग्रैफिया कर्नाटिका, जिल्द २, संकेत १३६।

हत्या का वरण किया था ।[1] मृच्छकटिक नाटक का प्रसिद्ध राजा शूद्रक अग्निप्रवेश के द्वारा मृत्यु का आलिङ्गन किया था । सम्राट कुमारगुप्त उपलों की अग्नि में प्रवेश कर आत्महत्या कर ली थी ।[2] अपरार्क ने गार्ग्य आदि के वचनों का उद्धरण देकर सिद्ध किया है यदि कोई गृहस्थ महाव्याधि (असाध्य रोग) से पीड़ित हो या जो अतिवृद्ध हो, जो सभी कर्तव्यों को कर चुका हो । इन्द्रिय-सुख का अभिलाषी न हो, वह महाप्रस्थान, अग्नि या जल में प्रवेश करके या पर्वतशिखर से गिरकर अपने प्राणों का उत्सर्ग कर सकता है ।[3] इस तरह का प्राणत्याग तप से भी बढ़कर है । यह इस देश की महान् चारित्रिक विशेषता थी कि कर्त्तव्यपालन में असमर्थ होने पर जीना निष्प्रयोजन माना जाता था । अनादि काल से शास्त्रानुमोदित कर्तव्यों का अनुसरण कर वर्णाश्रमी शारीरिक सुख-दुख से उदासीन रहकर आत्म-तत्व का चिन्तन किये हैं । जैनधर्म में आपत्ति, अकाल एवं बृद्धावस्था में शरीर त्याग को 'सल्लेखना' कहते हैं । दूसरी शताब्दी के जैन आचार्य समन्तभद्र सल्लेखना की विधि लिखते समय प्राचीन धर्मसूत्रों से प्रभावित होकर ही शरीर-त्याग की महिमा गायी होगी । 'बृहन्नारदीय'[4] का उद्धरण देकर 'स्मृतिचद्रिका' ने महाप्रस्थान के के द्वारा प्राण त्यागना कलवर्जित आचरण घोषित किया है । किन्तु ऐसा विचार सभी स्मृतियों से आभासित नहीं होता है ।

वर्णाश्रम धर्म में वानप्रस्थ के अधिकारी वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों में शूद्र को इस आश्रम से वंचित रखा गया है । वर्णाश्रम व्यवस्था में सबके लिए सभी आश्रम नहीं बनाये गये हैं । ब्राह्मणों के लिये ही चारों आश्रम शास्त्रानुमोदित है । क्षत्रिय वर्ण के लिये संन्यास छोड़कर शेष तीनों आश्रम अनुकरणीय हैं । वैश्य ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम का ही पालन करें, यह धर्मानुकूल है । शूद्रों के लिये एक ही गृहस्थाश्रम धर्मविहित है । महाभारत एवं पुराणों में इन आश्रमों की

१—अरण्य काण्ड, अध्याय ९ ।

२—गुप्ताभिलेख संख्या ४२ ।

३—तथा च ब्रह्मगर्भः ! यो जं वितुं न शक्नोति महाव्याध्युपपीड़ितः । सोग्न्युदकमह्यायात्रां कुर्वन्नामुत्र दुष्यति । विवस्वान् । सर्वेन्द्रियविरक्तस्य वृद्धस्य कृतकर्मणः । व्याधितस्येच्छया तीर्थे मरणं तपसोधिकम् । तथा गार्ग्योपि गृहस्थमधिकृत्याह—महाप्रस्थानगमन ज्वालानाम्बुप्रवेशनम् भृगुप्रपतनं चैव वृथानेच्छेत्तु जीवितुम ॥ अपरार्क द्वारा उद्धृत (पृ० ५३६) ।

४—बृहन्नारदीय, पूर्वार्ध, २४।१६. स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृ० १२ ।

महती महिमा गायी गयी है। शूद्र वानप्रस्थ का अधिकारी नहीं है। शेष तीन वर्णों को 'द्विजाति' कहा जाता है। द्विजातियों के लिए वानप्रस्थ आश्रम अनुकरणीय है। महाभारत में दोनों तरह के वचन मिलते हैं—वैश्य इस आश्रम को अपना सकता है पर अपनाने का अधिकारी नहीं है।[१] महाभारत में कई राजाओं का उल्लेख हुआ है कि वे वैखानस शास्त्र का या वानप्रस्थ का परिपालन किये। स्त्रियाँ भी पति के साथ या स्वतंत्र रूप से (पति की मृत्यु के बाद) इस आश्रम का आश्रय ले सकती थी। गान्धारी और धृतराष्ट्र मृगचर्म एवं वृक्ष की छाल पहन कर इस आश्रम को ग्रहण किये थे।[२] सत्यभामा आदि कृष्ण की पटरानियाँ श्री कृष्ण के महाप्रस्थान के बाद वन में इस आश्रम का आश्रय लेकर कठिन तप करने लगी।[३] इसी प्रकार का तपोमय जीवन पाण्डव की मृत्यु की बाद सत्यव्रती ने भी अपनाया था।[४]

संन्यासाश्रम

संन्यासाश्रम अन्तिम आश्रम है। ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम के पश्चात् मोक्ष की कामना से इस आश्रम का आश्रय ग्रहण किया जाता था, यथा—**'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा'**। मनु ने संन्यास के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने के पूर्व कुछ आवश्यक कृत्य बताये हैं।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥ मनु० ६।३५

अर्थात् ब्राह्मण तीन ऋणों से मुक्त होने के लिये ऋषियज्ञ, देवयज्ञ एवं पितृयज्ञ करता है (**जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवाञ्जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः**) मन में मोक्ष की भावना लाने के पूर्व तीन ऋणों से मुक्ति पाने की बात यह सिद्ध करती है कि तीन आश्रमों के बाद ही इस आश्रम का धर्म आचरित होता था। ऋणों से मुक्त हुए बिना मोक्ष की आशा से संन्यास ग्रहण करना

१—आश्रमवासिक पर्व: ३७।२७-२८ (वैश्य के लिये यह आश्रम उल्लिखित नहीं है)।
आश्वमेधिक पर्व, ३५।४३ (यह आश्रम सभी द्विजातियों के लिए है)
मनु—६।१ (सभी द्विजातियों के लिये यह आश्रम है)

२—आश्वमेधिक पर्व, अध्याय १९

३—मौसल पर्व, ७।७४

४—आदि पर्व, १२८।१२-१३

वर्जित था। ब्रह्मचर्याश्रम के बाद व्यक्ति संन्यास की ओर ही उन्मुख न हो जाय इसलिये यह रोक लगायी गयी कि वेदों के अध्ययनोपरान्त धर्मपूर्वक पुत्रोत्पादन करें। देवऋण से मुक्ति पाने के लिये यज्ञ करें तब मन को मोक्ष की ओर प्रेरित करें। इस सम्बन्ध में मनु एवं याज्ञवल्क्य की उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
> इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ।। मनु० ६।३६
> अधीत वेदो जपकृत्पुत्रवानन्नदोऽग्निमान्।
> शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा ।। याज्ञ० ३।५६

संन्यास में आने के पूर्व मनु की उक्ति है—

> संन्यस्य सर्वं कर्माणि कर्मदोषानपानुदन्। मनु० ६।९५

अर्थात् गृहस्थ के अग्निहोत्रादि समस्त कर्मों को त्यागकर संन्यास ग्रहण करने की शिक्षा दी गई है।

संन्यासी के भेद

महाभारत और बृहत्पराशर स्मृति में चार प्रकार के संन्यासी बतलाये गये हैं, यथा—(१) कुटीचक (२) बहूदक (३) हंस (४) परमहंस।

(१) कुटीचक संन्यासी अपने गृह में ही संन्यास धारण कर रहता है, शिखा, जनेऊ, त्रिदण्ड, कमण्डलु धारण करता है तथा अपने पुत्रों या कुटुम्बियों से ही भिक्षा माँगकर खाता है। अपने पुत्रों द्वारा निर्मित कुटिया में ही रहता है। योग-मार्ग के जानने वाले कुटीचक मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में लगे रहते थे।[1]

(२) बहूदक संन्यासी के पास त्रिदण्ड कमण्डलु कषाय वस्त्र रहते हैं। सात ब्राह्मण के यहाँ से भिक्षा माँगते हैं। मांस, नमक एवं बासी भोजन नहीं लेते हैं।[2]

१—पुत्रस्य भ्रातृपुत्रस्य भ्रातृ-दौहित्रयोरपि। तदुपान्त कुटीस्थो यः स भैक्ष्य वृत्तिभुक् द्विजः।
प्रतिचर्याकृत सोऽपि यो वासः पूत वारिपः।
तथा त्रिदण्डभृत शान्त आत्मज्ञः स कुटीचकः ।। बृ० पराशरस्मृति० १२,१६५-६६

२—ज्ञेयो बहूदको नाम यः पवित्रित पादुकः। शिखासनोपवीतानि धातुकाषायवस्त्रभृत।
साधु वृत्ति द्विजौकस्सु भिक्षाभुगात्मचिन्तकः।
बहूदकस्त्वयं ज्ञेयो यः परिव्राट् त्रिदण्डभृत् ।। बृ० पराशरस्मृति १२।१६७-१६७

(३) हंस संन्यासी जटा धारण करने वाले, त्रिपुण्ड्रोर्ध्व पुण्ड्रधारी, अनिश्चित घरों से मधुकरी लाकर भोजन करने वाले तथा कौपीन खण्ड एवं तुण्ड (तूँबी) धारण करते हैं।[1]

(४) परमहंस—किसी वृक्ष के नीचे, शून्यगृह या श्मशान में निवास करने वाले, नग्न या वस्त्रधारी परमहंस संन्यासी संसार के सत्यासत्य एवं द्वैताद्वैत आदि द्वन्द्वों एवं उलझनों से परे होते हैं। इनमें समदृष्टि होती है। आत्मवत् सबको समझते हैं। किसी भी वर्ण के यहाँ भिक्षा लेना इनके लिये धर्मविरुद्ध नहीं है।

पराशरमाधवीय में परमहंस के दो भेद बताये गये हैं, यथा—

(१) विद्वत्परमहंस—जिस व्यक्ति ने ब्रह्मानुभूति कर ली हो एवं जो शाश्वत आनन्ददायक एवं चिरन्तन सत्य में ही सदा रमण करता हो, वह 'विद्वत्परमहंस' के रूप में बुधजन में विख्यात होता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ऐसे ही परमहंस थे।

(२) विविदिषु—जो व्यक्ति परमानन्द या आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये प्रयत्नरत हो, वह विविदिषा-संन्यासी भी परमहंस कहलाता है। किन्तु इस प्रकार के परमहंस मृत्यु के बाद मोक्ष प्राप्त करते हैं, जबकि विद्वत्परमहंस अपने जीवन काल में ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। वृहदारण्यकोपनिषद् एवं जाबालोपनिषद् में प्रथम एवं द्वितीय प्रकार के परमहंस का निरूपण किया गया है। जाबालोपनिषद्[3] में कई ऋषियों का उल्लेख है जो संन्यास के विशिष्ट चिह्न नहीं रखते किन्तु उनकी गणना परमहंस की कोटि में की जाती है, यथा—दुर्वासा, जडभरत, दत्तात्रेय एवं

१—एकदण्डधरा हंसा शिखोपवीतधारिणः। वार्याधार कराः शान्ता भूतानामभयङ्कराः॥
वसन्त्येक क्षपां ग्रामे नगरे पञ्चशर्वरीः। कर्षयन्तो व्रतैर्देहमात्मज्ञानरताः सदा॥
बृ० पराशर स्मृति० १२।१६९-१७०

२—एक दण्डधरा मुण्डा कन्था—कौपीन वाससः।
अव्यक्त लिङ्गिनोऽव्यक्ता सर्वदैव च मौनिनः॥
शिखादिरहिताः शान्ता उन्मत्तवेषधारिणः।
मग्न शून्यामरीकः सुवासिनो ब्रह्मचिन्तकाः॥
एते परमहंसा वैनैष्ठिका ब्रह्मभिक्षवः॥ बृहत्पराशरस्मृति० १२।१७१।७२

३—'''अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता, उन्मत्तवदाचरन्तः'''प्राणसंधारणार्थं यथोक्त-काले विमुक्तो भैक्षमाचरन्; निर्ममः शुक्लध्यान परायणो'''संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम। जाबालोपनिषद्—६।

रैवतक आदि। ये लोग उन्मत्त या प्रमत्त की तरह रहा करते थे, केवल प्राण का सम्बन्ध शरीर से बना रहे इसलिये भिक्षाटन में निकलते थे। किसी वस्तु से इनको मोह नहीं होता था, गुफा हो, घास हो या नदी का किनारा हो कहीं भी ये अपने मन को परमात्मा के ध्यान में निमग्न कर देते थे।

सूत संहिता ने यज्ञोपवीत एवं शिखा का त्याग केवल हंस एवं परमहंस संन्यासियों के लिये बतलाया है।[१] संन्यासियों के लिये विशेष सामग्री संन्यासोपनिषद् में भी उपलब्ध है। तुरीयातीत एवं अवधूत—संन्यासियों के दो अतिरिक्त भेद संन्यासोपनिषद् में वर्णित है। तुरीयातीत संन्यासी परमहंस से भी श्रेष्ठ माना गया है। तुरीयावस्था को पार कर लेने वाला संन्यासी शरीर का ध्यान नहीं रखता है। तीन घरों से ही भोजन लेता है। उसे वस्त्र की आवश्यकता नहीं होती। पका हुआ फल वह गाय की तरह खाता है।

अवधूत किसी भी नियंत्रण से परे रहता है। किसी वर्ण के यहाँ भोजन कर लेता है। (अजगर) सर्प की तरह वह भक्षण करता है। परब्रह्म के चिंतन में सदा लीन रहता है।

नारद परिव्राजकोपनिषद् में आचार भेद से संन्यासी के चार भेद बतलाये गये हैं, यथा—(१) वैराग्य-संन्यास (२) ज्ञान-संन्यास (३) ज्ञान-वैराग्य-संन्यास (४) कर्मसंन्यास। मन में अनर्थकारी दुष्ट काम का अभाव होने से विषयों की ओर से विरक्त होकर जो पूर्व जन्म के पुण्यकर्म के प्रभाव से संन्यास लेता है, वह वैराग्य संन्यासी कहलाता है (२) जो शास्त्र को जानने से पाप और पुण्य का अनुभव कर प्रपञ्च से विरक्त होकर, क्रोध, ईर्ष्या, असूया (दोष दृष्टि) अहंकार और अभिमान स्वरूप संसार को मन से हटाकर, लोकैषणा, वित्तैषणा एवं पुत्रैषणा को त्यागकर साधन चतुष्टय से सम्पन्न होकर संन्यास ग्रहण करता है वह ज्ञान-संन्यासी कहलाता है। (३) जो ज्ञान, वैराग्य के द्वारा केवल अपने स्वरूप का ही चिन्तन करता है, वह ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी है। (४) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ आश्रमों को क्रम से पालन कर जो संन्यासी बनता है वह कर्म-संन्यासी है। विद्वत्संन्यासी ज्ञानसंन्यासी है, तथा विविदिषा-संन्यासी कर्मसंन्यासी है।[२]

कर्म संन्यासी के दो भेद हैं—(१) निमित्त-संन्यास (२) अनिमित्त-संन्यास। रोग आदि से आतुर होने के कारण जिसमें सब कर्मों का लोप हो जाता

१—नारद परिव्राजकोपनिषद्—पञ्चम उपदेश—१-७

२—सूत संहिता ३।६।३—१०।

है, जो प्राणत्याग के समय स्वीकार किया जाता है उसे आतुर-संन्यास या निमित्त-संन्यास कहते हैं। शरीर के स्वस्थ होने पर विचारों द्वारा निश्चय कर सभी भोगों को वमन किये हुए अन्न के समान त्याज्य मानकर क्रम-संन्यास या अनिमित्त-संन्यास ग्रहण किया जाता है।

वर्णाश्रम और संन्यास—मनु ने 'ब्राह्मणाः प्रव्रजेदगृहात्'[1] लिखकर ब्राह्मण को ही संन्यास के योग्य ठहराया है। यही बात मुण्डकोपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में भी उल्लिखित है।[2] द्विजातियों के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य तीन वर्ण आते थे। याज्ञवल्क्य[3] ने मनः शुद्धि के लिये संन्यासाश्रम सभी द्विजों के लिये उपयुक्त बतलाया। स्मृतिचन्द्रिका[4], महाभारत एवं रघुवंश के उद्धरणों को देखकर यह प्रतीत होता है कि इस देश में तीनों वर्णों (द्विजों) के लिए संन्यास ग्रहण करना शास्त्रसम्मत था।

संन्यास के स्वरूप, विधि, आचार एवं नियम

संन्यास में समस्त त्याग की भावना अन्तर्निहित है। जो दूसरों से स्वयं नहीं डरता तथा दूसरों को अपने द्वारा भय नहीं पहुँचाता, वही परिव्राजक (संन्यासी) है—ऐसा स्मृतियाँ कहती है।[5] कोई नपुंसक, अंधा, बालक, पापी, पतित, परस्त्री-गामी वैराग्यवान् होकर संन्यास का अधिकारी नहीं बन सकता। उपर्युक्त प्रकार के व्यक्ति यदि संन्यास ग्रहण करने की कामना करते हैं तो वे आतुर संन्यास के ही पात्र हो सकते हैं क्रम-सन्यास के वे अधिकारी नहीं होते हैं। प्राण निकलने का समय जब अत्यन्त निकट हो तब आतुर संन्यास की दीक्षा ली जाती है।

संसार को सारहीन समझकर सारवस्तु को प्राप्त करने की इच्छा से बुद्धिमान् पुरुष पूर्ण वैराग्य का आश्रय लेकर विवाह किये बिना ही संन्यास ले लेते हैं। नारद परिव्राजकोपनिषद् में कर्म को ही प्रवृत्ति का लक्षण एवं ज्ञान को संन्यास का मुख्य लक्षण बतलाया गया है। लोकैषणा, वित्तैषणा एवं पुत्रैषणा के प्रति अनासक्त, शिखा-सूत्र का त्याग करने वाला भिक्षान्न वृत्ति करने वाला ही संन्यासी हैं।

१—मनुस्मृति ६।३८

२—मुण्डकोपनिषद्—१।२।१२ एवं बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२२

३—संन्यासो वै द्विजन्मनाम् ३।१२

४—स्मृतिचन्द्रिका—१, पृ० ६५, आदिपर्व—११९, शान्तिपर्व—६२।१६-२१, रघुवंश—८।१४,१५

५—नारदपरिव्राजकोपनिषद्—तृतीय उपदेश—२-३

संन्यासाश्रम में प्रवेश करने पर शान्ति, शम (मनोनिग्रह) दम (इन्द्रियनिग्रह) शौच, सन्तोष, सत्य, सरलता, अपरिग्रह का पालन एवं मन, वाणी, कर्म पर नियन्त्रण आवश्यक कर्त्तव्य है।

जिह्वा रहित, नपुंसक, लूला, अंधा, बहिरा एवं मुग्ध (जड़) की तरह रहने वाला संन्यासी अवश्यमुक्त हो जाता है।

नट आदि के खेल, जूआ, युवती स्त्री, सम्बन्धी, भक्ष्य भोज्य पदार्थ एवं रजस्वला स्त्री—इन छः वस्तुओं की तरफ संन्यासी दृष्टिपात् नहीं करता।

राग, द्वेष, मद, माया, दूसरों के प्रति द्रोह तथा अपने प्रति मोह—इन छः प्रकार के विचारों पर संन्यासी मन ही नहीं लगाता है।[१]

संन्यास एवं नारियां तथा शूद्र

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्व कर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १८।२

किसी उद्देश्य की प्राप्ति की अभिलाषा से जो-जो काम्य कर्म किये जाते हैं उनका त्याग ही संन्यास है। ऐसा त्याग नारियाँ एवं शूद्र भी कर सकते हैं। जीवन्मुक्ति विवेक में त्याग ही मोक्ष का कारण माना गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन आया है कि—याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा कि संन्यासाश्रम में जाने से पूर्व मैं तुम्हारे और कात्यायनी (दूसरी पत्नी) के बीच धन का बँटवारा कर देना चाहता हूँ। मैत्रेयी ने कहा कि "जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उन भोगों को लेकर मैं क्या करूँगी"।[२] मैत्रेयी का यह महान् त्याग आदर्श माना जाता है। संन्यासी के इस आन्तरिक तत्वरूप त्याग को नारी और शूद्र भी अपना कर जीवन मुक्त हो सकते हैं। संन्यासी का बाह्य स्वरूप दण्ड, कषाय-वस्त्र आदि धारण करने पर शास्त्रों में मतभेद है, परन्तु कर्मों के फल-त्याग की छूट वेदान्त सूत्र के भाष्यकार श्रीकर तथा अन्य भी देते हैं। भौतिक आनन्द एवं आकांक्षाओं का त्याग (न्यास) शूद्रों, नारियों एवं वर्णसंकरों द्वारा किया जा सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि स्त्रियाँ वृद्धावस्था में, वैधव्य काल में एवं पति या पुत्र के संन्यासी हो जाने पर सांसारिक भोगों को त्याग कर संन्यासिनी भांति जीवन-यापन की है। संन्यासी के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान (यतिधर्मसंग्रह) में उपलब्ध है।

१—नारद परिव्राजकोपनिषद्—द्वा उपदेश ६९—७१

२—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।३-४

सातवाँ अध्याय

धर्म का द्रुमरूप में वर्णन

धर्म अखिल ब्रह्माण्ड के अधिपति द्वारा उच्चरित या निःश्वसित ब्रह्माण्ड के नियमन के लिये उत्तमोत्तम विधान है। इसीलिये महर्षि चाणक्य ने "सर्वेषां भूषणं धर्मः" कहकर इसकी व्यापकता सिद्ध की है। यह व्यापक धर्म मानव जीवन में द्रुम की भांति अंकुरित होकर अपने पत्र पुष्प एवं फल से जीवन को आच्छादित अर्थात् धर्ममय बना देता है। यदि लौकिक जीवन में धर्म को वृक्ष की भांति विकसित, पुष्पित एवं फलित मान लिया जाय तब शंका होती है कि उस धर्म के बीज अंकुर, स्कन्ध, शाखायें, पत्र, पुष्प एवं फल किसे माना जाय! हमारे धर्म में तो सभी तत्त्व समाहित हैं, आवश्यकता है उपयुक्त उर्वर भूमि की जहां बीज पनप सकें। धर्म तत्त्वतः एक होकर भी व्यवहार में नाना रुपों में दिखाई पड़ता है। देश, काल एवं जगत् के घटना—वैचित्र्य से धर्म के तात्विक रूप में किञ्चित् परिवर्तन नहीं होता। राग, द्वेष रहित सद्विद्वानों के हृदय से जो धर्म समर्थित है वही हमारा धर्म है।[1] ऐसे धर्म को सरल रीति से बोधगम्य बनाने के लिए मैंने वृक्ष की भांति अनेक खण्डों में विभक्त किया है यथा—

बीज—आस्तिक्य बुद्धि,

अंकुर—शास्त्रों में प्रामाण्य बुद्धि,

स्कन्ध—ईश्वर में विश्वास,

शाखायें—यज्ञ, अध्ययन, दान, व्रत, पर्व, तीर्थ

पत्र—अर्थ,

पुष्प—काम,

फल—मोक्ष।

उपर्युक्त रीति से धर्म हमारे जीवन में द्रुम के सदृश बीज से अंकुरित होकर पुष्पित एवं फलित होता है।

१—विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥ मनु० २।१

धर्मद्रुम का बीज

"आस्तिक्य बुद्धि"

आस्तिक एवं नास्तिक शब्दों का प्रयोग तीन अर्थों में प्रचलित हैं।

(१) ईश्वरीय सत्ता में विश्वास रखने वाले को आस्तिक कहने का प्रचलन लोक-व्यवहार में दिखाई पड़ता है।

(२) परलोक में विश्वास रखने वाले को आस्तिक की संज्ञा दी जाती है।

(३) वेद को मानने वाला या वेद विहित मार्गों का अनुसरण करने वाला आस्तिक है।

(१) ईश्वरीय सत्ता में विश्वास रखने वालों को ही आस्तिक कहने से सांख्य-सूत्र या सांख्य दर्शन को आस्तिकता के अन्तर्गत मानने में आपत्ति होगी। सांख्य दर्शन यह मानता है कि जगत् की सृष्टि तथा कर्म फल-प्रदान आदि कार्यों के लिये ईश्वर की सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर को तर्क या प्रमाणों का विषय नहीं माना है। प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती। ईश्वर कृष्ण तथा कारिका के टीकाकारों ने स्पष्टतः ईश्वर का निषेध ही किया है।[1]

ब्रह्मसूत्र और प्राचीन मीमांसा-ग्रन्थों के आधार पर भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, उत्तरकालीन मीमांसकों ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप में स्वीकार किया है। कर्ममीमांसा या पूर्वमीमांसाने कर्म-फलकी प्राप्तिके पूर्व एक अपूर्व की कल्पना की है। अपूर्व को कर्म की सूक्ष्मतर अवस्था या फल के पूर्व की अवस्था मानते हैं। अपूर्व के बिना कालान्तर में कर्म का फल नहीं प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार कर्म मीमांसा फल के लिये ईश्वर को नहीं मानती। अतः आस्तिक केवल ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले को ही माना जायेगा तो सांख्य एवं मीमांसक आस्तिक नहीं कहे जायेंगे, जब कि आस्तिक दर्शन में सांख्यशास्त्र एवं मीमांसाशास्त्र की गणना की जाती है।

(२) परलोक में विश्वास रखना आस्तिकता का एक प्रमाण है। केवल पर-लोक में विश्वास रखने वालों को ही आस्तिक मानने से जैन, बौद्धधर्म को भी आस्तिकता की परिधि में परिगणित होना चाहिए। पाणिनि ने नास्तिक शब्द की व्युत्पत्ति

१—सांख्यकारिका—और सांख्यतत्व कौमुदी—५६-५७, सांख्यसूत्र और भाष्य—१।९२-९५, ३।५६-५७, ५।२-१२

बतलायी है—'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः ।' (४।४।६०) इसका तात्पर्य है, 'नास्ति परलोक इति मतिर्यस्य' (परलोक नहीं है ऐसी जिसकी मति है) अतः 'अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः' यह आस्तिक की व्युत्पत्ति होगी । केवल परलोक की ही अस्तिकता का आधार मानना युक्तिसंगत नहीं लगता । इससे चार्वाक दर्शन ही नास्तिक की श्रेणी में रखा जायेगा, अन्य सभी धर्म इस्लाम एवं ईसाई आदि परलोक में आस्था रखने के कारण आस्तिक दर्शन में परिगणित होंगे ।

(३) मनु ने आस्तिक उसको माना है जो वेद वाक्य को प्रमाण मानता है । वेदनिन्दक को उन्होंने नास्तिक कहा है, यथा—

"नास्तिको वेदनिन्दकः" मनुस्मृति० २।११

वेद को प्रमाण माननेवाले न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग एवं मीमांसा आदि शास्त्र आस्तिक दर्शन की संज्ञा पाते हैं । वेद को प्रमाण न मानने के कारण ही जैन, बौद्ध एवं चार्वाक दर्शन को नास्तिकों की श्रेणी में रखा जाता है । मनुस्मृति के भाष्यकार कुल्लूक भट्ट ने 'नास्तिक्यं वेद निन्दां च' इस मनु वाक्य का 'नास्ति परलोक इति बुद्धि नास्तिक्यम्' यह भाष्य किया है । दूसरे प्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि ने उक्त मनु वाक्य[1] का भाष्य किया है—

वेदप्रमाणकानामर्थानां मिथ्यात्वाध्यवसाय नास्तिक्यम् । शब्देन प्रतिपादनं निन्दा पुनरुक्तो वेदोन्योन्यव्याहतो नात्र सत्यमस्तीति ॥

इससे यह स्पष्ट है कि वेद को धर्म में प्रमाण मानने से ही आस्तिकता के अस्तित्व में स्थिरता आ पायेगी । स्मृतिचन्द्रिका में 'ये च नास्तिक वृत्तयः'[2] (३।१५०) इस मनुवाक्य की व्याख्या प्रस्तुत की गई है—

नास्ति कालान्तरे फलदं कर्म नास्ति देवतेत्यादिमन्तो नास्तिकाः ।

परलोक में विश्वास नहीं करने वाले नास्तिक होते हैं यह अनेक प्रमाणों से पुष्ट होता है ।

वस्तुतः 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' में धर्म के सभी तत्त्व समाहित है । महर्षि मनु ने वेदों को धर्म का मूल प्रमाण कहकर वेद और धर्म का एकीकरण प्रस्तुत किया

१—नास्तिक्यं वेद निन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् । मनु० ४।१६३

२—ये स्तेनपतितक्लीवा ये च नास्तिकवृत्तयः ।
तान्हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ॥ मनु० ३।१५०

है। जिस प्रकार वेद परब्रह्म परमात्मा से निःश्वसित परम पुनीत प्राणवायु के समान अमर वाणी है, उसी प्रकार धर्म भी अपौरुषेय वेद वाणी पर अवलम्बित पवित्र विधान है। दोनों एक ही वस्तु के दो रूप हैं।

ईश्वर की सत्ता में विश्वास और परलोक में आस्था का सम्बन्ध आत्मा की अमरता से है। आस्तिकता के इन मूलभूत सिद्धान्तों का सम्यक् दर्शन वेदों में मिलता है। अतएव महर्षि मनु की आस्तिक एवं नास्तिक की परिभाषा सर्वथा समीचीन है। वेद निन्दा से आत्मा की अमरता सिद्ध नहीं की जा सकती है। परलोक के प्रति विश्वास को सम्पुष्ट नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में ईश्वर का अस्तित्व ही आलोचना एवं अनास्था का विषय बन जायेगा। अतः महर्षि मनु का कथन 'नास्तिको वेद निन्दकः' सर्वथा समीचीन है। आस्तिक वही है जो आत्मा की अमरता में विश्वास करें। शरीर नाश के साथ आत्मा का नाश नहीं होता, यह विचार परलोक में अटूट विश्वास उत्पन्न करता है। ऐसे विचारों से विभूषित व्यक्ति ही धर्माचरण में जीवन का आनन्द पाते हैं। पाप और पुण्य का भेद वे मानते हैं। पाप कर्मों से यावज्जीवन वे डरते हैं। उनकी भावना—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटि शतैरपि' की होती है (अर्थात् हजारों कल्प बीत जाय, किन्तु जो जैसा कर्म किया है उसको इस शरीर से नहीं दूसरे शरीर से अवश्य भोगना पड़ेगा)। इसी आधार पर हमारे शास्त्रकारों ने (१) प्रारब्ध, (२) वर्तमान, (३) संचित। कर्म के तीन भेद किये हैं। (१) प्रारब्ध कर्म उस कर्म को कहते हैं जिसका फल इस समय भोग रहे हैं। (२) वर्तमान कर्म तो हर क्षण जीव करता है। संसार में रहकर कर्मों का परित्याग नहीं हो सकता। (३) संचित कर्म—वर्तमान कर्म का ही कुछ अंश संचित होता जाता है जो बाद में प्रारब्ध बन जाता है। संचित कर्म का विनाश ज्ञान से होता है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से इस बात का संकेत किया है कि—

ज्ञानाग्नि सर्वं कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

इससे यह सिद्ध होता है कि संचित कर्म का विनाश ज्ञान से होता है, भोग से भी संचित कर्म का क्षय होता है। यदि भोग से ही कर्मों का क्षय माना जाय तो जीव को शरीर का परित्याग करना पड़ेगा, जबकि मानव जीवन का चरम लक्ष्य (पुरुषार्थ) मोक्ष प्राप्ति है, वह नहीं उपलब्ध हो सकेगा। हमारा वेद कर्म, उपासना एवं ज्ञान से ओत-प्रोत है। वेद के उस भाग को हम लोग पूर्व मीमांसा कहते हैं जिसमें

कर्मकाण्ड की महत्ता बतलाई गयी है। कुछ भाग ऐसे हैं जिसमें सिर्फ ज्ञान की महत्ता बतलाई गयी है। भक्ति (उपासना) तो सुमेरु की तरह मध्यवर्ती आराध्य तत्त्व है। ज्ञानियों या कर्मवादियों के लिये अनुकरणीय तथा दोनों के लिये आदरणीय है। वेदों में त्रिविध धाराओं का अद्भुत समन्वय (त्रिवेणी) उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय धर्म के अद्भुत प्रकाश को अपने में संजोकर अनादिकाल से मानव समाज का मार्ग दर्शन करता है। जिस भाँति बीज में विशाल वृक्ष की सूक्ष्म शक्ति निहित है उसी भाँति वेदों में धर्म का विशाल द्रुम छिपा हुआ है।

वेदों तथा वेदानुसारी स्मृतियों द्वारा जो हमें कर्मानुष्ठान बतलाये गये हैं वही कर्म साध्यरूप धर्म के बीज कहे जाते हैं। साध्यरूप धर्म का सम्बन्ध यदि हम शरीर से मानते हैं तब प्रश्न यह उठता है कि शरीर अनित्य है, शरीर के नाश के बाद जो आश्रित साध्यरूप धर्म है उसका भी विनाश हो जायेगा, फिर कौन ऐसी वस्तु आत्मा के साथ रह जायेगी जिससे उसको सुख या दुःख का भोग करना पड़ेगा। हमारे न्याय-वैशेषिकों ने धर्म का अधिष्ठान अर्थात् धर्म का आश्रय आत्मा को माना है। आत्मा की अमरता के सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। गीता० २।३०

इससे यह सिद्ध होता है कि 'आत्मा देह के भीतर रहते हुए भी अवध्य, अविनाशी, अजर एवं अमर है। अब शंका यह हो सकती है कि धर्म में जो कारणत्व सिद्ध होता है उसका हेतु क्या है? इस प्रसंग का सम्यक् निरूपण महान् नैयायिक उदयनाचार्य ने किया है—

सापेक्षत्वादनादित्वाद् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः॥

—न्याय कुसुमाञ्जलिः, प्रथमस्तबक, श्लोक–४

अर्थात् यदि संसार का कारण धर्म को न माना जाय तो कार्य मात्र को आकस्मिक उत्पन्न होना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य को किसी वस्तु को बनाने की इच्छा होती है तब अवश्य ही उसके साधन को जुटाना होता है, ऐसा नहीं होता की मन में सोचने मात्र से कार्य की उत्पत्ति हो जाय। अतएव सुख-दुःख या शरीरादि की परम्परा जो मानव जीवन में दीख पड़ती है उसका कारण अवश्य ही अप्रत्यक्ष वस्तु है। चार्वाक के स्वभाववाद का खण्डन श्री उदयनाचार्य ने

तार्किक ढंग से किया है। धर्माधर्म या अदृष्ट की सिद्धि के लिए (१) सापेक्ष होने से (२) अनादि होने से (३) नाना प्रकार के वैचित्र्य के कारण (जल, वायु आदि कार्यों के कारण) (४) स्वर्गादि सुख की कामना से आस्तिक पुरुषों द्वारा यज्ञादि कर्म करने की प्रवृत्ति होने से (५) प्रत्येक व्यक्ति (आत्मा) में अलग-अलग सुख-दुःख आदि भोग की व्यवस्था होने से, यह विश्वास प्रत्येक आस्तिकजन को करना पड़ता है कि उपर्युक्त कार्यों का अलौकिक कारण अर्थात् धर्माधर्म का अस्तित्व है, जो सबका नियमन करता है।

उपर्युक्त तथ्यों से सिद्ध होता है कि ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता और परलोक की धारणा का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसका प्रतिपादक वेद ही आस्तिकता का आधार एवं मूल प्रतीत होता है। सम्पूर्ण जगत् का आधार एवं निर्माण कर्त्ता कोई है, जो सभी प्राकृतिक शक्तियों का नियमन करता है। ऐसी निश्चयात्मिका प्रवृत्ति से युक्त (बुद्धि) अन्तःकरण जब आस्तिकता के धरातल पर स्थिर हो जाता है तब मानव जीवन में धर्म के प्रति स्वाभाविक उद्रेक होता है। अतः नाना प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि आस्तिक्य बुद्धि का आधार आत्मा की अमरता—परलोक में विश्वास एवं ईश्वर की सत्ता में अटूट आस्था है। यह विश्वास न हो तो धर्माधर्माचरण की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होगी। इस कारण इसे धर्म का बीज कहते हैं।

आठवाँ अध्याय

धर्मद्रुम का अङ्कुर—शास्त्रों में प्रामाण्यबुद्धि

प्रत्येक आस्तिक व्यक्ति को जिस वस्तु से ज्ञान होता है वह प्रमाण कहा जाता है। ज्ञान (बुद्धि) का अधिष्ठान आत्मा को माना जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है (१) स्मृति-ज्ञान (२) अनुभव ज्ञान। स्मृति ज्ञान की उत्पत्ति संस्कार से होती है। स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। अनुभव के दो भेद माने जाते हैं—(१) यथार्थ ज्ञान (२) मिथ्या ज्ञान (अयथार्थ ज्ञान)। यथार्थ ज्ञान को ही प्रमा कहते हैं। उदयनाचार्य ने प्रमाण के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है कि—

"यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्"

अर्थात् किसी वस्तु के यथार्थ अनुभव को प्रमा तथा प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं। सांख्यदर्शन का अभिमत है कि ज्ञान की उत्पत्ति पुरुष और बुद्धि के सम्मि-लन से ही होती है बुद्धि में आत्मा का चैतन्य जब प्रतिबिम्बित होता है तब ज्ञान की उत्पत्ति मानी जाती है। आत्मा तो बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों के द्वारा ही पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करती है, मन एवं इन्द्रियाँ जिन विषयों को बुद्धि के समक्ष उपस्थित करती है बुद्धि अपने स्वभाववशात् उस विषय से आवृत हो जाती है।[1] सांख्य दर्शन बुद्धि को जड पदार्थ मानता है। जब आत्मा के चैतन्य का प्रकाश बुद्धि पर पड़ता है तत्पश्चात् हमें विषयों का ज्ञान होता है। सांख्य दार्शनिक अनुभव को बुद्धि एवं पुरुष के संयोग का परिणाम मानते हैं।[2]

मीमांसा दर्शन में अज्ञात एवं सत्यभूत पदार्थ के ज्ञान को 'प्रमा' कहा गया है, यथा—

प्रमा चाज्ञाततत्वार्थज्ञानम्—(मानमेयोदय—१।२)

१—तदाकारकारित—सांख्य दर्शन

२—"उपात्त विषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति; वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते" त० कौ० का० ५।

अतः प्रमा में दो आवश्यक तत्त्व हैं (१) वह अज्ञात हो (२) वह सत्य अर्थ का प्रकाशक हो। इन दोनों के कारण ही ज्ञान का नाम प्रमा है। प्रमा का कारण प्रमाण कहलाता है। शास्त्रदीपिका में प्रमाण का लक्षण बतलाया गया है—**कारण दोष—बाधक-ज्ञान रहितम् अग्रहीत ग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्**[1]।

प्रमाण के अन्तर्गत वही ज्ञान आता है (क) जिसके उत्पन्न करने वाले कारण में कोई दोष नहीं हो (ख) जो दूसरे ज्ञान द्वारा बाधित न हो (ग) जो ऐसे पदार्थ का ज्ञान करता है जिसके विषय में जानकारी न हो। ऐसी तीन विशिष्टताओं से युक्त ज्ञान प्रमाण कहा जाता है।

प्रमाण को न्यायदर्शन में चार प्रकार का माना गया है—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान (४) शब्द। सांख्यदर्शन में प्रमाण के तीन भेद बतलाये गये हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान (३) शब्द। मीमांसा दर्शन में भाट्ट मत के अनुसार प्रमाण छः प्रकार के हैं—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान, (४) शब्द (५) अर्थापत्ति और (६) अनुपलब्धि।

प्रभाकर अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानते हैं। अद्वैत वेदान्त में मीमांसा की भांति ही छः प्रमाण माने जाते हैं। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो प्रकार का ज्ञान माना गया है।

चार्वाक मतानुयायी केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। चार्वाकमत में विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रामाणिक है। समस्त प्रमेय पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध नहीं की जा सकती है। बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक, सांख्य एवं मीमांसादि दर्शनों में अनुमान को प्रामाणिक माना जाता है, किन्तु चार्वाक मत में अमान्य है।

प्रत्यक्ष प्रमाण—प्रमा का अर्थ यथार्थ अनुभव ही प्रचलित है। **'प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्'** अर्थात् जिसके द्वारा प्रमा की उत्पत्ति होती है वह प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रिय एवं अर्थ का सन्निकर्ष आवश्यक है। प्रत्यक्ष प्रमाण में विषय का इन्द्रिय के साथ इन्द्रिय का मन के साथ एवं मन का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैसे घट विषय है, चक्षु इन्द्रिय है, केवल घट और चक्षु से ज्ञान नहीं होता। चक्षु और मन में सम्बन्ध होने के बाद यदि आत्मा का सम्बन्ध न हो तो प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। अर्थात् मन के साथ आत्मा के सम्बन्ध

१—शास्त्रदीपिका—१।१।५

होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रतीति होती है। न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान को निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दो नामों से अभिहित किया जाता है। निर्विकल्पक ज्ञान में वस्तु या पदार्थ की नाम, गुण, जाति आदिका ज्ञान नहीं होता है, केवल यही प्रतीति होती है यह कोई वस्तु है। जब उस वस्तु या पदार्थ का नाम, गुण, जाति क्रिया आदि का ज्ञान प्राप्त हो जाय तब 'सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान' के नाम से अभिहित किया जाता है, जैसे—दूर से देखकर यह कहा जाय कि 'वह पशु चरता है'—यह निर्विकल्पक ज्ञान है। नजदीक से देखने एवं जानने के बाद जब निश्चित रूप से कहा जाय कि 'यह मोहन की काली गाय है', तब यह सविकल्प ज्ञान कहलाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण को लौकिक एवं अलौकिक इन दो नामों से भी जाना जाता है। लौकिक के भी बाह्य इन्द्रियों द्वारा साध्य एवं मन द्वारा साध्य—ये दो भेद होते हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों [1] के द्वारा बाह्य-प्रत्यक्ष प्रमाण की पुष्टि होती है।

निर्विकल्पक ज्ञान को वैयाकरण तथा सविकल्पक ज्ञान को बौद्ध नहीं मानते हैं। भाट्ट मतानुयायी प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इन्द्रिय सन्निकर्ष में समवाय सन्निकर्ष को नहीं मानते हैं। प्रभाकर के अनुसार संयोग, संयुक्त समवाय तथा समवाय तीन सन्निकर्ष ही मान्य है। सांख्य मतानुसार आलोचन और सविकल्पक—ये दो भेद प्रत्यक्ष ज्ञान (प्रमाण) के होते हैं। निर्विकल्पक प्रमाण ही आलोचन है। विषय के साथ इन्द्रिय संयोग ही आलोचन है। इसमें वस्तु का सम्बन्ध केवल इन्द्रिय से होता है मन से नहीं होता। सविकल्प प्रमाण में वस्तु को इन्द्रियाँ मन के समक्ष विश्लेषण करने के लिये प्रस्तुत करती हैं। मन ही नाम, रूप, गुण आदि विशिष्टताओं को जानने के लिये प्रवृत्त करता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का दूसरा भेद अलौकिक है। इसके भी तीन भेद हैं—सामान्य-लक्षणा प्रत्यासत्ति (२) ज्ञान-लक्षणा प्रत्यासत्ति (३) योगज। सकल धूमों में तथा दृश्यमान धूमों में धूमत्त्व विद्यमान रहता है—यह सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति है। दूर-स्थित किसी फूल से घ्राण का सम्बन्ध तो नहीं होता फिर भी गन्ध का ज्ञान होता है, यह ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति है। दूरस्थ, सूक्ष्म तथा व्यवहित वस्तुओं का प्रत्यक्ष-ज्ञान ध्यान तथा योग से ही सम्भव है [2]। इसे योगज प्रत्यासत्ति कहते हैं।

१—स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्तेन्द्रिय

२—ध्यानावस्थितद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो"" (स्तोत्ररत्नाकर)

अनुमान

तल्लिंग—लिंगिपूर्वकम्—सा० का० ५

लिङ्ग (हेतु) देखकर साध्य की सिद्धि करना अनुमान कहा जाता है, जैसे—पर्वत के शिखर से बराबर धूम निकलने के कारण यह अनुमान किया जाता है कि पर्वत वह्निमान् है (अर्थात् अग्नि का सद्भाव इसमें है)। धूम को देखकर अग्नि की कल्पना की जाती है। क्योंकि दोनों की सदा साथ रहने की प्रकृति है।

न्यायशास्त्र में किसी वस्तु को सिद्ध करने को साध्य कहते हैं तथा जिस साधन से वह सिद्ध होता है या जिसके द्वारा सिद्ध हो उसे हेतु कहते हैं। साध्य को लिंगी एवं व्यापक नाम से भी अभिहित किया जाता है। हेतु को लिंग और व्याप्य नाम से भी पुकारते हैं। धूम व्याप्य है, अग्नि व्यापक है। व्याप्य से व्यापक का अनुमान करना समीचीन है किन्तु व्यापक से व्याप्य का अनुमान सत्य नहीं भी हो सकता है। अनुमान के तीन भेद नैयायिक बतलाते हैं—(१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतो दृष्ट।[1]

जब कारण से कार्य का अनुमान किया जाय तब 'पूर्ववत्' और कार्य से कारण का अनुमान किया जाय तो 'शेषवत्' की संज्ञा की जाती है। नभमण्डल में मेघमाला को देखकर वर्षा का अनुमान करना पूर्ववत् है और नदी के जल में वृद्धि देखकर यह अनुमान करना कि कहीं वर्षा हुई होगी, यह शेषवत् है। किसी वस्तु-विशेष की सत्ता का अनुभव न होकर जब साधारण स्वरूप का ही परिचय प्राप्त हो तब उसे सामान्य मात्र का दर्शन कहते हैं, यथा—इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान।

न्यायशास्त्र में ही अनुमान के दो भेद भी कहे जाते हैं—(१) स्वार्थानुमान, परार्थानुमान। अपने लिये यदि अनुमान किया जाय तो वह स्वार्थानुमान है, दूसरे व्यक्ति के लिये अनुमान किया जाय तो वह परार्थानुमान है। परार्थानुमान को प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच वाक्यों से सिद्ध करते हैं।

अनुमान का मुख्य आधार व्याप्ति है। व्याप्ति कहते हैं हेतु और साध्य के बीच नियत साहचर्य सम्बन्ध को जो उपाधिरहित होता है (अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये आर्द्र लकड़ी का संयोग ही उपाधि है)।

१—न्यायसूत्र—१।१।५

सांख्यदर्शन वीत तथा अवीत दो भागों में अनुमान को बाँटता है। विधि-वाक्य पर आधारित अनुमान वीत है। इसको पूर्ववत् एवं सामान्यतो दृष्ट इन दो भागों में बाँटते हैं। अवीत अनुमान शेषवत् के समान है। शेष का अर्थ अवशिष्ट होता है। शब्द के स्वरूप का निर्धारण करने के लिये शेषवत् अनुमान का ही आश्रय लिया जाता है। इस अनुमान से ही शब्द को गुण सिद्ध किया जाता है।

उपमान

न्याय दर्शन उपमान को भी स्वतंत्र प्रमाण मानता है। मीमांसा दर्शन में भी, उपमान एक स्वतंत्र प्रमाण है, किन्तु न्यायदर्शन से भिन्न परिवेश में वैशेषिक दर्शन उपमान को अनुमान के अन्तर्गत मानता है। चार्वाक तो उपमान को स्वीकार ही नहीं करता जबकि दिङ्नाग प्रत्यक्ष प्रमाण के अंतर्गत ही उपमान को भी मानता है। सांख्यदर्शन उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण नहीं प्रत्युत शब्द और प्रत्यक्ष प्रमाणों के अन्तर्गत स्थित मानता है।

वन में यदि पहली बार नील गाय देखकर गाय के सदृश होने के कारण उसे नील गाय कहने का ज्ञान प्राप्त हो, उसे उपमान कहते हैं। किसी आप्त पुरुष के उपदेश को श्रवण करने से जब ज्ञान हो कि गाय के समान गवय (नील गाय) होता है, इसे नैयायिक उपमान कहते हैं। मीमांसक की दृष्टि में नील गाय देखने पर गाय की स्मृति होती है, क्योंकि नील गाय में गाय के समान अंग होने से सादृश्यता है। उस स्मृति के आधार पर ही नील गाय को गाय के समान कहा जाता है।

शब्द

आप्तोपदेशः शब्दः (न्या० सू० १।१।६)

न्याय दर्शन में आप्तपुरुष के उपदेश को शब्द कहते हैं। आप्त शब्द का प्रयोग यथार्थ, सच्चा, वास्तविक आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप जो जानता हो वही आप्त पुरुष है, जिसके उपदेश प्रमाण माने जाते हैं। शब्द के दो भेद हैं—(१) वैदिक (२) लौकिक। वैदिक शब्द श्रुति को कहते हैं। वेद अपौरुषेय है, क्योंकि यह किसी पुरुष द्वारा निर्मित नहीं है। ईश्वर द्वारा उच्चरित शब्द राशि का ही अपर नाम वेद है। लौकिक शब्द - संसार के पुरुषों द्वारा उद्भूत होता है। प्रत्यक्ष और अनुमान पर यह आश्रित होता है।

सांख्य दर्शन ईश्वर को न मानकर भी वेद को अपौरुषेय मानता है। वेद अपने अर्थ का स्वयं प्रतिपादक है, वह स्वतः प्रमाण है। ऋषियों ने वेद के मन्त्रों का अपने ज्ञान-चक्षु से दर्शन किया (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः)। सदा एवं सर्वत्र यथार्थ सिद्ध होने वाले वेदवाक्य मीमांसा की दृष्टि में धर्म के प्रतिपादक हैं। धर्म में वेद ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। विधि वाक्यों की बहुलता होने से वेद को कर्म करने का महान् प्रेरक ग्रन्थ माना जाता है। मीमांसक वेद के अनुसार कर्म को ही धर्म की संज्ञा देते हैं।

हमारे महर्षियों ने वेद का अर्थ व्यापक अर्थ में कई प्रकार से किया है।

धर्माधर्मौ वेदयतीति वेदः। वेदयन्ति, ज्ञापयन्ति धर्माधर्मौ इति वेदाः।

—(जयमङ्गलटीका-नीतिसार-१)

वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार श्रीमन्माधवाचार्य ने वेद का अर्थ किया है—**"इष्ट-प्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति (ज्ञापयति) स वेदः"** इन व्युत्पत्तियों से यह स्पष्ट होता है कि वेद हमारे मार्गदर्शक हैं। आध्यात्म के क्षेत्र में मानव जीवन के सर्वश्रेष्ठ सम्बल हैं तभी तो इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के परिहार के कारण एवं अलौकिक ज्ञान का मार्गदर्शक होने के कारण वेद को अनादिकाल से धर्म का मूल प्रमाण मानते हैं। मीमांसा शास्त्र ईश्वर के विषय में सन्देह व्यक्त करता है, उसकी सत्ता को संदिग्ध मानता है किन्तु वेद की प्रामाणिकता पर अटूट विश्वास और तार्किक दृष्टिकोण उपस्थित करता है। नैयायिक ईश्वरकृत वेद की प्रामाणिकता को सर्वोपरि मानते हैं। वेद नित्य है। वैदिक वचन नित्य है। यही मानकर ऋग्वेद भाष्यभूमिका में वेद की वेदता के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

जो प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं ज्ञात होता है वह ज्ञान वेद से प्राप्त होता है, यह शास्त्र द्वारा सिद्ध है। पुराण भी वेद के वेदार्थ का विस्तार करते हैं। मनु का धर्मशास्त्र वेद सम्मत है। इसी कारण महाभारत की उक्ति है—पुराण, मनु का धर्मशास्त्र, वेद-वेदाङ्ग और चिकित्साशास्त्र ये चारों आज्ञा-सिद्ध हैं। इनके प्रतिकूल तर्क करने की प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिए। ये आदर और श्रद्धा के योग्य हैं।[1] वेद की महिमा का वर्णन श्रीमद्भागवत में भी है—

१—पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

पितृ देवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि॥

प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि प्रमाणों से परे धर्म, अधर्म, स्वर्गादि अदृष्ट विषयों के लिए, साध्य एवं साधन के लिए, देवता, मनुष्य तथा पितरों के लिए वेद सर्वोत्तम चक्षु है। अतः हमारे धर्म के लिए वेद बहुमूल्य निधि है, हमारे धर्म की प्राण वायु है। ज्ञान और कर्म का अद्भुत-समन्वय वैदिक वाक्यों में है। वेद के विधान कर्मरूप हैं। यहाँ तक कि ज्ञान भी कर्म के लिए ही है। प्रार्थना (उपासना), कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड की त्रिवेणी का अवतरण त्रैलोक्य के त्राण के लिए ही हुआ है। यह सृष्टि-कर्त्ता के हृदय की उपज है। हमारे सभी धर्मशास्त्र, पुराण एवं धर्मग्रन्थ वेद से ही उद्भूत या उद्बोधित हैं, अत: वेदादि शास्त्रों में प्रामाण्यबुद्धि रखने से ही हृदय के आस्तिक भाव में अंकुर की उत्पत्ति होती है। शास्त्रों से श्रेय एवं प्रेय मार्गों की शिक्षा मिलती है। अतः उत्थान या अभ्युदय के लिए निर्दोष उपायों को सिखाने वाले ग्रन्थ को ही शास्त्र नाम से अभिहित करते हैं।

शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षण वेदिभिः॥
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम्।

शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं से की जाती है, यथा—शास् (आज्ञा पालन करना, शंस् (वर्णन करना या प्रकट करना)। अतः 'शास्' से शास्त्र का अर्थ शासन करने वाला ग्रन्थ (शासन-शास्त्र) है। इसके दो भेद हैं—(१) करणीय कर्म (विधि-वाक्य), जो श्रुति, स्मृति द्वारा प्रतिपादित है। (२) निन्दित कर्म—जिसका निषेध शास्त्र करता है। शंस् से जब शास्त्र शब्द सिद्ध होगा तब वह वस्तु के स्वरूप को प्रकट करेगा। यह शास्त्र वस्तुपरक एवं ज्ञानात्मक वाक्यों का वर्णन करता है। (शंसक-शास्त्र)। अत: शास्त्र वही है जो सत्कर्म-दुष्कर्म का ज्ञान करा दे एवं वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर दे। इसी कारण शास्त्र अपने साधक को सखा की तरह सहायता एवं शासक की तरह रक्षा करता है।

शास्त्र नित्य शब्दों का समूह है। शास्त्र-वचन चिरन्तन सत्य है। वेद तथा वेद से उद्भूत शास्त्र ग्रन्थ सार्वकालिक, सार्वदेशीय एवं सार्वभौम माने जाते हैं। शास्त्र न हो तो असत् एवं सत् कर्मों का बोध कौन करायेगा ? भगवद्स्वरूप, भगवद्वाक्य ही तो शास्त्र माने जाते हैं, वही सत्कर्म के आचरण की शिक्षा देते हैं

जिससे अभीष्ट की सिद्धि होती है, अभ्युदय के प्रशस्त मार्ग का दर्शन होता है। शास्त्र से ही ज्ञात होता है कि कौन-कौन असत् कर्म या आचरण नहीं करना है— शुक्राचार्य की उक्ति है—

'शास्त्रतः सदसज्ज्ञात्वा त्यक्त्वाऽसत् सत्समाचरेत्।'

—(शुक्रनीति)

शास्त्र से ही ज्ञातकर सत्-असत् का वर्गीकरण करने के पश्चात् सत्कर्म करना चाहिए। शास्त्रों में प्रामाण्य बुद्धि का यदि अभाव रहेगा तो शास्त्रानुसारी कर्म करने की उत्कट इच्छा, भावना, प्रेरणा एवं प्रवृत्ति जागरित ही नहीं होगी। जो सद्ग्रन्थ सत्कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं, वही असत्कर्म एवं अनिष्ट की ओर अधोमुखी प्रवृत्तियों एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण (शासन) रखने की शिक्षा भी देते हैं।

सांख्य दर्शन का अभिमत है कि लौकिक शब्दों में दोष दृष्टिगोचर हो सकते हैं। देशकाल परिस्थिति के अनुसार लौकिक शब्दों का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है, अतः वे प्रमाणकोटि में नहीं रखे जा सकते हैं। वैदिक वाक्य मनुष्य निर्मित तो हैं नहीं, अतएव प्रकाशस्वरूप अपौरुषेय वाक्यों को ही दोषरहित एवं भ्रान्तिरहित मानकर प्रमाण कहा जाता है।

जैन एवं बौद्ध दर्शन वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं किन्तु शब्द को प्रमाण मानते हैं। क्योंकि बुद्ध के उपदेश (वचन) बौद्धों के लिए एवं जैनागम जैनों के लिए प्रमाण हैं। चार्वाक दर्शन में अनुमान की भाँति ही शब्द को प्रमाण नहीं माना जाता है। सम्भवतः अपने प्रातिभ चक्षुओं से आप्त शब्दों का दर्शन न करने के कारण ही यह भ्रान्ति उनके मन में पली होगी। केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने से ही सृष्टि के अनेक नियम सिद्ध नहीं हो सकते। न्याय तथा मीमांसा दर्शन में चार्वाक मतों का तार्किक खण्डन वर्णित है। विस्तारभय से यहाँ उपस्थित नहीं किया जा रहा है।

उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति को भी प्रमाण माना गया है। दृष्ट या श्रुत अर्थों की व्याख्या के लिए किसी अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना जिससे श्रुत या दृष्ट अर्थ की उपपत्ति हो जाय उसे ही 'अर्थापत्ति'[1] कहते हैं। ये दृष्ट एवं श्रुत दो प्रकार के होते हैं। जैसे—वह दिन में कुछ खाता नहीं फिर भी

१—'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थ कल्पना।'

(शाबर भाष्य १।१।५)

पूर्ण स्वस्थ है। इस वाक्य का अर्थ तभी स्पष्ट होगा, जब यह अर्थापत्ति की जाय कि रात में वह भोजन करता होगा।

दूसरा उदाहरण –किसो ईश्वरान्वेषी को कोई कहे कि—'सत्य ही ईश्वर है' तब इस वाक्य के साथ उसे कल्पना करनी पड़ती है कि सत्यवादी बनने से ईश्वर का दर्शन हो सकता है या सत्यमार्गानुसरण करने से व्यक्ति ईश्वरमय हो सकता है। तभी तो ईश्वर का प्रतीक सत्य हो सकता है। इसी भाँति दैनिक जीवन में अनेक अवसर आते हैं जब इस प्रमाण का सहारा लेकर अर्थों का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा दर्शन अनुपलब्धि को भी प्रमाण मानता है। अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं। किसी वस्तु के ज्ञान की उपलब्धि की सारी सामग्रियाँ हैं फिर भी उपलब्धि नहीं होती, जैसे चलचित्रगृह में समग्र साधन हो पर अन्धकार में (प्रकाश के अभाव में) चित्रज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। वस्तुतः अदर्शन के द्वारा ही अभाव का ज्ञान हमें होता है। अद्वैत वेदान्ती एवं मीमांसक (भाट्टमत) ही इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।

कोई चार, कोई पाँच, कोई छः प्रमाणों द्वारा संसार के समग्र विषयों की सिद्धि करते हैं। पर सभी प्रमाण कर्म में ग्रहण नहीं किये जाते हैं। प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान प्रमाणों से धर्म तथा धार्मिक कृत्यों को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अमुक सदाचार या सत्कर्म का अमुक फल होगा, यह ज्ञान वैदिक वचन ही दे सकते हैं। धर्म-अधर्म का प्रतिपादक वेद ही माना जाता है। वेद ज्ञानरूप या प्रकाशस्वरूप है। वेद को मीमांसक स्वतः प्रामाण्य मानते हैं। नैयायिक प्रामाण्य को परतः मानते हैं। वेद अपना प्रमाण स्वयं है। क्योंकि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है वही सामग्री ज्ञान का प्रामाण्य भी प्रस्तुत करती है।[1] यदि ज्ञान को परतः प्रामाण्य माना जाय तो एक प्रमाण को सिद्ध करने के लिये दूसरे प्रमाण, दूसरे प्रमाण को सिद्ध करने के लिए तीसरे प्रमाण की जरूरत पड़ेगी। इस प्रक्रिया का अन्त नहीं होगा। इस अनवस्था दोष से बचने के लिये मीमांसकों ने सिद्ध किया है कि ज्ञान-ज्ञानता और प्रामाण्य एक ही वस्तु से उत्पन्न होते हैं।

वेद तथा वेदानुसारी शास्त्रों में प्रामाण्य बुद्धि न होने से सत्कर्म या धर्माधर्म (अदृष्ट) की प्रवृत्ति या पाप-पुण्य की भावना का उद्रेक ही नहीं होगा। अतः शास्त्रों में प्रामाण्य बुद्धि को धर्म का अंकुर मानने योग्य है।

१—न्यायकन्दली—पृ० ९१; शास्त्रदीपिका, पृ० २१३-२१५।

नारद पुराण की उक्ति इस सम्बन्ध में स्मरणीय है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

—ना० पु० ४६।२

अर्थात् जानने योग्य ब्रह्म दो प्रकार का है—एक शब्द ब्रह्म (शास्त्रज्ञान) दूसरा परब्रह्म। जो शब्दब्रह्म (शास्त्रज्ञान) में पारङ्गत हो जाता है, वह विवेक-जन्य ज्ञान द्वारा परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

नवाँ अध्याय

धर्मद्रुम का स्कन्ध—ईश्वर में विश्वास

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।

—योगसूत्र १।२४

क्लेश, कर्म, कर्मफल (विपाक) तथा पूर्व जन्म के संस्कार (आशय) से जो पुरुष अप्रभावित (शून्य) रहता है, वही ईश्वर है। अर्थात् जो क्लेश के वशीभूत या अधीन न रहे, कर्म तथा कर्मफल जिसे प्रभावित नहीं करते, पूर्वजन्मों के संस्कार जिसका स्पर्श नहीं करते, ऐसे नित्य मुक्त, बन्धनरहित, अखण्ड ज्ञानागार ऐश्वर्य-शाली ईश्वर की कल्पना योगदर्शन में की गई है।

ईश्वर नित्य है, अतः वह काल से परे है। वह सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापक है। ईश्वर की सिद्धि नित्य शब्द समूह वाली श्रुति एवं श्रुत्यानुगामिनी स्मृतियाँ करती हैं। वह सृष्टि कर्त्ता है। योगदर्शन का मत है कि प्रकृति—पुरुष का संयोग कराकर सृष्टि-निर्माण एवं वियोग कराकर प्रलय-लीला करने वाला ईश्वर ही है।

वैष्णव दर्शन के महान् आचार्य श्री रामानुज ने चित् (जीव), अचित् (प्रकृति) के अन्तर्यामी तत्त्व के रूप में ईश्वर को माना है। ईश्वर ही भोक्ता (जीव) और भोग्य (जड़ पदार्थ) में व्याप्त है। ईश्वर को उन्होंने कल्याण का खजाना, अनन्त आनन्द एवं ज्ञान का महासमुद्र माना है। नैयायिकों की दृष्टि में विश्व का निमित्त कारण ईश्वर है। विश्व के निर्माण में नैतिक एवं आध्यात्मिक उद्देश्य है। इस उद्देश्य के निष्फल होने पर प्रलय की स्थिति आती है। कर्मों की ओर प्रवृत्त कराने के कारण वह प्रयोजक एवं प्रेरक है। वह कर्मों का द्रष्टा है। कर्मों के अनुसार फल देने वाला है, सुख-दुःख का नियामक है, प्राकृतिक नियमों का विधायक है।

नैयायिकों ने तार्किक दृष्टि से ईश्वर को अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है। ईश्वर की सिद्धि में जिन प्रमाणों को महान् नैयायिक उदयनाचार्य ने प्रस्तुत किया है, वह अद्भुत बुद्धि का परिचायक है।

यथा—

कार्ययोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्या विशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥

—(न्यायकुसुमाञ्जलि ५।१)

(१) **कार्यात्**—संसार के समस्त पदार्थ कार्य हैं; अर्थात उनकी उत्पत्ति हुई है। अतः कार्य के लिये कर्त्ता की सत्ता मानना न्यायसंगत है। घट की उत्पत्ति के लिये कुम्भकार की सत्ता माननी पड़ती है, उसी भाँति संसार के विविध पदार्थों की सृष्टि करने वाला जड़ पदार्थ नहीं वरन् चेतन पदार्थ की सत्ता मानना तर्कसंगत है।

(२) **आयोजनात्**—परमाणु तो जड़ होते हैं। उनका आयोजन एक साथ करने वाला कोई चेतन पदार्थ होगा, वही ईश्वर है।

(३) **धृति (धारण)**—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड चन्द्र, सूर्यादि ग्रह आकाश एवं नक्षत्रादि को धारण करने वाला कोई अवश्य है, वही ईश्वर है। जगत् में यह देखा जाता है कि पक्षी एक तिनका लेकर आकाश में भ्रमण करता है। वह तिनका तब तक नहीं गिरता, जब तक चेतन पक्षी चंगुल में धारण करता है। इससे सिद्ध होता है कि इतना विशाल ब्रह्माण्ड गिरकर नष्ट नहीं होता, अपितु वह किसी के द्वारा धारण किया गया है, वही चेतन पदार्थ ईश्वर है।

धृत्यादेः में आदि शब्द नाशबोधक है। प्रलय काल में ब्रह्माण्ड का नाश स्वयं नहीं होता, बल्कि एक चेतन शक्ति के प्रयत्न से वह नष्ट होता है, वह चेतन ही ईश्वर है।

(४) **पदात्**—(पद्यते ज्ञायते अनेन इति पदम्) इसका अर्थ 'व्यवहार' होता है। इस सृष्टि के प्रारम्भ में नाना प्रकार के पदार्थों के निर्माण की शिक्षा देनेवाला कोई मनुष्य नहीं था, अतएव उस व्यवहार का प्रवर्तक ईश्वर ही माना जा सकता है।

(५) **प्रत्ययतः**—(प्रामाण्यात्) न्यायदर्शन में ज्ञान का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों परतः हैं। इसी कारण गुण से ज्ञान में प्रामाण्य आता है। वेद के ज्ञान में जो प्रामाण्य है, वह भी उसके वक्ता के (करण) गुण से उत्पन्न होता है। वेद का वक्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक ईश्वर ही है। ऋषियों ने अपने ज्ञान-चक्षु से वेद-मंत्रों का दर्शन किया है। हम सभी उस शब्द राशि को

प्रमाण मानते है। ईश्वर द्वारा उच्चरित होने के कारण श्रुति को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर है, जिसने वेद का ज्ञान दिया।

(६) **श्रुतेः (वेदात्)**—वेद प्रमाण है, तब वेद जो कहता है वह भी प्रमाण है। श्रुति द्वारा ईश्वर की सत्ता प्रतिपादित है।

गीता में सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र का सारतत्व है। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्नि रहं हुतम्॥
पिता हमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।
गतिर्भता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(गीता ९।१३-१७)

अतः वह परमात्मा समस्त चराचर में व्याप्त है। वह ही यज्ञ है वह ही मन्त्र है, अग्नि है, हवन रूप क्रिया है, स्वधा है, ओषधि है, घृत है। इस सम्पूर्ण जगत् का धाता (कारण, करने वाला) कर्मों का फल देने वाला, पिता, माता, पितामह, जानने योग्य पवित्र ओंकार, तीनों वेद भी वह ही है। सभी का स्वामी, सबका वासस्थान, शरण लेने योग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करने वाला, सबकी उत्पत्ति प्रलय का हेतु, स्थिति का आधार, निधान एवं अविनाशी कारण वह ईश्वर ही हैं।

इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर है।

(७) **वाक्यत्वात्** वेद वाक्यों के रचयिता (निर्माता) महाभारत आदि ग्रन्थों के समान ईश्वर ही है। न्याय दर्शन में वेद भी पौरुषेय है, वेद का निर्माता पुरुष 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" माना जाता है।

(८) **संख्या विशेषात्**—सृष्टि के आदिकाल में सबसे पहले दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक की उत्पति होती है। उस द्वयणुक का अणुपरिमाण 'परिणामयोनि' अथवा 'प्रचययोनि' परिमाण नहीं हो सकता है अतएव वह परिमाण 'संख्या योनि' परिमाण है। और द्वयणुक के कारणभूत दोनों परमाणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या से उसकी उत्पत्ति होती है। द्वित्व संख्या भी तो अनित्य है। नैयायिक मानते

हैं कि ईश्वर की 'अपेक्षा बुद्धि' से ही परमाणुओं में द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है। ईश्वर को सिद्धि इन ८ हेतुओं से श्री उदयनाचार्य ने की है।

मीमांसकों में दो दल हैं, प्राचीन मीमांसक ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते थे जबकि वेदान्तदेशिक बादरायण, आपदेव, लौगाक्षिभास्कर एवं प्रभाकर श्रुतिमूलक वाक्यों द्वारा प्रमाणित ईश्वर को मानते हैं। बादरायण ने कर्मों के फलदाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया है। आपदेव आदि मीमांसकों ने समस्त कार्यों के फल को ईश्वर को समर्पित कर देने की बात कही है ताकि मोक्ष को उपलब्धि हो। कुछ मीमांसकों ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप में ही स्वीकार किया है। कोई जड़ पदार्थ कर्मों का नियामक एवं फलप्रदाता कैसे हो सकता है? बाध्य होकर चेतन ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना पड़ता है।

ईश्वर की सत्ता अनेक श्रुतिमूलक प्रमाणों से सिद्ध होती है। किन्तु प्रमाणों की, तार्किक बुद्धि की एवं खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया की कोई सीमा नहीं है। भर्तृहरि ने ईश्वर की सत्ता का एकमात्र प्रमाण अपने आत्मा के अनुभव को माना है। परमात्मा (ईश्वर) का ही एक लघु अंश आत्मा है। आत्मानुभव परमात्मा को जानने का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

जिस भाँति आत्मा के बिना यह शरीर शव बन जाता है उसी तरह परमात्मा (ईश्वर) के बिना सृष्टि मात्र जड़ पदार्थ है। वेद से ज्ञात होता है कि सृष्टि समय-समय पर होती रहती है[1] यदि सृष्टि को अनित्य माना जाय तो इतनी बड़ी सृष्टि का निर्माता कौन हो सकता है जिसने ग्रह, नक्षत्र, समुद्र, पर्वत आदि का निर्माण किया। सृष्टि को जो लोग नित्य मानते हैं वे प्राय: ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं। मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करते रहता है, कर्मफल प्रदान करने में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रहती। प्राचीन मीमांसकों ने सृष्टि को नित्य माना है, सांख्य ने भी सृष्टि का मूलभूत कारण प्रकृति (जड़ पदार्थ) को माना है। प्रकृति जड़ होते हुए भी सृष्टि का निर्माण करती है—जैसे दूब जड़ पदार्थ है किन्तु उसके खाने से बछड़े हृष्ट पुष्टांग होते हैं, गाय दूब खाकर अमृत के समान दूध देती है। गोबर में तक्र का सम्मिश्रण हो जाय तो विच्छू की उत्पत्ति हो जाती है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर सिद्ध किया गया है कि ईश्वर की आवश्यकता सृष्टि-क्रम में नहीं है।

१—...यथा धाता पूर्वमकल्पयत्—ऋग्वेद

वेदान्त दर्शन प्रकृति को माया मानता है, जो स्वतंत्र नहीं, वरन् परमात्मा के अधीन रहकर सृष्टि निर्माण में सहयोग देती है। परमात्मा को ही सृष्टि की चेतना का अधिष्ठान माना जाता है। सारी सृष्टि चैतन्य के अभाव में नितान्त जड़ मात्र है। सृष्टि को अनित्य मानने वाले यह तर्क देते हैं कि साधारण घर के निर्माण में कुलाल को अनेक साधन और सामान जुटाने पड़ते हैं। विश्व, ब्रह्माण्ड एवं अनेक लोकों के निर्माण में कोई साधारण शक्ति नहीं हो सकती वरन् अद्‌भुत् महान् शक्ति (ईश्वर) का ही हाथ है। महान् नैयायिक उदयनाचार्य ने अनित्य सृष्टि के लिये एक सर्वशक्तिमान् चेतन परमात्मा की कल्पना की थी। उनका दृष्टिकोण था कि वेद पौरुषेय है। ईश्वर ही वह चेतनपुरुष है, जिसके द्वारा उच्चरित समग्र ज्ञान तत्त्व को बतलाने वाली शब्द राशि वेद है। धर्मशास्त्र में आप्तवाक्य को प्रमाण मानते है। आप्त वाणी उसे कहते है जो किसी भी परिस्थिति में मिथ्या न सिद्ध हो। आप्त पुरुष वह है जो कभी मिथ्या-सम्भाषण न करें। वेदवाणी को ईश्वरोच्चरित कहने से मिथ्या, राग, द्वेषादि दोष की कल्पना भी उसमें नहीं की जा सकती है। वह सभी देश, सभी काल एवं सभी परिस्थितियों के अनुकूल हैं। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि सृष्टि क्रम कर्म पर टिंका है। यह नित्य है। अपने विचार का समर्थन तुलसी की वाणी "कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि तो तस फल चाखा" से करते हैं। ऐसे लोग अल्पज्ञ है। कर्म आदि जड़ है तो उसका नियमन करनेवाला कोई न कोई होगा जो सृष्टि के असंख्य जीवों के सुकर्म, दुष्कर्म एवं अकर्म पर दृष्टि रखता है। ऐसा नियन्ता सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही हो सकता है। जो स्वयं जड़ है वह सुख-दुःख के रूप में फल कैसे दे सकता है। सृष्टि में यह देखा जाता है कि बुरा कर्म करने वाला बुरा फल भोगता है। मनुष्य प्रायः दुष्कर्म करने के बाद भी सुफल की कामना करता है, किन्तु कर्मों का नियामक परमात्मा राग-द्वेषादि रहित होकर कर्मानुसार फल देता ही है। तभी तो नाना प्रकार के मानवों से भरी हुई यह दुनिया है।

परिवार, ग्राम, जिला, राज्य या राष्ट्र हो सर्वत्र कोई न कोई अधिपति होता हैं। मालिक, मुखिया, जिलाधीश, राज्यपाल या राष्ट्रपति एक निश्चित दायरे में ही स्वामी कहलाते हैं। अखिल विश्व एवं अखण्ड ब्रह्माण्ड का भी कोई अधिपति होगा। यह साधारण जीव के वश की बात नहीं, वरन् सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही अखिल ब्रह्माण्ड का अधिपति हो सकता है। ऋग्वेद इस तथ्य का प्रमाण है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः॥

इससे स्पष्ट है कि यह विश्व पुरुष का केवल एक पदमात्र है, उसके तीन पाद अमृतमय आकाश में स्थित है।

संसार में अनेक पदार्थ निर्मित हैं। किसी एक जीव को सभी वस्तुओं का ज्ञान उपलब्ध होते न सुना गया है न देखा गया है। अतः जो जीव विश्व के सभी साधनों का ज्ञान नहीं रख सकता वह सभी साधनों का निर्माता कैसे हो सकता है? जगत के निर्माता के रूप में, जीवों को कर्मों के अनुसार फल प्रदान करने के कारण (अदृष्ट के अधिष्ठाता के रूप में), सृष्टि के प्रारम्भ में वेद वाणी (ईश्वरीय ज्ञान) के उपदेशक के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

ईश्वर पर विश्वास का फल—अनादिकाल से ईश्वर तथा ईश्वर निर्मित वस्तुओं के प्रति मानव मन, श्रद्धा एवं विश्वास के साथ अविचल भक्ति अर्पित करते आ रहा है। संसार के सभी विवेकशील प्राणी भिन्न-भिन्न रूपों में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। धर्म, पुण्य, सत्कर्म, यज्ञ, अध्ययन (वेद-वेदाङ्गों का), दान, तीर्थ, व्रत, श्राद्ध आदि रूपों में हम ईश्वर के प्रति ही निष्ठा व्यक्त करते हैं। इस संसार के सम्पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान, धर्माधर्म को निर्णायिक शक्ति तथा मानव-मानव के बीच प्रेम और सौहार्द्र की भावना आदि ईश्वर–विश्वासरूपी धर्म-स्कन्ध पर ही टिकी है। हमारे सभी संस्कार गणेशादि देवताओं को बिना आवाहित किये नहीं होते हैं। ईश्वर पर से यदि विश्वास ही उठ जायेगा तो मानव जीवन तथा कीड़े-मकोड़े के जीवन में अन्तर ही क्या रह जायेगा। हम अग्नि को साक्षी मानकर अनेक कर्म करते हैं, क्योंकि अग्नि में ईश्वरत्व बुद्धि की कल्पना की जाती है। प्राचीनकाल में 'राम-सुग्रीव के बीच सन्धि होते वक्त अग्नि को साक्षी रखा गया था। आज भी न्यायालयों में धार्मिक पुस्तकों को लेकर शपथ खाने की प्रक्रिया है। राष्ट्रपति, मंत्री, न्यायाधीश आदि उच्च शासक भी ईश्वर के नाम पर शपथ लेते हैं। यह ईश्वरीय शक्ति के प्रति भीति की भावना है। सर्वशक्तिमान् के नाम पर शपथ लेकर भी शुद्ध आचरण एवं सत्कर्म करने की प्रवृत्ति मिटती जा रही है जिसका विनाशकारी प्रभाव सबके समक्ष हैं। एक मात्र ईश्वर ही सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान् चैतन्य पुरुष है जो सदा विद्यमान् है, अतः हर समय यदि हम उस पर विश्वास, और निष्ठा रखकर कार्य करते हैं तो निश्चय ही ईश्वरीय शक्ति या ईश्वरीय भावना हमारी सहायता करेगी। इस देश का समग्र आध्यात्मिक

ज्ञान ईश्वर की अलौकिक शक्ति पर अवलम्बित है। धर्म की विभिन्न शाखायें, प्रशाखायें, इसी विश्वास से सम्वर्द्धित होती है।

भक्त प्रह्लाद का 'ईश्वर विश्वास' तो विश्वविश्रुत है। अनन्य निष्ठा, भक्ति-भाव एवं शुद्ध हृदय से समर्पण भाव होने पर ईश्वर भी योगक्षेम वहन करने के लिये प्रतिबद्ध हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। गीता० २२।९

यह प्रह्लाद का ईश्वर विश्वास ही था कि ईश्वर को भी कहना पड़ा—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्।
क्वैताः प्रमत्त कृतदारुण यातनास्ते।
ना लोचितं विषयमेतदभूत पूर्वम्।
क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः ।।

अपने भक्तों के प्रति ईश्वर की विनम्रता का इतना मनोरम चित्रण श्रीमद्भागवत में हुआ है कि वह हृदयस्पर्शी है।

भगवान् की उक्ति है—

अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्गस्त हृदयो भक्तैर्भक्त जनप्रियः ।। ९।४।६३
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् तेन जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।। ९।४।६८

इन उक्तियों से ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास की नींव पड़ती है। यह हमारे धर्म का स्कन्ध है, जिस पर अनेक शाखाएँ अवलम्बित हैं।

●

दसवाँ अध्याय

धर्मद्रुम की शाखाएँ

(क) 'यज्ञ'

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

—गीता १८।५

'यज' धातु से 'नङ्' प्रत्यय करने पर यज्ञ शब्द की निष्पत्ति होती है। 'यज' धातु का प्रयोग पाणिनि ने देवपूजा, सङ्गतिकरण एवं दान अर्थ में किया है। यज्ञ शब्द से देवपूजा का बोध होता है। अर्थात् देवपूजा ही यज्ञ है, यथा—'विष्णुर्वै यज्ञः' या 'यज्ञो वै विष्णुः' का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय संहिता में मिलता है।[1]

इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि वह पूजा जिससे देवताओं को प्रसन्न किया जाय, वह यज्ञ है। विष्णु, अग्नि एवं प्रजापति भी यज्ञ है।

"वेदमन्त्रैर्देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दानं यागः।"

वेद मन्त्रों द्वारा देवताओं को उद्देश्य करके द्रव्य दान की क्रिया को यज्ञ कहते हैं। अतः याग में तीन मुख्य हैं—द्रव्य, देवता एवं त्याग। इसका तात्पर्य है कि देवता के लिये द्रव्य का त्याग करना यज्ञ है। मत्स्य पुराण भी यज्ञ की परिभाषा श्रौत सूत्रों की भाँति अभिव्यक्त करता है, यथा—

देवानां द्रव्यहविषां ऋक्-साम-यजुषां तथा ।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते ॥

यज्ञ में प्रधान कर्म हवन है, अर्थात् किसी देवता के लिये अग्नि में द्रव्य की आहुति देना। मन्त्र चार प्रकार के होते हैं—(१) ऋक्—जो मात्रिक हैं (२)

१—ऐतरेय ब्राह्मण–१।१५, तैत्तिरीय सं०–१।७।४, इसी भाँति–पुरुषो वै यज्ञः (श० ब्रा० १।२।४।१।२), अग्निर्वै यज्ञः (तांड्य ब्रा० १३।५।२), इन्द्रो वै यज्ञः (मै० शा० ४।३।७), प्रजापतिर्वै यज्ञः (तैत्ति० सं० १।३।१०।१०)।

यजुः—जो मात्राबद्ध या छन्दबद्ध तो नहीं होते किन्तु पूर्ण वाक्य के रूप में होते हैं।[1] (३) साम—इसका गायन होता है। (४) निगद—इसको प्रैष भी कहते हैं, उन वचनों को प्रैष कहा जाता है जिनके द्वारा कोई कार्य करने के लिये सम्बोधित किया जाता है, जैसे—**'प्रोक्षणीरासादय', 'स्त्रुचः सम्मृड्ढि',**[2] निगद भी यजुः के अन्तर्गत आते हैं। यजु का उच्चारण मन्द स्वर से एवं निगद का उच्चारण उच्च स्वर से करना चाहिए।

वैदिक मन्त्रों का प्रयोग श्रौत यज्ञों के लिये अनिवार्य है। वस्तुतः वेदों का प्रादुर्भाव ही यज्ञों के लिये हुआ है।[3] यज्ञ मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। जीवन को यज्ञमय बनाने के लिये अनेक उद्धरण उपलब्ध हैं। ईश्वर का सृष्टि-यज्ञ अबाध गति से अनादि काल से चल रहा है, मनुष्य के जीवन-यज्ञ को सफल बनाने के लिये विराट् पुरुष के यज्ञ से प्रेरणा लेनी चाहिए। यह संसार कर्मभूमि है। यहाँ सबको कर्म करना तथा कर्मों का फल भोगना पड़ता है। जीवन यह ध्येय नहीं है कि कर्मों में लिप्त रहकर आवागमन के पथिक बने रहें। वह जीवन सचमुच सफल है जिसने श्रेष्ठ कर्मों को करके जीवन-यज्ञ को सफल बना दिया। वेदों में बार-बार कहा गया है कि—**"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"**[4] श्रेष्ठ कर्मों में यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म माना गया है। गीता में यज्ञ-कर्म को ऐसा कर्म माना गया है जिससे मनुष्य बन्धन मुक्त हो जाता है, यथा—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

—गीता० ३।९

यज्ञिय कर्मों के अतिरिक्त शेष कर्म बन्धन में डालने वाले हैं। यज्ञों के द्वारा देवता उन्नति करते हैं और देवतागण यज्ञिय कर्म करने वालों की उन्नति हेतु अभिलषित पदार्थों को देते हैं, यथा—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

—गीता० ३।१२

१—कात्यायन श्रौतसूत्र–१।३।२।

२—कात्यायन श्रौतसूत्र २।६।३४

३—वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः दुदोह यज्ञ सिद्धयर्थम्–व्यास० १।२३

४—शतपथ ब्राह्मण–१।७।१।५, कपि० श० ४६।६

यह स्थिर सिद्धान्त है कि अन्न से जीव की उत्पत्ति होती है। अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है। वृष्टि यज्ञ से होती है। यज्ञ की उत्पत्ति कर्मों से होती है, यथा—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

—गीता० ३।१४

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

—मनु० ३।७६

भारत की सुख-समृद्धि के आधारभूत तत्त्व यज्ञ कर्म ही थे। राज्य शासन की ओर से प्रजा पालनार्थ यज्ञ हेतु प्रभूत धनराशि दान में दी जाती थी। वैदिक विद्वानों का समुचित आदर किया जाता था। श्रुत परम्परा के द्वारा सस्वर वैदिक मन्त्रों का प्रयोग होता था, फलस्वरूप वेद विद्या विद्वानों के कण्ठ में निवास कर आज तक मूल रूप में जीवित है। यदि यज्ञों का प्रचलन न होता तो गम्भीर वेद विद्या को कण्ठस्थ करने में श्रम कौन लगाता? कई दानपत्रों[1] में राजाओं ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि ब्राह्मण इस दान राशि से बलि एवं अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म करें। इसके अतिरिक्त हिन्दू राजा वैदिक यज्ञों की परम्परा को जीवित बनाये हुए थे। पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेध यज्ञ या राजसूय यज्ञ किया था, राजा खारवेल ने राजसूय यज्ञ किया था। समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ करके अपनी विजयश्री का प्रदर्शन किया था। त्रैकूटक राजा दहसेन को भी अश्वमेध कर्त्ता कहा गया है। पल्लव राजाओं ने भी वैदिक यज्ञों का सम्पादन किया था। वकाटक राजा प्रवरसेन प्रथम एवं द्वितीय श्रौत यज्ञों का यजमान था।[2] मुगल काल से श्रौत यज्ञों का परम्परा क्षीण होने लगी।

यज्ञों के भेद

मुख्य रूप से यज्ञ दो प्रकार के होते हैं—(१) श्रौत (२) स्मार्त्त। श्रुति द्वारा प्रतिपादित यज्ञों को श्रौत यज्ञ एवं स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित यज्ञ स्मार्त्त यज्ञ

१—६०९-१० ई० का बुद्धराज सर्सवनी का दानपत्र, ४४७-४८ ई० का दामोदरपुर का दानपत्र।

२—एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २०, पृ० ५०-८०
गुप्त शिलालेख (इंस्क्रिप्शंस) पृ० २-२४०

कहलाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में मुख्य रूप से ५ प्रकार के श्रौत यज्ञ वर्णित हैं, यथा—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास, पशु और सोम।

गौतमधर्मसूत्र में पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ, ये तीन भेद उल्लिखित हैं। प्रत्येक भेद के ७ प्रकार बतलाये गये हैं।

पाकयज्ञ—औपासनहोत्र, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिकश्राद्ध, श्रवणा, शूलगव (इति सप्तपाकयज्ञसंख्या:)।

हविर्यज्ञ—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणि, पिण्डपितृयज्ञादि, दर्विहोम् (इति सप्तहविर्यज्ञसंस्था:)

सोमयज्ञ—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य:, षोडशी, वाजपेय:, अतिरात्र:, आप्तोर्याम (इति सप्तसोमसंस्था:)[1]

उपर्युक्त २१ प्रकार के यज्ञों में से सात पाकयज्ञों का उल्लेख गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में मिलता है। हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ के १४ भेद श्रौतसूत्रों में वर्णित हैं[2]। इन यज्ञों के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में पञ्चमहायज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ[3]) का भी उल्लेख है।

चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और जल का पात्र,[4] इन पाँच पात्रों से मनुष्य द्वारा हिंसा होती है। गृहस्थ इन साधनों को त्याग नहीं सकता है, फलस्वरूप पञ्चसूना पाप से गृहस्थ आवद्ध होगा ही। पञ्चमहायज्ञ नित्य करने से प्रतिदिन का पाप प्रक्षालित होता रहता है। (इसकी विस्तृत चर्चा गृहस्थाश्रम के अध्याय में मैं कर चुका हूँ।)

अग्न्याधान

गौतम के अनुसार यह एक हविर्यज्ञ है। इसे अग्न्याधेय इष्टि भी कहते हैं। यह हविर्यज्ञ दो दिन का कृत्य है। अग्न्याधान का अर्थ है विशिष्ट काल एवं स्थान में विशिष्ट मन्त्रों के साथ प्रज्वलित गार्हपत्य एवं अन्य अग्नियों को स्थापित करना।

१—गौतम धर्मसूत्र ८।१८

२—कात्यायन श्रौतसूत्र की भूमिका

३—मनुस्मृति० ३ ७०

४—पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्कर:।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभि:।
पञ्चक्लृप्ता महायज्ञा: प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ मनु० ३।६८,६९

अग्न्याधेय कृत्य सभी श्रौत यज्ञों में सम्पादित होते हैं। तीन अग्नियाँ श्रौत यज्ञों में प्रज्वलित की जाती हैं—'आहवनीय' 'गार्हपत्य' एवं 'दक्षिणाग्नि'। बड़े-बड़े यज्ञों में आहवनीय एवं गार्हपत्य नामक अग्नियों के लिये अलग-अलग मण्डप बनाये जाते हैं। दर्शपूर्णमास या अन्य साधारण यज्ञों में तीनों प्रकार की अग्नियां एक ही मण्डप में स्थापित कर वैदिककृत्य सम्पादित किये जाते हैं। गार्हपत्य अग्नि को प्रजाहिताग्नि[1] भी कहते हैं एवं दक्षिणाग्नि को अन्वाहार्यपचन कहा जाता है, क्योंकि इसी अग्नि पर पितृयज्ञ के पिण्ड के लिये अमावस्या के दिन चावल पकाया जाता है।

अग्न्याधेय का पहला दिन 'उपवसथ' कहलाता है। दूसरे दिन का कृत्य निम्नांकित सात नक्षत्रों में से किसी को उपयुक्त मानकर उस नक्षत्र के दिन किया जा सकता है, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशीर्ष, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनो, विशाखा एवं उत्तराभाद्रपद शतपथ एवं आपस्तम्ब में चित्रा नक्षत्र का भी वर्णन है, ब्राह्मण वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय ग्रीष्म एवं वैश्य वर्षा या पतझड़ ऋतु में उपर्युक्त नक्षत्रों के दिन ही पवित्र अग्निप्रज्वलित करें।

उत्तराभिमुख या पूर्वाभिमुख बांस का शीर्षभाग मोड़कर वेदी के ऊपर मण्डप बना लें। मण्डप के नीचे एक ओर गार्हपत्य अग्नि प्रज्वलित करें, उसके पूर्व में आहवनीय अग्नि स्थापित करें। गार्हपत्य अग्नि के दक्षिण पश्चिम दिशा में दक्षिणाग्नि का स्थान बनाना चाहिए। गार्हपत्य और आहवनोय अग्नि के बीच की दूरी ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये भिन्न-भिन्न दूरी बतलाई गयी है। ब्राह्मणादि वर्ण क्रमशः आठ, ग्यारह एवं बारह प्रक्रम[2] की दूरी पर अग्नि स्थापित करें। सभी प्रकार के लिये २४ पदों की दूरी होनी चाहिए। यजमान को अग्न्याधान के दिन से बारह, तीन, दो या एक दिन पूर्व व्रत करना पड़ता है, जैसे—मांस-त्यागव्रत, ब्रह्मचर्य रखने का व्रत, अपने गृह की अग्नि को किसी को न देना। तीन दिनों तक दूध-भात का सेवन करना, सत्यवादी रहकर पृथिवी पर शयन करना आदि का संकल्प पूर्वक पालन करना चाहिए। मध्याह्न वेला में अध्वर्यु गृह्याग्नि (औपासन अग्नि) का कुछ अंश ब्रह्मोदन पकाने के लिये गार्हपत्य अग्नि के स्थल से पश्चिम स्थापित करें या धर्षण से अग्नि उत्पन्न कर स्थापित करें। बालू की वेदी बनाकर पूर्व से पश्चिम और दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर तीन-तीन रेखा खींचकर उसी पर

१—जैमिनि १२।१।१३.

२—एक प्रक्रम दो पद या तीन पद के बराबर होता है।

ब्राह्मौदनिक अग्नि की स्थापना करनी चाहिए। इसी अग्नि पर चार पात्रों में चावल या जौ पानी के साथ पकाया जाता है। यह पका भोजन ब्रह्मोदन कहलाता है। दर्वी (करछुल) से निकालकर अग्नि में आहुति दी जाती है। वैदिक मंत्रों का पाठ किया जाता है। चार थालियों में पका भोजन घृत सहित रखकर चार पुराहितों को दिया जाता है। शेष भोजन घृत एवं अश्वत्थ समिधा के साथ गायत्री मन्त्र पढ़कर अग्नि-देव को दिया जाता है।[1]

यजमान अध्वर्यु एवं ब्रह्मोदन खाने वाले चार ब्राह्मणों को तीन-तीन बछड़ों का दान दें। ब्रह्मोदन एवं समिधाओं की आहूति देने के पश्चात् एक वर्ष के अन्तर्गत ही अग्न्याधान कृत्य सम्पादित हो जाना चाहिए। वर्ष बीत जाने पर पुनः ब्रह्मोदन कर्म करना पड़ता है। अग्न्याधान कृत्य सम्पादित कराने वाले पुरोहित को भी कृत्य सम्पादन की पूर्व रात्रि से ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना पड़ता है। ब्राह्मौदनिक अग्नि को रात्रिभर प्रज्वलित रखा जाता है। प्रातःकाल दो अरणियों को गर्म करने के पश्चात् ब्राह्मौदनिक अग्नि का विसर्जन कर दिया जाता है। इस अग्नि की राख को भी हटा दिया जाता है। अब वहाँ पर दोनों अरणियों के द्वारा घर्षण से अग्नि उत्पन्न कर सूर्योदय के पूर्व अग्नि को प्रज्वलित करने का विधान है।[2] प्रज्वलित अग्नि का स्वागत तैत्तरीय ब्राह्मण के "उपावरोह जातवेदः" नामक मन्त्र से किया जाता है।

आहवनीय अग्नि की स्थापना पूर्व दिशा में सूर्य-विम्ब के निकलते समय तक अवश्य हो जानी चाहिए। गार्हपत्य अग्नि में से जलती हुई लकड़ी की अग्नि बालू भरे पात्र में रखकर आहवनीय अग्नि की वेदो पर प्रतिष्ठित किया जाता है। इसके पश्चात् आग्नीध्र पुरोहित गृह्याग्नि या घर्षण से उत्पन्न अग्नि को दक्षिणाग्नि वेदो पर मन्त्र पाठ के साथ प्रतिष्ठित कर दी जाती है। दक्षिणाग्नि किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की गृह्याग्नि से ली जा सकती है, लेकिन समृद्धि के इच्छुक यजमान को समृद्धशाली गृह से ही अग्नि लाकर सम्भारों पर दक्षिणाग्नि की स्थापना करनी चाहिए। जिस गृह से अग्नि ली जाती है उस घर में कभी भोजन नहीं करना चाहिए।

वेदी के सम्बन्ध में बौधायन धर्मसूत्र[3] कहता है कि गार्हपत्याग्नि की

१—आपस्तम्ब श्रौतसूत्र—५।६।३

२—'अरण्योर्निहितो' (ऋ. ३।२९।२) मन्त्र का पाठ किया जाता है, दश-होतृ सूक्त का पाठ भी पाठ करना चाहिए।

३—बौधायन धर्मसूत्र २।१७

वेदी वृत्ताकार, आहवनीयाग्नि को वर्गाकार एव दक्षिणाग्नि की अर्धवृत्ताकार होनी चाहिए।

गृह्याग्नि से लेकर या घर्षण से उत्पन्न कर सभ्य और आवसथ्य नामक अग्नियों की स्थापना भी की जाती है! इन दोनों अग्नियों के अभाव में आहवनीयाग्नि में ही समिधाएँ डाली जाती हैं। तीन या पाँच अग्नियों की पूजा करने के बाद पूर्णाहुति दी जाती है। चार पुरोहित इस कृत्य का सम्पादन करते हैं। उन्हें वस्त्रादि के साथ गाय, बैल एवं रथ दान के रूप में दिया जाता है।

कात्यायन[1] के अनुसार अग्न्याधान कृत्य के बाद कम से कम ३ रात्रियों तक ब्रह्मचर्य पूर्वक अग्नि के पास पृथिवी पर शयन करना चाहिए।

पुनराधेय—अग्नियों की स्थापना के एक वर्ष के भीतर यदि कोई अघटित घटना या दुर्घटना हो जाय, जैसे—भयंकर बिमारी से आक्रांत हो जाय, पुत्रशोक हो जाय, अचानक धन-नाश होने से दरिद्र हो जाय, पंगु बन जाय अथवा सुख-समृद्धि और मद-प्रतिष्ठा को अभिलाषा पूर्ण करना चाहें तब वर्षान्त के पूर्व ही अग्न्याधान की भाँति अग्नि पुनः प्रज्वलित की जाती है। दूसरी बार लकड़ियों से अग्नि प्रज्वलित नहीं की जाती, बल्कि कुश के घास से प्रज्वलित किया जाता है। पुनराधेय वर्षा ऋतु में मध्याह्न काल में किया जाता है। जैमिनि[2] के अनुसार यह कृत्य गार्हपत्याग्नि एवं आहवनीयाग्नि के बुझने के पश्चात् प्रायश्चित्त स्वरूप भी किया जाता है।

अग्निहोत्र

अग्निहोत्र के दो अर्थ अधिक लोकप्रिय हैं—(१) अग्नि के लिए होम करना (अग्नये होत्रमिति हविर्नाम) (२) स्वर्गकामना के लिये किया जाने वाला एक कृत्य या दीर्घसत्र (**अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः, दीर्घ सत्रं ह वा एत उपयन्ति....**)

अग्न्याधान के पश्चात् जब अग्नि विधिवत् स्थापित कर दी जाती है तब नित्यकर्म के रूप में अग्निहोत्र करना गृहस्थ का परम पावन कर्तव्य है। प्रत्येक द्विज को तीनों वैदिक अग्नियों में अग्निहोत्र करना आवश्यक माना जाता था। कात्या-

---

१—कात्यायन श्रौतसूत्र–४।१०।१६

बौधायन ने १२ दिनों के लिये कुछ व्रत निर्धारित किये हैं।

२—जैमिनि (६।४।२६–२७)

यन श्रौत सूत्र में गृहस्थाश्रम के अन्तिम क्षण तक वैदिक अग्नियों को प्रज्वलित रखना चाहिए।[1]

आश्वलायन ने प्रतिदिन अग्निहोत्र करने की बात कही है। दक्षिणाग्नि के सम्बन्ध में इनका मत है कि किसी धनिक या वैश्य के घर से लेकर घर्षण से या हमेशा प्रज्वलित करके दक्षिणाग्नि में अग्निहोत्र करना चाहिए।[2]

अग्निहोत्र करने का कारण- अग्निहोत्र से अग्निदेव को प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती है। अग्निदेव से पवित्रता, प्रकाश, शक्ति, सामर्थ्य और शान्ति की प्रेरणा ग्रहण की जाती है। हवन करने के लिये जब आहवनीय अग्नि के पास मन्त्र पाठ किया जाता है, उससे पाप प्रक्षालन का बोध होता है। पाप कर्म ज्ञात-अज्ञात अवस्था में जो भी किये गये हों उनसे मुक्त होने के लिये अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि वह अपने दाहकत्व से उसका दहन कर दें।[3]

रात्रि में जो पाप किये जाते हैं उनका दहन प्रातःकाल में एवं दिन में जो पाप-कर्म होते हैं उनका प्रक्षालन सायंकाल में अग्निहोत्र करने से होता है।

अग्निहोत्र का काल निर्णय—अनेक श्रौतसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में भिन्न-भिन्न समय का निर्देश है। कात्यायन के अनुसार अग्निहोत्र सूर्योदय एवं सूर्यास्त के पूर्व होना चाहिए। आश्वलायन के अनुसार सूर्योदय एवं सूर्यास्त के बाद अग्निहोत्र करना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से ही अग्निहोत्र काल के सम्बन्ध में अनेक मत चले आ रहे हैं। आपस्तम्ब[4] ने अपने समय में प्रसिद्ध चार मतों का उल्लेख किया है—(१) प्रातः एवं संध्या समय सन्धि काल में (२) आकाश में जब एक भी तारा दीख पड़े (३) रात्रि के प्रथम या द्वितीय प्रहर में। (४) प्रातःकाल जब सूर्य के मण्डल का एक अंश प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो अर्थात् सूर्योदय होने वाला हो। तीन प्रकार (गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि एवं आहवनीयाग्नि) की वैदिक अग्नियाँ जिस घर में हों वहाँ गृहस्थ को पहले वैदिक अग्नियों में अग्निहोत्र करने के बाद गृह्याग्नि में हवन करना चाहिए। कुछ लोगों के मत से पहले गृह्याग्नि में ही हवन करना चाहिए।

१—कात्यायन-४।१६।२

२—आश्वलायन २।२।१

३—देवं त्वा देवेभ्यः श्रिया उद्धरामि...आपस्तम्ब ६।१।१२

४—आपस्तम्ब-६।४।७-९।

अग्निहोत्र सम्बन्धी आवश्यक विधि—आहवनीयाग्नि में हवन करने के पूर्व पति-पत्नी या पत्नी न हो तो केवल पति प्रदक्षिणा कर बैठें तथा हवन काल पर्यन्त मौन रहें। हवन के पूर्व तीनों वैदिक अग्नियों की वेदी का परिसमूहन कर्म किया जाता है (अर्थात् जल से वेदी पोंछना)। तत्पश्चात् परिस्तरण कर्म किया जाता है (अर्थात् आहवनीयाग्नि के चारों तरफ कुश बिछाना) परिस्तरण कृत्य पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर इस क्रम से करना चाहिए। जिस भाँति आहवनीयाग्नि के चारों तरफ दर्भ का परिस्तरण किया जाता है उसी तरह अन्य दो वैदिक अग्नियों के चारों ओर दर्भ परिस्तरण करना चाहिए। आहवनीयाग्नि के चारों ओर उत्तर, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम इस क्रम से जल द्वारा छिड़काव किया जाता है। इन कृत्यों को करने के उपरान्त पश्चिम दिशा से निरन्तर हवनीय द्रव्य की धारा गिरानी चाहिए।[१]

पवित्र कर्म समझकर अग्निहोत्र करने वाले गो-दुग्ध से होम करें, जो धन-धान्य, वैभव आदि की कामना करता है वह घृत, दही, यवागू एवं भात से हवन करे।[२] अग्निहोत्री को दूध देने वाली गाय रखनी आवश्यक है। यज्ञ मण्डप के दक्षिण दिशा में गाय को रखा जाता है। होम के पश्चात् गो-दोहन कार्य प्रारम्भ होता है। श्रौतसूत्रों में गाय के साथ बछड़ा ही होना चाहिए एवं सूर्यास्त होते ही दोहन क्रिया होनी चाहिए इत्यादि अनेक नियम-उपनियम उल्लिखित हैं। दुग्ध को गर्म करना चाहिए या उबाल कर रखना चाहिए। इस पर शास्त्रकारों में मत भिन्नता मिलती है। वैदिक अग्नियों से अलग स्थल पर अग्नि जलाकर दुग्ध गर्म किया जाता है। स्रुव से दुग्ध तथा पलाश की समिधा का होम किया जाता है। इस सम्बन्ध में आश्वलायन, आपस्तम्ब, कात्यायन एवं बौधायन ने अनेक विधि-विधानों की चर्चा की है। किस समय कौन सा वैदिक मन्त्र प्रयोग किया जाय और किस कामना की पूर्ति के लिए किस द्रव्य का हवन करें, इसका विशद विवेचन उपर्युक्त महर्षियों ने किया है।

श्रौतसूत्रों द्वारा निर्धारित वैदिक मन्त्रों के साथ दक्षिणाग्नि में दूसरी बार मौन रूप से दुग्धाहुति देने के बाद जल स्पर्श करने की विधि है। तत्पश्चात् उत्तराभिमुख होकर कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार अनामिका अंगुली से स्रुव में

१—कात्यायन श्रौतसूत्र (४।१३।१६-१९), आपस्तम्ब० ६।५।४।

२—आश्वलायन० २।३।१-२।

बचे हुए भाग को लेकर मौन होकर बिना दन्त स्पर्श के चाट लेना चाहिए। स्रुव के शेषांश को चाटने के साथ और भी कृत्य किये जाते हैं जिनका सविस्तर वर्णन आपस्तम्ब आदि सूत्रकारों ने किया है। ग्रन्थ का कलेवर बृहद् हो जायेगा; इस भय से समग्र विधियों की चर्चा नहीं की जा रही है।

क्षत्रिय को अग्निहोत्र करने के लिये, आपस्तम्ब[1] के अनुसार, यह आवश्यक नहीं है कि वह आह्निक अग्निहोत्र करे। उसके लिये सदा आहवनीयाग्नि रखना आवश्यक है। क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये अमावश्या एवं पूर्णिमा को अग्निहोत्र करना चाहिए।[2] शेष दिनों में किसी कर्तव्यनिष्ठ ब्राह्मण के यहाँ पका हुआ भोजन भेजने मात्र से अग्निहोत्र का फल उसे प्राप्त हो जाता है। आपस्तम्ब आदि सूत्रकार सभी द्विज गृहस्थों को स्वयं प्रतिदिन अग्निहोत्र करने की शिक्षा देते हैं, प्रतिदिन असमर्थ होने पर पर्व के दिन अवश्य करने का उपदेश देते हैं। गृहस्थ यदि किसी कारण-वशात् स्वयं यह कृत्य नहीं कर सके तो अपने पुत्र, पुरोहित या शिष्य से यह कृत्य सम्पादित करवा सकता है।[3] पति-पत्नी जब लम्बी यात्रा में जा रहे हों एवं अग्नि साथ में नहीं ले जा रहे हों उस अवस्था में पुरोहित या शिष्य द्वारा अग्निहोत्र नहीं किया जा सकता। पति की अनुपस्थिति में पुरोहित की सहायता लेकर पत्नी अग्निहोत्र कर सकती है। किन्तु पति-पत्नी लम्बी यात्रा या प्रवास से लौटने के बाद अग्नि की पुनः प्रतिष्ठा करते हैं, जिसे पुनराधान कहते हैं। अग्निहोत्र कृत्य के लिये शतपथ ब्राह्मण, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता, कात्यायन श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थ विशद सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

दर्श-पूर्णमास

श्रौत (वैदिक) यज्ञों में दर्श-पूर्णमास का अपना विशिष्ट स्थान है। सभी श्रौत यज्ञ इससे न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित प्रतीत होते हैं। सभी श्रौत इष्टियों का प्रारम्भ दर्श-पूर्णमास से ही करते हैं।

जैमिनि के प्रसिद्ध ग्रन्थ पूर्वमीमांसा सूत्र के भाष्यकार शबर ने इस इष्टि (यज्ञ) को यावज्जीवन करने की बात कही है (यावज्जीवनदर्श-पूर्णमासाभ्यां

१—आपस्तम्ब० ६।१५।१०-१४।

२—आश्वलायन० २।१।३-५।

३—आपस्तम्ब० ६।१५।१४-१८।

यजेत)[1] । जब तक संन्यासाश्रम ग्रहण नहीं किया जाय तब तक प्रति आमावश्या एवं पूर्णमासी तिथि को यह श्रौत कर्म किया जाना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण[2] में उल्लेख है—**ताभ्यां यावज्जीवं यजेत। त्रिंशतं वा वर्षाणि। जीर्णो वा विरमेत्।** इससे स्पष्ट है कि जब तक वृद्धावस्था (जीर्णावस्था) की असमर्थता न आ जाय या ३० वर्ष की अवधि न हो जाय तब तक यह कृत्य किया जा सकता है।

दर्श-पूर्णमास का अर्थ—दर्श का पर्यायवाची शब्द है। अमावस्या दर्श कहने से उस तिथि का बोध होता है जब चन्द्रमा को केवल सूर्य ही देख सकता है। अमावस्या तिथि को चन्द्रमा भूतल से दिखायी नहीं देता क्योंकि चन्द्र एवं सूर्य दोनों न्यूनतम दूरी पर रहते हैं। इस कारण अमावस्या का यह अर्थ किया जाता है कि वह दिन या तिथि अमावस्या है जब सूर्य एवं चन्द्र) दोनों साथ रहें। वैदिक साहित्य में दर्श शब्द का प्रयोग अमावस्या के दिन सम्पादित कृत्य के लिये हुआ है।

पूर्णमास या पूर्णमासी वह तिथि है जब चन्द्रमा अपनी पूर्ण कला से प्रत्यक्ष हो। चन्द्रमास चन्द्र कला की पूर्णता से पूर्ण होता है। इस तिथि की चन्द्रमा और सूर्य अधिकतम दूरी पर रहते हैं। वैदिक ग्रन्थों में पूर्णमास का प्रयोग पूर्णमासी तिथि पर निर्धारित कृत्य के लिये हुआ है। यदि पहली बार पूर्णमासी या अमावस्या तिथि को दर्श-पूर्णमास किया जाय तो निश्चित ही अन्वारम्भणीया इष्टि करनी चाहिए। इस इष्टि में अग्नि एवं विष्णु को एकादश मृतिका पात्रों में पकाई गयी रोटी अर्पित की जाती है। सरस्वती देवी को चावल, जौ, दूध आदि का मिश्रण पकाकर (चरू) दिया जाता है। सरस्वान् एवं अग्नि भगिन् को क्रमशः बारह एवं आठ मृतिका पात्रों या अन्य शुद्ध पात्रों में पकाया गई रोटी दी जाती है। अन्वारम्भणीया कृत्य प्रारम्भिक दर्श-पूर्णमास के पूर्व केवल एक बार किया जाता है।[3]

दर्श-पूर्णमास में दो दिन की अवधि लगती है। प्रथम दिन अग्न्याधान एवं परिस्तरण कृत्य किये जाते हैं।

प्रथम दिन को 'उपवसथ' कहते हैं। यजमान को इस दिन यजन की सारी सामग्रियाँ तैयार करनी पड़ती हैं। दूसरे दिन को 'यजनीय' कहते हैं। इस कार्य में चार पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है, यथा—अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता एवं अग्नीध्र।

१—पूर्वमीमांसा सूत्र–१० ८।३६ पर शबर भाष्य।

२—शतपथब्राह्मण–११।१।२।१३

३—जैमिनि–१।१।३४-३५

संकल्प, अध्वर्यु आदि का वरण एवं गार्हपत्य अग्नि, समिधा के साथ आहवनीय एवं दक्षिणाग्नि के पास ले जाने का कृत्य यजमान करता है। समिधा का अग्रभाग पूर्वाभिमुखकर आहवनीयाग्नि में छोड़ा जाता है। यजमान गार्हपत्याग्नि एवं दक्षिणाग्नि के समक्ष भी स्तुति करता है। मंत्रों का उल्लेख शतपथ एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में किया गया है।[1]

सान्नाय--जो लोग तीन प्रकार की अग्नियों की अर्चना करने के लिये धारण करते हैं, वे गतश्री कहलाते हैं। वैदिक अग्नियों को रखने वाला ब्राह्मणों में पण्डित, क्षत्रियों में विजयी राजा एवं ग्रामीण लोगों में श्रेष्ठ व्यक्ति माना जाता था।[2] इससे यह ज्ञात होता है कि गतश्री लोग साधन सम्पन्न व्यक्ति होते थे। वे लोग सान्नाय्य इन्द्र या महेन्द्र को देने में समर्थ होते थे। इसे सोमयाजी भी दे सकते थे। सोमयाजी लोग सोमयज्ञ करने के बाद एक वर्ष या दो वर्ष तक सान्नय्य देते हैं।

ताजा गोदुग्ध में दही (दधि) मिलाकर या प्रातःकाल के दुग्ध में गत रात्रि का दुग्ध मिश्रित करने से सान्नाय बनाया जाता है।

शाखाहरण—सोमयाग या दर्शेष्टि कर लेने के बाद यह कृत्य किया जाता है। अध्वर्यु पलाश या अन्य शास्त्र-निर्धारित वृक्ष की शाखा काट कर लाता है। शाखा उत्तर या उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित वृक्ष से लानी चाहिए। शाखा का कोई अंश सूखा नहीं होना चाहिए। इसी शाखा से सवत्सा गाय से बछड़ों को अलग किया जाता है। जैमिनि के अनुसार प्रातः एवं सायम् दोनों कालों में गाय दुहने के समय शाखाहरण कृत्य किया जाता है।[3] इस कृत्य में प्रयुक्त मंत्रों का विवरण तैत्तिरीय संहिता में है।

बर्हिराहरण—कुश काट कर यज्ञ-सम्पादन हेतु गट्ठर बनाकर यज्ञस्थल तक लाने की क्रिया 'बर्हिराहरण' है। अध्वर्यु उत्तर या पूर्व दिशा में जाकर दर्भ संचय

१—आहवनीयाग्नि—ऋग्वेद १०।१२८।१ तै० ब्रा० ३।७।५
　गार्हपत्याग्नि—तै० ब्रा० ३।७।४, ऋ० १०।१२।२ तै० सं० ४।७।१४।१
　दक्षिणाग्नि—ऋ० १०।१८८।३४, तै० स०
　सभ्य एवं ४।३।१४।१
　अवसथ्याग्नि—तै० ब्रा० ३।७।४

२—गतश्रिभिस्तु सर्वेऽग्नयः सदा धार्यन्ते। त्रयो ह वै गतश्रियः शुश्रुवान् ब्राह्मणः क्षत्रियो विजयी राजा वैश्यो ग्रामणीरिति—कात्यायन श्रौतसूत्र ४।१।१३।५

३—जैमिनि—३।६।२८-२९।

करें। बर्हि देवता से प्रार्थना की जाती है कि 'इसे देवकार्य हेतु काट रहा हूँ'। हृदय में यह भाव रखना चाहिए कि कुश की भाँति हम भी सहस्रों शाखाओं में बढ़ें।

इध्माहरण—इध्म का अर्थ समिधा (लकड़ी) होता है। पलाश या खदिर की समिधायें प्रयोग में लायी जाती हैं। इध्म लाने की क्रिया को इध्माहरण कहते हैं।

इध्मप्रव्रश्चन—समिधा की लम्बाई दो प्रादेश अर्थात् अँगूठा से लेकर तर्जनी तक की लम्बाई (दो वित्ता) के बराबर उचित माना जाता है। इंधन को काट कर समिधा बनाई जाती है। काटने से जो लकड़ी बच जाती है उसे इध्मप्रव्रश्चन कहते हैं।

वेद—वेदी की स्वच्छता या सफाई के लिये वेद बनाया जाता है। वेद दर्भ से बनाते हैं। बछड़े के घुटने के बराबर वेद की लम्बाई होनी चाहिए। इस वेद से ही यजमान की पत्नी वेदी को स्वच्छ करती है। जिस दर्भ से वेद बनाया जाता है उसी दर्भ का शेषांश वेद-परिवासन कहा जाता है।

उपवेश—इसे उपवेष भी कहते हैं। यह काष्ठ कुदाल का एक नाम है। इसके द्वारा आग को हटाया या एकत्र किया जाता है। यथा—

"अङ्गारप्रेषणार्थं काष्ठमुपवेष इति समाख्यायते"

परिधि—"अग्नेः परितो धीयन्ते तानि दारूणि परिधयः"।[1] यह उस लकड़ी या समिधा का नाम है जो ३ वित्ता या एक हाथ लम्बी हो। छाल सहित मोटा, लम्बी एवं पतली यज्ञीय काष्ठ से निर्मित दण्डों को परिधि कहते हैं।

सायंदोह—(सायंकाल में गाय दुहना) यह कृत्य सायंकालीन अग्निहोत्र करने के बाद किया जाता है। सान्नाय्य के लिये जो पात्र प्रयोग में लाये जाते हैं वेही पात्र सायंदोह में भी प्रयुक्त होते हैं।

उखा को कुम्भी भी कहते हैं, यह मिट्टी का एक बड़ा पात्र होता है।

अभिधानी—दूध दुहने के पूर्व गाय तथा बछड़ा जिस रस्सी से बाँधे जाते हैं। उसका नाम अभिधानी है।

दोहन—उस पात्र का नाम दोहन है, जिसमें दूध दूहा जाता है।

१—शत० ब्रा० १।२ का भाष्य

शाखापवित्र—जिस विकंकत काष्ठ से उपवेष बनाया जाता है उसी से शाखा पवित्र भी निर्मित होता है। यह पलाश और शमी वृक्ष से भी बनाया जाता है।

निदान गाय का पिछला पैर जिन रस्सियों से बाँधा जाय उसे निदान कहते हैं।

सायंदोह में जिन पात्रों की जरूरत होती है उनकी संख्या ८ बताई जाती है। इनका प्रयोग सायंकालीन गाय दुहने के समय तथा बाद में किया जाता है।

अग्निहोत्र के उपरान्त स्रुक् में जो द्रव्य अवशिष्ट रहता है वह गर्म किये हुए दूध में मिला दिया जाता है। दुग्ध पात्र जब ठण्डा हो जाय तब दही (सोम) मिलाया जाता है।[१] प्रातर्दोह में सायंदोह की विधि एवं मंत्र किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्रयोग में लाये जाते हैं। उसमें दही नहीं मिलाया जाता है, सायंकालीन दूध में ही दही मिलाया जाता है। दही के अभाव में पलाश की छाल या जंगली वेर या पूतीक पौधा दूध में डाला जाता है ताकि वह खट्टा (सान्नाय्य) बन जाय।

सायंदोह कृत्य वही करता है जिसने सोमयाग कर लिया हो।

पात्रासादन—यज्ञीय पात्रों को समीप में रखने को पात्रासादन कहते हैं।

ब्रह्मवरण—वैदिक शास्त्रों का ज्ञाता, सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ एवं श्रोत्रिय ब्राह्मण को ब्रह्मा बनाना चाहिए। वह सभी क्रियाओं का अधोक्षक कहलाता है। अध्वर्यु उसी से आज्ञा ग्रहण कर कृत्य कराता है।

प्रणीताप्रणयन—अध्वर्यु चमस में दो पवित्र रखकर जल भरता है। आहवनीयाग्नि के उत्तर कुश पर वह पात्र रख दिया जाता है। कुश से उपपात्र को ढक दिया जाता है। यह कृत्य प्रणीता प्रणयन है। प्रणीता का जल आटा को सान कर पुरोडास (रोटी) बनाने के काम में आता है।[२]

निर्वाप—देवतार्थत्वेन पृथक्करणं निर्वापः"[३]—अर्थात् देवताओं के लिये यज्ञीय सामग्रियों में से मुट्ठी भर अन्न निकालना। अध्वर्यु बायें हाथ में अग्निहोत्र हवणी रखकर दहिने हाथ से अन्न निकालता है।

पत्नी सन्नहन—दर्श-पूर्णमास करने के पूर्व यजमान को पत्नी मूंज को

१—तै० सं० १।१।३

२—जैमिनि-४।२।१४

३—आप० १।१७।१० की टीका।

मेखला (करधनी) पहनती है। अध्वर्यु या आग्नीध्र वस्त्र के ऊपर या भीतर मेखला पहनाते हैं[1] मूंज (योक्त्र) की मेखला ३ शाखाओं वाली रस्सी होती है।

आज्यस्थाली—यह उस पात्र का नाम है जिसमें घृत रखा जाता है।

बर्हिरास्तरण—वेदी पर कुश फैलाने की क्रिया को बर्हिरास्तरण कहा जाता है। अध्वर्यु वेदी पर कुश फैलाता है। वेदी पर ही बाँधने वाली रस्सा भी रख देता है।

दर्श-पूर्णमास में पन्द्रह सामिधेनी मन्त्र कहे जाते हैं। मन्त्र का आरम्भ ऋग्वेद की ऋचा "**प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नयुः**" (३।२७।१) से होता है एवं "**आ जुहोता दुवस्यताऽग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्।**" ऋग्वेद की इस ऋचा (५।२८।६) से अन्त होता है। सभी मन्त्र एक स्वर अर्थात् एक श्रुति से उच्चारित किये जाते हैं। प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'ओम्' का उच्चारण किया जाता है। होता जब 'ओम्' बोलता है, अध्वर्यु आहवनीय अग्नि में एक समिधा डालता है। यजमान प्रत्येक समिधा अग्नि में डालते समय 'अग्नय इदं न मम' का उच्चारण करता है।

होता प्रवर ऋषियों एवं सोम, प्रजापति, अग्निषोम आदि देवों को बुलाने के लिये अग्निदेव की स्तुति करता है। खड़ा होकर आवाहन किया जाता है।

आधार—होता जब मन्त्र बोलें और यजमान आहवनीय अग्नि में घृत डालें। इस कृत्य को 'आधार' कहा जाता है।

अध्वर्यु 'पुरोडास' अग्नि में डालता है। अग्नि, सोम, विष्णु, प्रजापति आदि देवताओं को विधिपूर्वक पुरोडास दिया जाता है। इडा नामक देवता का आवाहन किया जाता है। ब्रह्मा को प्राशित्र एवं होता को अवान्तरेडा भक्षण करने के लिये दिया जाता है।

अन्वाहार्य—दक्षिणाग्नि पर चावल पकाने की क्रिया को 'अन्वाहार्य' कहते हैं। यजमान चारों पुरोहितों से भोजन करने के लिये निवेदन करता है। दर्श-पूर्णमास की प्रमुख विधि के लिये आश्वलायन श्रौतसूत्र (१।२।८-२२, १।७।७, ८, १।१३।२) द्रष्टव्य है। पूर्णमासेष्टि से कुछ अंशों में दर्शेष्टि भिन्न है। इन दोनों का संशोधित रूप 'दाक्षायण यज्ञ' साकम्प्रस्थीय यज्ञ, वैमृध यज्ञ एवं संक्रम यज्ञ में देखने को मिलता है।

१—आप० २।५।५

दर्शपूर्णमास और पिण्डपितृयज्ञ—दर्शपूर्णमास कृत्य में पके हुए चावल का पिण्ड दिया जाता है जिसे पिंडपितृयज्ञ की संज्ञा दी जाती है। आपस्तम्ब के अनुसार पिण्डपितृयज्ञ का अर्थ है **"अमावस्यायां यदहश्चन्द्रमसं न पश्यन्ति तदहः पिण्डपितृयज्ञं कुरुते"**। रूद्रदत्त ने इस शब्द की व्याख्या की है, यथा—

"पिण्डैः पितॄणां यज्ञः"। महादेव ने सत्याषाढ की टीका में इसको व्याख्या प्रस्तुत की है, यथा—**पिण्डैः पिण्डदानेन सहितः पितृभ्यो देवेभ्यो यज्ञो होमः स पिण्डपितृयज्ञः"**[१] कात्यायन ने दर्शेष्टि का एक आवश्यक अंग पिण्ड-यज्ञ को माना है। जैमिनि ने इसे दर्शेष्टि से अलग एक स्वतंत्र कृत्य माना है। अमावस्या को ही दर्शेष्टि और पिण्डपितृयज्ञ भी किया जाता है। अमावस्या के दिन मध्याह्न वेला के बाद अर्थात् दिन के तीसरे भाग में यह कृत्य किया जाता है। वैदिक अग्नियों को न रखने वाला गृहस्थ भी 'पिण्ड-पितृयज्ञ' गृह्याग्नि में आहुति देकर कर सकता है।[१]

जो पिण्ड देने में असमर्थ है उसे जल तर्पण तो अवश्य करना चाहिए। मनु की उक्ति है—

> **नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।**
> **देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च** ॥ २।१७६

इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य ग्रन्थ है—शतपथब्राह्मण २।४।२, **तैत्तिरीय ब्राह्मण १।३।१०, २।६।१६, आश्वलायन २।६-७ आपस्तम्ब १।७-१०, कात्यायन ४।१।१-३०, शत० २।७, बौधायन ३।१०-११**

चातुर्मास्य

प्रत्येक चौथे मास के अन्त में ऋतु सम्बन्धी यज्ञ किया जाता है इस कारण इसका नाम चातुर्मास्य है। प्रत्येक चातुर्मास्य पर्व या अंग या सन्धि के नाम से भी प्रसिद्ध है। फाल्गुन या चैत्र माह के अन्त में 'वैश्वदेव' नामक इष्टि की जाती है। आषाढ़ या श्रावण की पूर्णिमा को 'वरुणप्रघास' नामक इष्टि का विधान होता है। कार्तिक या मार्गशीर्ष पूर्णिमा को 'साकमेध' नामक इष्टि का आयोजन होना चाहिए। भारत के मुख्यतया तीन ऋतुओं— वसन्त, वर्षा एवं हेमन्त के आगमन की सूचना ये

१—आपस्तम्ब—१।७।१।२

सत्याषाढ् की टीका २।७ पृ० २४५

तीन चातुर्मास्य इष्टियां देती हैं। शुनासीरीय नामक चौथा चातुर्मास्य भी कतिपय श्रौत एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इसकी कोई तिथि निश्चित नहीं है। यह साकमेध इष्टि के बाद किया जाता था। कात्यायन के अनुसार यह इष्टि साकमेध के एक से चार दिनों के उपरान्त या चार महीनों के पश्चात् किया जा सकता था।[1]

वस्तुतः चातुर्मास्य ऋतुओं के सन्धिकाल की सूचना देते हैं। इन इष्टियों के माध्यम से हम नवीन ऋतु परिवर्तन के प्रति सचेष्ट हो जाते हैं। परिवर्तन की अधिष्ठात्री प्रकृति के प्रति हमारे आध्यात्मिक भावों का इतना सुन्दर प्रदर्शन इन इष्टियों के माध्यम से किया जाता था कि विश्व में ऐसा प्रकृति प्रेम एवं परिवर्तन के प्रति सजगता का दर्शन दुर्लभ है। वस्तुतः विराट् के इस सृष्टि यज्ञ में मनुष्य के लिये जोवन भी एक यज्ञ है। हमारे जीवन यज्ञ को सफल बनाने के लिये कुछ व्रतों (संकल्पों) का विधान किया गया था। ये व्रत जीवन को इतना सुरक्षित एवं स्वर्णिम आवरण से आवेष्टित कर देते थे कि मनुष्य उन्नति के उत्तुंग शिखर तक निर्विघ्न पहुँच सकता था। चातुर्मास्य व्रत के आरम्भ में जो कृत्य निर्धारित किये गये हैं वे हमारी आध्यात्मिक भाव भूमि के निर्माण में सहायक होते हैं यथा—सिर मुण्डन या दाढ़ी बनाना, पृथिवी पर शयन, मधु, मांस, नमक का सेवन न करना, मैथुन एवं शारीरिक आभूषणों से दूर रहना इत्यादि। चातुर्मास्य के सभी पर्वों में पाँच कृत्य अवश्य किये जाते हैं, यथा—पाँच देवताओं को निम्नांकित हवि दी जाती है।

अग्नि—आठ कपालों (घट-शकलों) की एक रोटी (पुरोडास)।

सोम—भात

सविता—बारह या आठ कपालों वाला एक पुरोडास।

सरस्वती—चरू

पूषा—चावल के आटे का चरू। चातुर्मास्य यज्ञों को जीवन भर करें या एक वर्ष करें। यज्ञ करने वाला स्वर्ग का भागी होता है।

वैश्वदेव

यह इष्टि आश्वलायन फाल्गुन पूर्णिमा के एक दिन पूर्व वैश्वानर (अग्नि) एवं पर्जन्य के लिये एक इष्टि करने की बात कहते हैं। पूर्णिमा को प्रातःकाल वैश्वदेव

१—कात्यायन श्रौत सूत्र—५।११।१-२

किया जाता है। कात्यायन[1] के अनुसार पूर्णिमा के एक दिन उपरान्त प्रातःकाल यह कृत्य किया जाना चाहिए। यदि पहली बार यह कृत्य किया जा रहा हो तब वैश्वानर को बारह कपालों वाली रोटी एवं पर्जन्य के लिये चरू पकाया जाता है। आवश्यक ५ आहुतियों के अतिरिक्त मरूद्गणों के लिये सात कपालों वाला एक पुरोडाश, विश्वेदेवों (सभी देवों) के लिये आमिक्षा तथा द्यावापृथ्वी के लिये एक कपाल वाली रोटी की आहुति दी जाती है।

नवीन वस्त्र धारण कर यह इष्टि की जाती है। अरणी से अग्नि उत्पन्न की जाती है। वैश्वदेव पर्व में नौ प्रयाज एवं नौ अनुयाज होते हैं, जब कि दर्श-पूर्णमास में पाँच प्रयाज एवं तीन अनुयाज होते हैं। वाजिन नामक देवताओं के लिये वाजिन (दही-दूध मिश्रित करने पर ठोस पदार्थ आमिक्षा एवं तरल पदार्थ वाजिन) की आहुति दी जाती है। इस पर्व के प्रधान देवता 'विश्वेदेवा' माने जाते हैं।

वरुणप्रघास

वर्षा ऋतु में आषाढ़ या श्रावण की पूर्णिमा को यह कृत्य किया जाता है। इस इष्टि में 'यव' का भक्षण किया जाता है। इस कारण शतपथ में वरुण का काल्पनिक प्रतीक यव को माना है एवम् 'घस' का अर्थ भक्षण सिद्ध किया है। यह इष्टि घर से बाहर उस स्थल पर होनी चाहिए जहाँ हरे भरे पौधे उगे हो। तीन अग्नियों की तीन वेदी बनायी जाती है। आहवनीय अग्निवेदी से पूर्व उत्तरवेदी नामक वेदी की एवं दक्षिण दिशा में एक वेदो बनाई जाती है। अध्वर्यु उत्तर वेदी पर एवं प्रति-प्रस्थाता दक्षिण वाली वेदी पर कृत्य करते हैं। एक ही उत्कर होता है। कृत्य से एक दिन पूर्व करम्भ (भूना एवं साफ किया हुआ जौ का सत्तू, जिसमें दही मिलाया जाता है। इससे पूर्ण पात्र पत्नी तैयार करती है[2]। करम्भ पात्र की संख्या घर में जितनी सन्तान (संतति) हो उससे एक अधिक होना चाहिए। करम्भ से ही मेष (भेड़) मेषी (भेड़ी) की आकृति बनाई जाती है। कुश या ऊन से उस आकृति को ढक दिया जाता है। पाँच आहुतियों (जो सभी पर्वों में दी जाती है) के अतिरिक्त इन्द्र, अग्नि, वरुण, मरुत एवं प्रजापत्ति (क) को भी हवि दी जाती हैं। कृत्य के अन्त में पति-पत्नी स्नान करते हैं। नवीन वस्त्र धारण करते हैं एवं घर आने पर आहवनीयाग्नि में एक समिधा डाली जाती है।

१—कात्यायन श्रौत सूत्र० ५।१ की टीका।

२—आपस्तम्ब (८।६।३), कात्यायन० ५।२।२

साकमेध

साकमेध पर्व कार्त्तिक पूर्णिमा को किया जाता था। कुछ शास्त्रों के अनुसार मार्गशीर्ष पूर्णिमा को भी हो सकता था। इस पर्व में हवि प्राप्त करने से देवगण वृद्धि को प्राप्त करते हैं। इसलिये इसका नाम 'साकमेध' पड़ा है। पूर्णिमा के एक दिन पूर्व तीन इष्टियाँ तीन देवों के लिये की जाती हैं। प्रातः सवन में अनीकवान् अग्नि को पुरोडास की आहुति, मध्याह्न सवन में पके हुए चावल की आहुति सन्तपनों को, सायं सवन में मरुतों को दूध में पके हुए चावल की आहुति दी जाती है। कात्यायन के अनुसार रात्रि में खीर खाकर पुरोहित अपने पुत्र एवं पौत्र सहित तृप्त होता है। दूसरे दिन चरू (ज़ल में पका हुआ चावल) से अग्निहोत्र किया जाता है। हवि देने के पूर्व बैल को यज्ञ स्थल पर लाया जाता है। तैत्तिरीय संहिता[1] का कहना है कि बैल के बोलने के पश्चात् चरू की हवि अग्नि को दी जाती है आश्वलायन[2] के मत से बैल का निनाद न हो सके तब पुरोहित (आग्नीध्र) या मेघ गर्जन के बाद भी होम किया जा सकता है। मरूतो और अदिति को आहुति देने के पश्चात् आठ देवों को 'महाहवि' दी जाती है। पांच आहुतियां तो सभी पर्वों में दी जाती हैं इसके अतिरिक्त इन्द्र या महेन्द्र, अग्नि एवं विश्वकर्मा को भी 'महाहवि' दी जाती है।

'महाहवि' कृत्य के बाद महापितृयज्ञ किया जाता है। दक्षिणाग्नि के दक्षिण में एक वेदी बनायी जाती है जिसके चार कोण चारों दिशाओं की ओर हों। इस वेदी पर दक्षिणाग्नि से अग्नि लाई जाती है, जिसमें पुरोडास की आहुति सोमवान् पितरों को दी जाती है। बर्हिषद् पितरों को भुने हुए जौ की आहुति एवं अग्निष्वात्त पितरों को 'मन्थ'[3] की आहुतियाँ दी जाती हैं।

साकमेध पर्व का अन्तिम कृत्य त्र्यम्बक होम है। रुद्र को विशेष हवि इस कृत्य में प्रदान की जाती है।[4]

१—तै० सं० १।८।४।१

२—आश्वलायन० २।१८।११-१२

३—जिस गाय का अपना बछड़ा न हो दूसरे के बछड़े से दूध देने वाली गाय, जिसे निवान्या कहते हैं, जिसका दूध अर्ध भूने हुए जौ के पात्र में रखा जाता है। ईख के डण्ठल में रस्सी बाँधकर हिलाया (दहिने से बायें मथा जाता है) जाता है। इस मन्थन से प्राप्त वस्तु का नाम मन्थ है।

४—शतपथ ब्रा० २।५।२।१-१७

शतपथ-ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता, बौधायन धर्मसूत्र, आश्वलायन श्रौतसूत्र एवं कात्यायन श्रौतसूत्र ने इस पर्व के विधि-विधानों का विशद् वर्णन किया है।

शुनासीरीय

ऋग्वेद[1] में 'शुन' शब्द कई बार आया है। यास्क ने निरुक्त[2] में 'शुन' का अर्थ वायु एवं 'सीर' का अर्थ आदित्य (सूर्य) किया है। शतपथ ने शुन का प्रयोग समृद्धि अर्थ में किया है एवं सीर का प्रयोग सार अर्थ में हुआ है। इससे आभास मिलता है कि इस पर्व के करने से समृद्धि एवं सारतत्त्व की प्राप्ति होती होगी। इसी कारण इस कृत्य का नाम 'शुनासीरोय' पड़ा या वायु एवं आदित्य इस पर्व के प्रधान देवता हैं। अत: इसका नाम शुनासीरो पड़ा। यह पर्व फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को मनाया जाता था। वायु के लिये धारोष्ण दूध एवं सूर्य (आदित्य) के लिये पुरोडास (रोटी) की आहुति दी जाती थी। दक्षिणा स्वरूप एक बैल ६ बैल या १२ बैल पुरोहित को दिया जाता है।

चातुर्मास्य जोवन पर्यन्त किया जा सकता है या केवल एक वर्ष करने के पश्चात् पशुभाग और सोमयाग किया जा सकता है।

आग्रयणेष्टि

अग्र+अयन अर्थात् प्रथम फल (अग्र) खाने (अयन) का नाम आग्रयणेष्टि है। इस कृत्य के देवता इन्द्र एवं अग्नि हैं। प्रत्येक वर्ष नया अन्न वसन्त एवं शरद ऋतु में हो जाता है। शरद् ऋतु में नये चावल से एवं वसन्त ऋतु में नये यव से वर्षा ऋतु में सावाँ (श्यामाक) से यह इष्टि की जाती है। इसे ही 'नवान्न' भी कहते हैं।

इसके अतिरिक्त अनेक कामनाओं की पूर्ति के लिये कई प्रकार की इष्टियाँ की जाती थीं, जिनकी चर्चा श्रौतसूत्रों में हैं। (१) दीर्घ-जीवी बनने के लिये आयुतकामेष्टि, निर्विघ्न यात्रा के लिये स्वस्त्ययनी, पुत्र कामना से पुत्रकामेष्टि, यश एवं राज्य की कामना से लोकेष्टि तथा महावैराजी, मित्र एवं सम्पत्ति आदि की कामना से मित्रविन्दा, समझौते एवं शान्ति के लिए संज्ञानी, वर्षा के लिये कारीरीष्टि आदि अनेकों इष्टियाँ की जाती थीं।

१—ऋग्वेद–४।५७।४ एवं ४।५७।८

२—निरुक्त–९।४०

निरुढ पशुबन्ध या पशुबन्ध

आंत निकाले हुए पशु की आहुति का अपर नाम निरुढ पशुबन्ध है। अन्य पशु यज्ञों के लिये सौमिक शब्द का प्रयोग किया जाता था। वैदिक अग्नियों को रखने वाला उत्तरायण एवं दक्षिणायन के अवसर पर पशु यज्ञ करता था। मनु[1] के अनुसार भी प्रत्येक अयन के आरम्भ में पशुयाग की व्यवस्था है।

यह यज्ञ ६ पुरोहितों द्वारा सम्पादित होता था। ६ ठें पुरोहित का नाम प्रशास्ता (मैत्रावरुण) प्रचलित था। इस यज्ञ में वेदी और यूप के निर्माण की लम्बी विधि है। प्रथम दिन को 'उपवसथ' कहा जाता है। वेदिका निर्माण आदि कार्य प्रथम दिन का है, दूसरे दिन मुख्य कार्य किया जाता है। चत्वाल (एक निश्चित परिमाण का गड्ढा) और उत्कर के बीच में बलिका पशु रखा जाता है। पशु का मुख पश्चिम अर्थात् यूप के पूर्व रहता है। बकरा, जो बलि के लिये आया हो उसका कोई अंग-भंग नहीं हो। पशुबलि इन्द्र, अग्नि, सूर्य या प्रजापति के लिये दी जाती है। जिस देवता को यह बलि एक बार दी जाय उसे ही यजमान अन्यबार भी बलि अर्पित करता है। सभी चीजें मंत्रों से अभिमंत्रित की जाती हैं। शमिता (पशु का बध करने वाला) जब पशुबध कर देता है तब उसकी आँतें एक विशेष प्रकार के गड्ढे में रख दी जाती हैं। पशु के विभिन्न अंग अलग २ काटे जाते हैं, जो भिन्न-भिन्न देवताओं को हविरूप में दिये जाते हैं। सभी अंगों को (हृदय को छोड़कर) ऊखा नामक एक विशिष्ट पात्र में पकाया जाता है। शमिता ही पकाने का कार्य करता है। हृदय को एक लकड़ी में छेदकर आग में भूना जाता है।

सम्पूर्ण पशु को यज्ञिय वस्तु कहा जाता है। पुरोहित भी पशु के अंग को प्रसाद रूप में लेते थे। इस इष्टि का विस्तार सहित वर्णन तैत्तिरीय संहिता आश्वलायन एवं आपस्तम्ब श्रौतसूत्रों में उपलब्ध है।

सोमयज्ञ

इस यज्ञ में सोमरस या सोमलता की प्रधानता रहती है। अतः सोम नाम से यह अभिहित किया जाता है। प्रायः वसन्त ऋतु में यह यज्ञ होता है। इस यज्ञ में १६ ऋत्विक् होते हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र[2] में इस यज्ञ के सात भेद होते हैं—

१—मनुस्मृति–४।२६

२—कात्यायन श्रौतसूत्र—१०।९।२७

अग्निष्टोम, (ज्योतिष्टोम), अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशो, वाजपेय, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम। आपस्तम्ब एवं सत्याषाढ[1] के अनुसार उक्थ्य, षोडशी एवं अतिरात्र इष्टियाँ अग्निष्टोम के ही विभिन्न संशोधित रूप है।

अग्निष्टोम

अग्निष्टोम यदि एक दिन में हो तो वह 'एकाह' या 'ऐकाहिक' कहलाता है। यदि वह बारह दिनों में हो तो उसे 'अहीन' कहते हैं। बारह दिनों से अधिक दिनों तक चलने वाला सोमयज्ञ 'सत्र' कहलाता है। अग्निष्टोम को ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत ही मानते हैं। अपने अंगों के साथ यह यज्ञ पांच दिनों में पूर्ण होता है।

प्रथम दिन—पुरोहितों का वरण, मधुपर्क एवं दीक्षा आदि।

द्वितीय दिन—प्रायणीया इष्टि, सोम क्रय, आतिथेयेष्टि, प्रवर्ग्य एवं उपसद्।

तृतीय दिन—प्रवर्ग्य एवं दो बार उपसद् (प्रातः एवं सायंकालीन अभिवादन)।

चतुर्थ दिन—प्रवर्ग्य एवं उपसद्, अग्निप्रणयन, हविर्धान प्रणयन एवं पशुयज्ञ।

पञ्चम दिन—यह सुत्य या सवनीय दिन भी कहलाता है, प्रातःकाल सोमलता से रस निकाला जाता है एवं देवताओं को अर्पण करने के बाद स्वयं पान किया जाता है। उदयनीया एवं अवभृथ (शुद्धि स्नान) कृत्य करने के बाद यह इष्टि पूरी होती है।

अग्नि की स्तुति या प्रधानता होने के कारण इस इष्टि का नाम अग्निष्टोम पड़ा। हर वर्ष वसन्तऋतु में अमावस्या या पूर्णिमा के दिन यह कृत्य किया जाता है। पवित्र स्थान में यज्ञ-मण्डप तैयार किया जाता है। मण्डप के दक्षिण दिशा में पाकशाला, पश्चिम दिशा में यजमान की पत्नी के रहने के लिये एक अन्यशाला, उत्तर दिशा में दाढ़ी, सिर एवं काँख के बाल बनवाने के लिये एक शाला बनायी जाती है। पूर्व दिशा में प्रवेश द्वार होता है। मुण्डन, दन्तधावन एवं स्नान आदि को विशिष्ट विधि श्रौतसूत्रों में वर्णित है। मण्डप को 'प्राग्वंश' कहा जाता था। यजमान एवं उसकी पत्नी प्राग्वंश में दधि, घृत मिश्रित चावल का भोजन करते हैं। दर्भ से शरीर पर मक्खन लगाया जाता है। अंजन किया जाता है, तत्पश्चात् मण्डप के बाहर अध्वर्यु यजमान को एवं प्रतिप्रस्थाता उसकी पत्नी को पवित्र करते हैं।

१—आप० १४।१।१, सत्याषाढ. ९।७ इ. ९५८

यजमान पूर्व द्वार से एवं पत्नी पश्चिम द्वार से मण्डप में प्रवेश करती है। दक्षीणीय इष्टि अर्थात् यजमान को यज्ञ करने के योग्य (दीक्षित) किया जाता है।[1] यज्ञ काल तक यजमान सपत्नीक दुग्धाहार पर ही रहता है। कात्यायन एवं आपस्तम्ब ने अनेक नियमों का उल्लेख किया है[2] जिनका पालन व्रतकाल में करना पड़ता है, यथा—दो गायों के दूध अलग-अलग पात्रों में रखकर यजमान के लिये गार्हपत्याग्नि पर एवं पत्नी के लिये दक्षिणाग्नि पर गर्म किये जाते हैं।

इस यज्ञ में चारों दिशा के चार स्वामी (देवता) माने जाते हैं, यथा—पूर्व के पथ्या स्वस्ति, दक्षिण के अग्नि, पश्चिम के सोम एवं उत्तर के सविता देवता हैं जिन्हें आज्य की आहुतियाँ दी जाती हैं। चरु की आहुति अदिति को दी जाती है। यह प्रायणीय (प्रारम्भिक) इष्टि कही जाती है। सोम क्रय किया जाना एक लम्बा कृत्य है। सोम के स्वागत में आतिथेयेष्टि की जाती है। इसमें विष्णु पूजन किया जाता है। उसके साथ अनेक विधियाँ की जाती हैं।

अग्निष्टोमकृत्य में प्रयुक्त शास्त्रीय शब्दों की व्याख्या—

प्रवर्ग्य—यह एक स्वतंत्र कृत्य है। ऐतरेय ब्राह्मण इसे आवश्यक मानता है परन्तु आपस्तम्ब इसे प्रत्येक अग्निष्टोम में आवश्यक नहीं मानते हैं। इस कृत्य में प्रयुक्त सछिद्र मृतिकापात्र को महावीर कहते हैं। दुग्धपात्र को 'पिनवन' कहते हैं। पुरोडास पकाने के लिये प्रयुक्त कसोरे को 'रौहिण' कहते हैं। ये तीनों मृतपात्र गार्हपत्याग्नि से प्रज्वलित घोड़े के लीद की अग्नि में तपाये जाते हैं।

घर्म—उबलते हुए घी में गाय तथा बकरे वाली बकरी का दूध मिलाकर घर्म बनाया जाता है, जिसकी आहुति वायु, इन्द्र, सविता, बृहस्पति, अश्विनीकुमार एवं यम को देते हैं।

उपसद्—यह एक इष्टि है। अग्नि, विष्णु, एवं सोम को आहुतियाँ दी जाती हैं। आज्यभाग, प्रयाजों एवं अनुयाजों तथा स्विष्टकृत अग्नि की क्रिया नहीं की जाती।

महावेदी—सोमयाज के लिये जो वेदी बनायी जाती है, उसे महावेदी कहते हैं।

१—जैमिनि ५।३।२९–३१

२—कात्यायन श्रौतसूत्र–४।१९–३४
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र–१०।१६

शालामुखीय—यह एक खूँटी (शंकु है जो आहवनीयाग्नि से पूर्व ६ प्रक्रम) पर गाड़ी जाती है ।

प्रक्रम—कात्यायन की टीका के अनुसार एक प्रक्रम=दो पद होता है। आपस्तम्ब के अनुसार दो या तीन पदों का एक प्रक्रम होता है ।

अग्निप्रणयन—प्रवर्ग्य एवं उपसद् कृत्य करने के बाद प्रवर्ग्य का उद्वासन किया जाता है। आहवनीयाग्नि को उत्तर वेदी तक लाने का कृत्य अग्नि प्रणयन कहा जाता है।

उपरव—सोमरस निकालने के लिये ४ गड्ढे खोदे जाते हैं जिनमें सोमलता कूटने से ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे गड्ढे उच्चतर बना देते हैं, उसको उपरव कहते हैं।

प्रातरनुवाक्—ब्राह्म मुहूर्त्त में होता प्रातःकाल को स्तुति करता है, इसे 'प्रातरनुवाक्' की संज्ञा दी जाती है। प्रातःकालीन स्तुत्य देव, अग्नि, उषा एवं अश्विनीकुमार माने जाते हैं।

महाभिषव—सोमरस निकालने के पूर्व अनेक कर्म किये जाते हैं। रस निकालने की भी शास्त्रीय विधि है। इस कृत्य को 'महाभिषव' कहते हैं।

अग्निष्टोम में जिस दिन सोमरस निकाला जाता है, उस दिन बकरे की बलि दी जाती है। बकरे की बलि अग्नि, इन्द्र एवं सरस्वती के लिये दी जाती है। भेष की बलि की षोडशी यज्ञ में दी जाती है। कात्यायन[1] ने बलि देने वाले उपर्युक्त पशुओं को 'स्तोमायन' नाम से अभिहित किया है, जबकि आश्वलायन[2] ने 'ऋतुपथु' की संज्ञा दी है।

चमसोन्नयन—ब्रह्मा, उद्गाता, यजमान, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंशी, पोता, नेष्टा एवं आग्नीध्र इन नौ व्यक्तियों के लिये सोमरस पवित्र पात्र में भरा जाता है। यह चमसोन्नयन कृत्य उन्नेता नामक पुरोहित करता है।

सोमरस पहले ही सात पात्रों में भरकर यज्ञ मण्डप में 'रखर' नामक उच्च स्थल पर रखा रहता है। नौ पात्रों के नाम हैं—ऐन्द्र, वायव्य, मैत्रावरुण, शुक्र, मन्थी, आग्रयण, उक्थ्य एवं ध्रुव।

१—कात्यायन—८।७।९

२—आश्वलायन—५।३।४

शुक्रामन्थि प्रचार—सविधि शुक्र एवं मन्थ नामक सोमरस के पात्र अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता ग्रहण करते हैं। प्रत्येक चमस (चम्मच) उसके अधिकारी ग्रहण करते हैं। सोमरस जिस प्रधान पात्र में रखा जाता है उसका नाम 'द्रोणकलश' है।

शस्त्र एवं स्तोत्र

देवताओं की प्रशंसा में या देवताओं को प्रसन्न करने के लिये जो स्तुति की जाती है उसे शस्त्र या स्तोत्र कहते हैं। शस्त्र का सस्वर पाठ नहीं होता, वरन् पाठ (वाचन) मात्र होता है, जब कि स्तोत्र का सस्वर पाठ या गान किया जाता है। स्तोत्र के बाद शस्त्र का पाठ किया जाता है। अग्निष्टोम में बारह-बारह स्तोत्र एवं शस्त्र हैं।

सोमलता या सोम क्या था ?—

सोम यज्ञों में अग्निष्टोम का सर्वाधिक महत्त्व है। सोमलता की प्रशंसा में अनेक सूक्त[1] प्रस्तुत किये जा सकते हैं। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सोमलता का आधुनिक नाम क्या है ? पूना के समीप 'रानशेर' नामक एक वनस्पति मिलती है जिसे सोमवल्ली कहते हैं। दक्षिण में सोमयाग के समय सोमलता के स्थान पर रानशेर का ही प्रयोग किया जाता है। इसका कद ४ हाथ के लगभग होता है। हाथ की अंगुलियों जैसे मोटी इसकी शाखा होती है। हरे रंग का यह पौधा होता है, जिसकी पत्तियों का रस कषाय होता है। पाने से नशा नहीं आता।

आश्वलायन श्रौतसूत्र में सोमवल्ली के अभाव में पूतिक या फाल्गुन नामक वनस्पति का उपयोग करने की बात है।

पर्वतावृध और गरिष्ठ नामों से अभिहित करने के कारण लगता है कि सोमलता पर्वत के ऊपर समतल भूमि में मिलती होगी। ऋग्वेद में मूजवान्, शर्यणावत, आर्जीकीया, सुषोमा, सिन्ध में सोम के स्थान बतलाये गये हैं। मूजवान तो हिमालय का ही एक पर्वत है। मूजवत् में सोम उत्पन्न हुआ, इससे सोम का 'मौजवत' नाम पड़ा। यह पर्वत नेपाल में है, जहाँ से वाग्मती नदी निकलती है। यहीं पर वाग्मती और चन्द्रभागा का संगम होता है।

१—ऋग्वेद १०।८५।१, ५।५१।१५, १०।८५।१९, ८।९४।३, १०।१२।७ एवं १०।६८।१० आदि।

शर्यणावत् (शर्यण) कुरुक्षेत्र के पास उस पिछले हिस्से में एक झील है, या उसके पास का स्थान है सायण और पिशल का यही मत है। वस्तुतः शर्यणावत् एक पर्वत है जो शर्यण नामक देश के समीप है और कुरुक्षेत्र के पश्चिमार्ध में है। आर्जीकोया व्यास नदी का नाम है। सुषोमा सिन्धु नदी का नाम है। सिन्धु नदी के तट पर सुन्दर सोम पैदा होने से इसका नाम सुषोमा पड़ा होगा।[1]

सोम के अन्य नामों में दिवःपुत्र, दिवः शिशु या पर्यन्य (पर्यन्य) पुत्र भी प्रसिद्ध हैं। द्युलोक से पर्यन्य के द्वारा सोम पृथिवी पर आया।[2] छान्दोग्य उपनिषद् ने सोम का अर्थ चन्द्र किया है। कौषीतकि ब्राह्मण में आया है कि यज्ञ में जो सोम रस निकाला जाता है, वह चन्द्रमा के प्रतीक के रूप में लिया जाता है। चन्द्रमा और सोम का अभेद उत्तरकालीन साहित्य में पाया जाता है।

यह विचारणीय विषय है कि ईरान के 'हउमा' (जिसकी अवेस्ता में प्रशंसा है) को ही सोम माना जाता था या किसी अन्य पेय को सुश्रुत सोमलता में १५ पत्ते बतलाते हैं। यह पानी पर तैरने वाला, वृक्षों पर लटकने वाला एवं भूमि से उगने वाला माना गया है। ब्लावस्की के मत से वेद का सोम बाइबिल का ज्ञान-वृक्ष (Tree of Knowledge) है। यह आश्चर्य है कि शक्ति समृद्धि एवं स्वर्ग प्राप्ति का श्रोत सोमरस (श्येनामृत) मूल रूप में अप्राप्य है।

अन्य सोमयज्ञ—उक्थ्य अग्निष्टोम के स्तोत्रों एवं शस्त्रों के अतिरिक्त तीन उक्थ्यस्तोत्रों एवं उक्थ्यशस्त्रों का गायन वाचन होता है। इस याग में बकरा के साथ बकरी की भी बलि दी जाती है।[3]

षोडशी—उक्थ्य सोमयाग के १५ स्तोत्रों एवं शस्त्रों के अतिरिक्त षोडशी स्तोत्र एवं शस्त्र का गायन होता है। इन्द्र को मेष (भेड़ा) की बलि दी जाती है।[4]

अत्यग्निष्टोम

इन्द्र के लिये एक अतिरिक्त पशु की बलि दी जाती है। षोडशी स्तोत्र का गायन होता है, पात्रों की संख्या भी षोडस कर दी जाती है। अन्य विधियाँ अग्निष्टोम के समान होती हैं।

१—सुषोमा सिन्धुर्यदेनामभि प्रसुवन्ति नद्यः,' निरुक्त

२—ऋग० ९।६१।१०

३—ऐतरेय ब्रा० १४।३, शतपथ ब्रा० ९।७, आपस्तम्ब १४।१

४—आश्वलायन ६।२-३ ऐतरेय ब्रा० १९।१-४

अतिरात्र—इसमें २९ स्तोत्र एवं २९ शस्त्र होते हैं। सोमरस निकालने के दिन सरस्वती को एक भेड़ या भेड़ा की बलि दी जाती है। यह याग एक दिन एवं रात्रि में सम्पादित होता है अतः इसे अतिरात्र की संज्ञा दी गई है। इसका विशद् वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण, आपस्तम्ब एवं आश्वलायन श्रौतसूत्रों में उपलब्ध है।

आप्तोर्याम—इसमें कुल ३३ स्तोत्र एवं ३३ शस्त्र का गायन, वाचन होता है। अभिकांक्षित वस्तु की प्राप्ति इस याग से होती है। इसलिये आप्तोर्याम (आप् धातु) नाम पड़ा।[1] यह अतिरात्र के समान है।

वाजपेय—तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में उल्लिखत है कि **"वाजाप्यो वा एषः", वाजं ह्येतेन देवा ऐप्सन्। सोमो वै वाजपेयः, अन्नं वै वाजपेयः',**।

शांखायन श्रौतसूत्र के अनुसार "पानं वै पेयाः। अन्नं वाजः। पानं वै पूर्वमथान्नम्। तयो रूभयोराप्त्यै" इत्यादि वाजपेय का प्रचलित अर्थ है। यह यज्ञ सोमयज्ञ का ही एक भेद है। इसमें भी सोमरस का पान किया जाता है। 'शक्ति का पीना' या "पेय का पीना" यह प्रतीकात्मक अर्थ है। वस्तुतः भोजन करने की शक्ति या अन्न की शक्ति इस यज्ञ से प्राप्त की जाती थी। ज्योतिष्टोम एवं षोडशी की विधियाँ इस यज्ञ में भी की जाती हैं। अतः ज्योतिष्टोम का ही दूसरा रूप इस यज्ञ को कह सकते हैं। इस यज्ञ की प्रमुख विशेषता है—१७ पशुओं की बलि प्रजापति को दी जाती है। जिस खूँटे (यूप) में बाँधकर पशुबलि का कृत्य किया जाता था, उसकी लम्बाई १७ अरत्नि ही होती है। दक्षिणा में भी १७ वस्तुएँ दी जाती हैं। यूप में वस्त्र के १७ टुकड़े बाँधे जाते हैं। आपस्तम्ब[3] एवं आश्वलायन[4] आदि के अनुसार यह यज्ञ १७ दिनों तक चलता भी है। वाजपेय यज्ञ स्वाराज्य, आधिपत्य एवं समृद्धि के अभिलाषी क्षत्रिय करते थे। यज्ञ में १७ रथ अश्व के साथ घुड़दौड़ के लिये रखे जाते थे। मंगल ध्वनि के लिये १७ नगाड़े या ढोलक रखी जाती थी, जिन्हें एक साथ बजाया जाता था। प्रजापति को १७ पेय पात्रों में सुरा एवं १७ पेयपात्रों में सोमरस दिया जाता है। स्तोत्रों एवं शस्त्रों की संख्या इस यज्ञ में १७ ही होती है। इस प्रकार १७ संख्या का सर्वाधिक महत्व

१—ताण्ड्य ब्राह्मण २०।३।४-५
२—तैत्तिरीय ब्राह्मण-१,३४२
३—आपस्तम्ब—१८।१।१-१२
४—आश्वलायन—९।९।२-३

इस यज्ञ में परिलक्षित होता है। सत्रह पात्रों में बृहस्पति के लिये चावल पकाकर रथ-दौड़ के पूर्व रखा जाता है। इन सभी पात्रों को घोड़े सूँघ लेते हैं। चत्वाल एवं उत्कर के बीच से राजपुत्र एक तीर छोड़ता है, वह तीर जहाँ गिरता है, वहाँ उदुम्बर की एक टहनी गाड़कर चिह्न बना दिया जाता है। यहीं से रथदौड़ का कार्य शुरू होता है। इस चिह्न से दूसरा तीर छोड़ा जाता है, वह जहाँ गिरता है, वहाँ से तीसरा तीर छोड़ा जाता है। इस भाँति १७ तीर छोड़े जाते हैं। अन्तिम तीर के गिरने तक की दूरी ही रथ दौड़ के काम में लायी जाती है। रथ दौड़ कार्य आरम्भ होते ही १७ ढोलकों की मंगल ध्वनि से वातावरण गूँज उठता है। लक्ष्य तक पहुँच कर रथ यज्ञ स्थल तक लौट आते हैं।

आश्वलायन के अनुसार वाजपेय यज्ञ के उपरान्त राजा राजसूय करता है एवं ब्राह्मण बृहस्पतिसव का कृत्य करें। बृहस्पतिसव एक एकाह यज्ञ है। आधिपत्य एवं ब्रह्मचर्य (आध्यात्मिक प्रतिष्ठा या राजपुरोहित का पद) की उपलब्धि की अभिलाषा से यह यज्ञ किया जाता है[1]। जैमिनि ने बृहस्पतिसव को वाजपेय का ही एक अंग माना है।

एकाह यज्ञ—अग्निष्टोम, बृहस्पतिसव, गोसव, श्येन, उद्भिद्, विश्वजित्, व्रात्यस्तोम आदि यज्ञों में सोमरस एक ही दिन तीन बार (प्रातः, मध्याह्न एवं सायं) पीया जाता है इसलिये इनको एकाह कहते हैं।

अहीन—जिस यज्ञ में दो से बारह दिनों तक सोमरस निकाला जाता है, उसे अहीन यज्ञ कहते हैं। गर्गत्रिरात्र, पञ्चरात्र (पञ्चशारदीय) अश्वमेध एवं द्वादशाह आदि यज्ञों को अहीन कहा जाता है।

विश्वजित्—यह यज्ञ विश्व जीतने की अभिलाषा से या विश्व-मैत्री-भाव की प्राप्ति के लिये एक दिन में किया जाता था। यजमान अपने ज्येष्ठ पुत्र के हिस्से को छोड़कर अपनी सारी सम्पत्ति दान दे देता है। तीन-तीन दिनों तक यजमान उदुम्बर वृक्ष के नीचे, निषादों की बस्ती में, वैश्यों की बस्ती में, क्षत्रियों की बस्ती में, निवास करता है। वर्षभर उसे जो भी वस्तु दी जाय स्वीकार करता है, किन्तु भिक्षा वृत्ति नहीं अपनाता है।

१—तैत्तिरीय ब्राह्मण—२।७।१, आपस्तम्ब—२२।७।५, आश्वलायन—९।५।२।

गोसव—यज्ञोपरान्त यजमान वर्षपर्यन्त पशु की भाँति आचरण करता है। जल पीना, घास चरना आदि कर्म पशुवत् होते थे।[१]

शुनः कर्णोऽग्निष्टोम या सर्वस्वार—इस यज्ञ में यजमान स्वर्गप्राप्ति की कामना से अपने आपको भी अग्निदेव की गोद में समर्पित कर देता है। यज्ञ की समाप्ति ही यजमान के अग्नि प्रवेश से होती है।[२]

सत्र—यह यज्ञ ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित होता है। इसकी अवधि लम्बी होती है। एक वर्ष या उससे भी अधिक काल तक चलता है। पुरोहित भी यजमान की तरह आचरण करता है। दोनों में अन्तर नहीं होता है। इस कारण पुरोहित को दक्षिणा के नाम पर कुछ नहीं दिया जाता है। वैदिक वाङ्मय में 'उपयन्ति' एवं 'आसते' शब्द सत्र के लिये आये हैं।[३]

द्वादशाह—बारह दिनों तक चलने वाले यज्ञ का नाम द्वादशाह है। यह अहीन एवं सत्र दोनों हैं। भरत-द्वादशाह यज्ञ उनमें से एक है। द्वादशाह यज्ञों में अन्तिम कृत्य अतिरात्र होता है।

राजसूय—कात्यायन के अनुसार यह यज्ञ वाजपेय यज्ञ के पूर्व होना चाहिए। आश्वालायन के मत से वाजपेय के बाद राजसूय यज्ञ किया जाता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति शबर के अनुसार—"राजा तत्र सूयते तस्माद् राजसूयः" है। जैमिनि की टीका में सोम को 'राजा' कहा गया है और राज्ञो वा यज्ञो राजसूयः का उल्लेख है।[४] जैमिनि (११।२।१२) की व्याख्या में शबर ने "राजसूयेन स्वराज्यकामो यजेत" का उल्लेख किया है।[५] "अर्थात् स्वराज्य एवं आधिपत्य की कामना से राजसूय यज्ञ करना चाहिए। यह यज्ञ विभिन्न इष्टियों का समाहार है। इसमें एक लम्बी अवधि (दो वर्ष से भी अधिक) लगती है। इस यज्ञ में दो प्रमुख कृत्य हैं, यथा—'पवित्र' नामक यज्ञ, इसके एक वर्ष बाद 'अभिषेचनीय कृत्य' किया जाता है। इन दोनों कृत्यों के बीच में अनेक इष्टियाँ एवं विधियाँ सम्पादित होती हैं।

१—तेनेष्ट्वा संवत्सरं पशुव्रतो भवति। उपावहायोदकं पिबेत्तृणानि चाच्छिन्द्यात् उपमातरमियादुप स्वसारमुप सगोत्राम्—(आप० २२।१३।१-३)

२—जैमिनि—१०।२।५७-६१

३—कात्य यत्त १२—।१-४

४—जैमिनि—४।४।१ की टीका

५—तथो एवैतद्यजमानो यद्राजसूयेन यजेत सर्वेषां राज्यानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति (शांखायन-१५।१३।१)

अभिषेचनीय कृत्य राजसूय का एक प्रमुख अंग माना जाता है। अभिसिंचन कृत्य के लिये उपयुक्त तिथि चैत्रमाह की प्रथम तिथि है। अभिसिंचन के लिये १७ प्रकार का जल, १७ औदुम्बर पात्रों में लाया जाता है, यथा—सरस्वती नदी का जल, उस नदी का जल जिसकी धारा सूखती नहीं हो, जब मनुष्य या पशु किसी नदी में प्रवेश करें और जल में हलचल उत्पन्न हो वैसा चंचल जल, नदी की विपरीत दिशा के बहाव का जल, समुद्र-जल, समुद्र की लहरों का जल, भ्रमर से उत्पन्न जल, खुले आकाश के नीचे गम्भीर एवं स्थिर (शान्त) जलाशय का जल, पृथिवी पर गिरने से पूर्व वर्षा का जल जिसपर सूर्य की किरणें पड़ती हों। झील का जल, तुषार-जल एवं कूप-जल आदि इन पवित्र जलों[1] से यजमान का अभिसिंचन कृत्य किया जाता है।

अभिषेचनीय कृत्य के दस दिन बाद दशपेय कर्म किया जाता है। इससे १० ब्राह्मण पहले, १० चमसों से सोमरस का पान करते हैं। तत्पश्चात् ९० अनुप्रसर्पकों का भी, उपर्युक्त १० ऋत्विक् दस-दस पूर्वजों के लिये, पान करते हैं। राजसूय यज्ञ के लिये प्रभूत दक्षिणा का विधान श्रौतसूत्रों में मिलता है। आचार्य, ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता, उद्गाता, प्रतिप्रस्थाता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता, अच्छावाक्, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रतिहर्ता, ग्रावस्तुत, पोता, उन्नेता एवं सुब्रह्मण्य इन १७ यज्ञ कर्त्ताओं को भिन्न-भिन्न संख्या में कुल २ लाख ४० हजार गायें दी जाती हैं। ऐसा लगता है कि इतनी गायों को न देकर राजा गायों का मूल्य प्रदान करता होगा। उदाहरण-स्वरूप एक ब्रह्मा को ३२ हजार गायें दक्षिणा में मिल जाय तो पालन-पोषण की विकट समस्या उत्पन्न हो सकती थी। गायों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की सामग्रियाँ दान एवं दक्षिणा के रूप में दी जाती थीं।

राजसूय यज्ञ का समापन अवभृथ स्नान से होता था। इस स्नान के बाद भी वर्ष पर्यन्त कुछ आवश्यक नियमों एवं व्रतों का पालन राजा एवं उनकी प्रजा को करने पड़ते थे। इस प्रकार राजसूय यज्ञ की समाप्ति के साल भर बाद भी कुछ कृत्य किये जाते हैं, यथा—केशवपनीय कृत्य, (साल भर का रखा हुआ केश विधि पूर्वक काटा जाता है), द्विरात्र (समृद्धि के लिये अतिरात्र के समान एक यज्ञ), व्युष्टि (अग्निष्टोम के समान एक यज्ञ), क्षत्र-धृति (शक्ति को स्थिर रखने के लिये एक कृत्य जो अग्निष्टोम की विधि के अनुसार किया जाता है) एवं त्रैधतवी (चावल,

१—कात्यायन० १५।४।२१, आपस्तम्ब० १८।१४।१-१८,

जौ के मिश्रित आटे की रोटी की आहुति)। राजसूय यज्ञ के उपर्युक्त कृत्य भी अंग माने जाते हैं। अतः सभी कृत्य करने के बाद एक राजसूय सम्पन्न माना जाता था। शांखायन[1] ने उल्लेख किया है कि क्षत्र-धृति कृत्य न करने के कारण कुरु राजाओं को प्रत्येक युद्ध में हार खानी पड़ी थी।

सौत्रामणि यज्ञ

'सुत्रामन्' इन्द्र की एक उपाधि है। जिसका अर्थ एक 'योग्य रक्षक' होता है। शतपथ ब्राह्मण में इस शब्द की व्युत्पत्ति दी गई है कि "वह जो अश्विनी कुमारों द्वारा अच्छी तरह बचाया गया है।[2] ऋग्वेद में[3] 'सुत्रामन्' की चर्चा इन्द्र के लिये हुई है। अतः सुत्रामन् से ही सौत्रामणि शब्द प्रचलित हुआ होगा। यह एक 'हविर्यज्ञ' है। शतपथ के अनुसार यह इष्टि एवं पशुयाग का विचित्र सम्मिश्रण है।

इस यज्ञ के दो भेद हैं—(१) कौकिली (२) चरक सौत्रामणि। कौकिली सौत्रामणि में साम मन्त्रों का गायन किया जाता है। चरक सौत्रामणि साधारण सौत्रामणि है जिसका सम्पादन प्रायः राजसूय यज्ञ के एक माह बाद किया जाता है। इस यज्ञ में ३ दिनों तक भिन्न-भिन्न प्रकार की सुरा बनाई जाती है। आजकल सुरा को जगह दूध का प्रयोग किया जाता है। चार दिनों के इस कृत्य में तीन प्रधान देवता होते हैं। जिन्हें अलग-अलग बलि दी जाती है, यथा—(१) अश्विनी कुमारों को भूरे रंग का बकरा, (२) सरस्वती के लिये भेड़ (३) सुत्रामा या इन्द्र के लिये एक बैल।[4] अभाव में तीनों के लिये बकरे की बलि दी जाती है।

अधिक सोमरस पीने के कारण जो अस्वस्थ हो जाय या जो राजसूय यज्ञ के बाद अग्निचयन कृत्य का सम्पादन करते हैं। उनके लिये सौत्रामणि यज्ञ किया जाता है। सम्पत्ति के अभिलाषी, अपहृत राज्य वाले, पशुधन की वृद्धि चाहने वाले कौकिली सौत्रामणि (स्वतंत्र कृत्य) का सम्पादन करते हैं।[5]

१—शांखायन श्रौतसूत्र—१५।१६।१-११.
२—शतपथ ब्राह्मण–५।५।४।१२
३—ऋग्वेद १०।१३१।६-७
४—शतपथ ब्राह्मण ५।५।४ एवं १२।७।२,
कात्यायन० १५।९।२८-३०, १९।१-२
आश्वलायन० ३।९।२
५—कात्यायन १९।१।२-४

अश्वमेध यज्ञ

ऋग्वेद में अश्वमेध यज्ञ की चर्चा है।[1] अश्वमेध का अश्व स्वर्ग जाता था। अश्वमेध का मांस उखा नामक पात्र में पकाया जाता था[2]। मांस की हवि अग्नि को दी जाती थी[3]। ऋग्वेद अश्व को आदित्य, त्रित एवं यम के समान मानता है।[4] शतपथ ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण[5] में अश्वमेध यज्ञ सम्पादन करने वालों का नाम उल्लिखित है। अश्वमेध राज्य या राष्ट्र का प्रतीक माना जाता था। अश्व को शत्रु द्वारा पकड़ लेने से यज्ञ नष्ट हो जाता था[6]। अपार सम्पत्ति को पाने के लिए विजयाभिलाषी (इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये भी), सार्वभौम राजा बनने के लिये या बनने के बाद अश्वमेध यज्ञ किया जाता था।[7] फाल्गुन ज्येष्ठ या आषाढ़ महीनों की अष्टमी एवं नवमी तिथियों को यह यज्ञ किया जाता था।[8] आपस्तम्ब चैत्र पूर्णिमा को उपयुक्त तिथि मानते हैं।[9]

ब्रह्मौदन क्रिया से यह यज्ञ आरम्भ होता है। चार पात्रों में से चार मुट्ठी चावल पकाया जाता है। घृत मिश्रित परिपक्व चावल का ही नाम ब्रह्मौदन है जिसे चार प्रमुख पुरोहितों को दिया जाता है। इसके बाद अनेक इष्टियाँ एवं कृत्य किये जाते हैं। राजा के साथ रानियाँ भी कृत्य में भाग लेती हैं। शतपथ ब्राह्मण एव कात्यायन आदि ब्राह्मण एवं श्रौतसूत्र ग्रन्थ इस यज्ञ का सविस्तार वर्णन करते हैं।

१—ऋग्वेद–१।१६२।२-३, १।१६३।११

२—ऋग्वेद १।१६२।१३

३—ऋग्वेद १।१६२।१९

४—ऋग्वेद १।१६३ ३

५—शत० १३।१-५, तैत्ति० ३।८-९

६—राष्ट्रं वा अश्वमेधः। यदमित्रा अश्वं विन्देरन् हन्येतास्य यज्ञः। तै० ब्रा० ३।८।९

७—स य इच्छेदेवंवित् क्षत्रियमयं सर्वा जितीर्जयेतायं सर्वांल्लोकान्विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत् साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादा परार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाभिषिञ्चेत्। ऐ० ब्रा० ३९।१

८—कात्यायन० २०।१।२-३, कात्यायन० ९।९।६-७

९—आपस्तम्ब-२०।१।४

अश्व को मेखला पहनाकर मन्त्र पूत जल से अभिषिक्त एवं उपाधि धारण करने के बाद ४०० अंगरक्षकों के साथ छोड़ दिया जाता है।[1] रक्षकों में सौ राजकुमार होते हैं, जो राजा के साथ बैठकर परामर्श कर सकते थे। शस्त्र से सम्पन्न रक्षक अश्व अपनी विजयश्री के रूप में आगे छोड़ देते थे और देश-विदेश में शत्रु से उसकी रक्षा हेतु भ्रमण करते थे। एक साल तक अश्वभ्रमण करता था। अश्व के लौटने तक राजा प्रतिदिन सविता के लिये तीन इष्टियाँ करता रहता था। अश्वमेध काल में अध्वर्यु ही राजा माना जाता है। प्राचीन काल में राजा ही स्वयं घोषणा करता था कि ब्राह्मण एवं सामन्त आप लोग जो सम्मान मुझे देते हैं वह अध्वर्यु को ही दें क्योंकि वह ही राजा है।[2]

यदि अश्वमेध की समाप्ति के पूर्व ही अश्व मर जाय तो शुद्धि के अनेक नियम कात्यायन आदि सूत्रकार बतलाये हैं। वर्ष के बाद अश्व अश्वशाला में लाया जाता था। राजा को दीक्षा दी जाती थी एवं अन्य कृत्य सम्पादित किये जाते थे। यज्ञ का अश्व कई कृत्यों से पवित्र बनाया जाता है। राजा, अपनी पटरानी, वावाता एवं परिवृक्ता के साथ अश्व की स्तुति करते हैं। अश्व के वध होने पर शव को रानियाँ अपने वस्त्रों से हवा देती हैं। पटरानी मृत अश्व के पार्श्व में लेट जाती है, अध्वर्यु इन्हें चादर से ढक देता है। कात्यायन एवं आपस्तम्ब[3] के अनुसार यह अश्व के साथ सम्मिलन की विधि है। आश्वलायन के अनुसार पटरानी एवं होता के बीच अश्लील शब्दों का प्रयोग होता है। इसी प्रकार अन्य रानियों के साथ अन्य ऋत्विग् अश्लील शब्दों का आदान-प्रदान करते हैं। अश्वमेध में सोमरस भी निकाला जाता है। अनेक प्रकार के दानों एवं दक्षिणाओं का उल्लेख भी सूत्रग्रन्थों में है।

ब्राह्मणग्रन्थों एवं संहिता ग्रन्थों[4] के आधार पर यह एक उत्सन्न (जिसका प्रचलन अब न हो) यज्ञ है। अथर्ववेद[5] ने कई यज्ञों को उत्सन्न माना है उनमें अश्वमेध भी है।

१—वाजसनेयी संहिता २२।१९

२—आश्वलायन. १०।७।१-१०
आपस्तम्ब—२०।३।१-१

३—आपस्तम्ब—२२।१८।३-४, कात्या० २०।६।१५-१६,

४—शतपथ ब्राह्मण—५।३।५।६
तैत्तिरीय संहिता—५।४।१२।३

५—अथर्ववेद—९।७।७-८

महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में इस यज्ञ का वर्णन आया है। युधिष्ठिर ने अश्वमेध किया, अर्जुन पर अश्वरक्षा का भार था। मृत अश्व के बगल में द्रौपदी सोयी थी।[1]

रामायण में भी दशरथ द्वारा पुत्रोत्पत्ति हेतु सम्पादित अश्वमेध का वर्णन है।[2] चालुक्य राजा पुलकेशी ने भी इस यज्ञ को किया था[3], १८ वीं शदी में आमेर (जयपुर) के राजा जयसिंह ने अश्वमेध यज्ञ किया था।[4]

सत्र

दीर्घकाल तक चलने वाले यज्ञ सत्र कहलाते हैं। रात्रिसत्रों एवं सांवत्सरिक सत्रों के रूप में इनके दो विभाग हैं। त्रयोदश रात्र से लेकर शतरात्र के सत्रों का उल्लेख कात्यायन आदि श्रौतसूत्रकारों ने किया है। कात्यायन ने एक वर्ष से अधिक अवधि वाले सत्रों का उल्लेख किया है, यथा—आदित्यानामयन (आश्व० १२।१।१), अंगिरसामयन, कुण्डपायिनामयन, सर्पाणामयन, त्रैवार्षिक, द्वादश वार्षिक, षट्त्रिंशद्वार्षिक, शतसंवत्सर एवं सहस्र संवत्सर, सारस्वत[5]। यहाँ सम्भव नहीं है कि सभी सत्रों का परिचय दिया जा सके।

गवामयन (गवाम् अयन)—सभी सत्रों की प्रकृति द्वादशाह की होती है।[6] सन्तति, सम्पत्ति, उच्चपद, स्वर्ग आदि के लिये यह सत्र किया जाता है। इसमें यजमान ही पुरोहित का कार्य करते हैं। सत्र में न वरण होता है, न दान-दक्षिणा दी जाती है।[7] एक साथ मिलकर भी सत्र सम्पादित हो सकते थे। उनकी संख्या कम से कम १७ एवं अधिक से अधिक २४ हो सकती थी। सत्र काल में कोई मर जाय तो उसका प्रतिनिधि बैठता था। प्रत्येक यजमान का अलग-अलग यज्ञ पात्र होता था। यजमानों में कोई एक गृहपति बन जाता था। सत्र काल तक कुछ आवश्यक नियम पालन करने पड़ते हैं। देव, पितृ यज्ञ, अग्निहोत्र न करना,

१—आश्वमेधिक पर्व ९।२-?,
२—वा० रामायण—बालकाण्ड, १३।१४
३—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द १०, कलिसा ६३
४—पूना ओरियण्टलिस्ट, जिल्द २, पृ० १६६-८०
५—आश्वलायन-१२।५।१८
६—आश्वलायन ७९।१।७
७—जैमिनि—६।४५।५०-५९

सम्भोग न करना, दौड़कर न चलना, दाँत दिखाकर न हसँना, नारी से वार्तालाप न करना, अनार्यों से बात न करना। जल में डुबकी नहीं लगाना, सत्र करने वाला (सत्री) नाचना, गाना, बजाना आदि कार्यों से दूर रहता है। सत्र कृत्य के अन्तिम दिन से एक दिन पूर्व 'महाव्रत' नामक विचित्र कृत्य किया जाता है। यह प्रजापति के लिये किया जाता है। महान् शब्द से प्रजापति का ही बोध होता है। 'महाव्रत' को लौकिक कृत्य ही कहा जा सकता है। इस अवसर पर सत्र में जो लोग हवनादि कर्म करते हैं, उनको गालियाँ दी जाती हैं। आर्य एवं शूद्र के बीच युद्ध का नाटक किया जाता है। इस नाटकीय खेल में आर्य की विजय होती है। प्रजापति को प्रसन्न करने के लिये सृष्टि का खेल भी किया जाता है।

लम्बे-लम्बे सत्र व्यवहार में कब लाये जाते थे कहना मुश्किल है। पतंजलि[1] ने अपने महाभाष्य में दीर्घकालीन सत्रों को ऋषी परम्परा का प्रतीक माना है। इन सत्रों में सारस्वत सत्र अत्यन्त पवित्र माना जाता है। सरस्वती नदी के तट पर इसका सम्पादन किया जाता हैं।

अग्निचयन—बहुत प्राचीन काल में यह एक स्वतंत्र कृत्य था। बाद में इसकी गणना सोमयज्ञ के अन्तर्गत की जाने लगी। जैमिनि[2] ने इसे 'अग्नि का संस्कार' माना है, अर्थात् यह एक स्वतंत्र यज्ञ नहीं है। शतपथ ब्राह्मण के १४ भागों में से ५ भागों में अग्निचयन का ही विशद् वर्णन है। यह कठिन कृत्य सृष्टि-निर्माण के प्रतीक के रूप में प्रतीत होता है। अग्नि को प्रजापति के रूप में, जीवन के मूल आधार के रूप में एवं सभी क्रियाओं का केन्द्र रूप मानकर पूजने की शिक्षा श्रौतसूत्र देते हैं।

इस कृत्य में विभिन्न प्रकार के ईंटों के द्वारा वेदी का निर्माण किया जाता है। दस हाथ लम्बी एवं चौड़ी वेदी को 'आत्मा' नाम से अभिहित करते हैं। दक्षिण एवं उत्तर छः-छः हाथ का चबूतरा 'दक्षिण पक्ष' एवं 'उत्तर पक्ष' कहलाता है। पश्चिम में ५½ हाथ का चबूतरा 'पुच्छ' कहलाता है। वेदिका के पाँच स्तर होते हैं। प्रथम, तृतीय एवं पंचम स्तर द्वितीय एवं चतुर्थ से भिन्न होते हैं। वेदी का स्वरूप दोने (द्रोण) के समान या रथ-चक्र, श्येन (बाज पक्षी), कंक या सुपर्ण

१—महाभाष्य, भाग १, पृ० ९

२—जैमिनि ३।३।२१-२२

(गरुड़) के आकार का होता है।[१] त्रिकोणाकार, आयताकार, वर्गाकार आदि कई प्रकार की ईंटें प्रयोग में लायी जाती हैं। प्रत्येक प्रकार की ईंटों के अलग-अलग नाम एवं नाप होते हैं, यथा—यजुष्मती, वालखिल्य आदि। सत्याषाढ[२] के मत से वेदिका के प्रत्येक स्तर में २०० ईंटें लगती हैं। शतपथ एवं कात्यायन[३] के अनुसार पाँच स्तरों में कुल ईंटों की संख्या १०,८०० होती हैं। वेदी-निर्माण-अवधि के विषय में भी मत मतान्तर हैं। आपस्तम्ब आदि सूत्रकार ५ दिनों में वेदी का निर्माण करने की शिक्षा देते हैं।[४]

वेदिका के निर्माण के बाद उस पर आहवनीय अग्नि की प्रतिष्ठा की जाती है। अनेक प्रकार के मंत्रों से अनेक आहुतियाँ दी जाती हैं, जिसका विशद् विवेचन कात्यायन श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र एवं सात्याषाढ श्रौतसूत्र में उपलब्ध है।

सम्पत्ति, वेद-ज्ञान और सन्तान आदि के लिये यह चयन कृत्य किया जाता था।[५] इस कृत्य के करने वाले शास्त्र द्वारा निर्धारित व्रतों एवं नियमों का पालन भी करते थे।

श्रौत यज्ञों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान हेतु कात्यायन श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र , सत्याषाढ श्रौतसूत्र, आश्वलायन श्रौतसूत्र, बौधायन श्रौतसूत्र एवं शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

स्मार्तयज्ञ

जैन एवं बौद्धधर्म के धार्मिक आन्दोलनों से अहिंसा का सामाजिक महत्व बहुत बढ़ गया। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इस प्रमाण को जन साधारण मानने को तैयार न था। फलस्वरूप श्रौत यज्ञों का अधिक स्थान स्मार्त यज्ञों ने ले लिया। पुराणों में यज्ञान्तर्गत पशुहिंसा का भी विरोध परिलक्षित होने लगा, यथा—

यज्ञं कृत्वा पशुं हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गो नरकः केन गम्यते ?।।

—(पद्मपुराण-सृष्टिखं० १३।३२३)

१—तै० सं० ५।४।११, कात्यायन० १६।५।९

२—सत्याषाढ ११।५।२२

३—कात्यायन १७।७ २१ २३

४—आपस्तम्ब १७।११-११, १७।२।८, सत्याषाढ १२।१।१

५—आपस्तम्ब १८।२४।१

पशु मार कर, रुधिर का कीचड़ कर एवं यज्ञ करके यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो नरक में कौन जाता है ? भागवत पुराण भी यज्ञ में पशुहिंसा को वेदविरुद्ध बतलाता है, यथा—

यजन्त्यसृष्टान्न विधानदक्षिणम् ।
वृत्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥

—(भागवत ११।५।८)

अर्थात् जो वेद का रहस्य न समझ सकने के कारण अन्न एवं दक्षिणा से रहित यज्ञ कर अपनी तृप्ति के लिये पशु-बध करते हैं, उसे वेद विहित कहते हैं। विष्णु सिद्धान्त ने तो हिंसा वाले सभी यज्ञों को कलियुग में निषिद्ध घोषित कर दिया, यथा—

अन्ये हिंसात्मका यज्ञाः कलौ सर्वे विवर्जिताः ।

—(विष्णुसिद्धान्त)

इस तरह के वाक्य जन समुदाय को हिंसा के कारण यज्ञों से विमुख न होने के लिये ही कहे गये। इसी कारण कलियुग में महारुद्र, अतिरुद्र, लक्षहोम, कोटि-होम और विष्णु याग का अनुष्ठान करना क्रमशः श्रेष्ठ माना गया है, यथा—

महारुद्रोऽतिरुद्रश्च लक्षहोमस्ततः परम् ।
कोटिहोमस्ततः पश्चाद्विष्णुयागः प्रशस्यते ।
एते पञ्चमहायज्ञाः कलौ कार्याः द्विजातिभिः ।

—(विष्णुसिद्धान्त)

हिंसा के कारण श्रौत यज्ञों का प्रचलन महान् राजाओं के श्रद्धानुकूल सीमित हो गया, परन्तु पौराणिक धर्म के प्रसार से स्मार्त यज्ञों का प्रचार अधिक हो गया। स्मार्त यज्ञ अनेक प्रकार के हैं। भिन्न-भिन्न देवताओं की विशिष्ट आराधना, अर्चना एवं हवन के कारण स्मार्त यज्ञों के अनेक नाम प्रचलित हैं, यथा—रूद्रयाग, महारूद्रयाग, अतिरूद्रयाग, विष्णुयाग, महाविष्णुयाग, अतिविष्णुयाग, गणेशयज्ञ, रामयज्ञ, शिवशक्तिमहायज्ञ , हरिहरमहायज्ञ, ब्रह्मयज्ञ या प्रजापतियाग, सूर्ययाग शक्तियाग, दुर्गायाग, लक्ष्मीयाग, लक्ष्मीनारायणमहायज्ञ, नवग्रहमहायज्ञ, विश्व-शान्तिमहायज्ञ, इन्द्रयाग या पर्जन्ययाग, गायत्री महायज्ञ, शतचण्डी, सहस्रचण्डी-महायाग आदि।

अधिकांश स्मार्तयज्ञ पाँच, सात, नव या ग्यारह दिनों में होते हैं। आहुतियों की संख्या अनेक पद्धतियों में निर्धारित है, यथा—

	आहुति संख्या	हवनसामग्री	यज्ञ सम्पादन में विद्वानों की संख्या
रुद्रयाग	१९,९२१	११ मन	१६ या २१
महारुद्रयाग	२,१९,१३१	२१ मन	३१ या ४१
अतिरुद्रयाग	२४,१०,४४१	७० मन	६१ या ७१
विष्णुयाग	१६,०००	११ मन	१६ या २१
महाविष्णुयाग	१,६०,०००	२१ मन	३१ या ४१
अतिविष्णुयाग	३,२०,०००	५५ मन	६१ या ७१

इसी भाँति अन्य यज्ञों की भी आहुति संख्या निर्धारित है। कई यज्ञों में एक लक्ष आहुतियाँ दी जाती हैं, यथा रामयज्ञ, गणेशयज्ञ एवं लक्ष्मीयज्ञ आदि। महायज्ञ ९ दिन या ११ दिनों में किये जाते हैं।

मण्डपपूजन एवं प्रधान की आहुति, पूर्णाहुति पर्यन्त प्रतिदिन करनी चाहिए। आवाहित देवताओं का वैदिक मन्त्रों से या नाममन्त्र से हवन करना चाहिए। तत्पश्चात् अग्निपूजन, स्विष्टकृत, नवाहुति, दशदिक्पालादि बलि, पूर्णाहुति और वसोर्धारा निपातन किये जाते हैं।

त्र्यायुष, पूर्णपात्रदान, शय्यादान, प्रधानपीठ, मण्डपसंकल्प, भूयसी, कर्माङ्ग-गोदानादि के पश्चात् अभिषेक, अवभृथस्नान, दक्षिणा, देवविसर्जन, ब्राह्मण भोजन आदि कृत्य किये जाते हैं। प्रायः सभी महत्वपूर्ण यज्ञों में उपर्युक्त कर्म किये जाते हैं।

यज्ञकर्त्ता यज्ञ के निमित्त यज्ञारम्भ से पूर्व उपवास एवं सर्व प्रायश्चित्त के द्वारा शरीर एवं चित्तशुद्धि करते हैं। पञ्चांग पूजन एवं आचार्यादि को वरण करने के पश्चात् मङ्गलध्वनि के साथ यज्ञ मण्डप में पश्चिम द्वार में प्रवेश करना चाहिए। मण्डप में अनेक प्रकार के पूजन किये जाते हैं, यथा—दिग्रक्षण, मण्डपप्रोक्षण, वास्तुपूजन, मण्डपपूजन, न्यास पूर्वक प्रधानपूजन, योगिनीपूजन, क्षेत्रपालपूजन, अरणिपूजन, अरणिमन्थन, पञ्चभूसंस्कार पूर्वक अग्निस्थापन, कुशकण्डिका, ग्रहपूजन, आधार-आज्यभागस्त्याग एवं ग्रहहवन आदि प्रारम्भिक कर्म किए जाते हैं।

स्मार्तयज्ञ निष्काम भाव से करने पर काव्य भाव से श्रेष्ठ माना गया है, यथा—

ये विष्णुभक्ता निष्कामा यजन्ति परमेश्वरम् ।
त्रिसप्तकुल संयुक्तास्ते यान्ति हरिमन्दिरम् ।।

—बृहन्नारद पु० ३९।६१

अर्थात् जो मनुष्य निष्काम भाव से यज्ञ द्वारा परमेश्वर का भजन करते हैं, वे अपनी इक्कीस पीढियों को हरि मन्दिर (देवधाम) में पहुँचा देते हैं ।

आजकल सकाम एवं निष्काम भाव से स्मार्त यज्ञों का यजन करने की परम्परा अधिक दीख पड़ती है । क्योंकि यज्ञ से समस्त लोक सुन्दरता एवं स्वच्छता को प्राप्त करते हैं, देवगण अमरत्व प्राप्त करते हैं । यज्ञ से अनेक प्रकार के पापों से मुक्त होकर प्राणी विष्णुलोक को प्राप्त करते हैं; यथा हारीत के शब्दों में—

यज्ञेन देवा विमला भवन्ति यज्ञेन देवा अमृतत्वमाप्नुयुः ।
यज्ञेन पापैर्बहुभिर्विमुक्तः प्राप्नोति लोकान् परमस्य विष्णोः ।।

इतना ही नहीं, यज्ञ ही भगवान् विष्णु है, विष्णु में ही सब प्रतिष्ठित रहते हैं । यज्ञ के लिये ही देवताओं एवं औषधियों की सृष्टि की गई । ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये ही मनुष्य की सृष्टि की तथा उपदेश दिया कि यज्ञ से सभी का कल्याण होता है । अतः यज्ञ करना चाहिए । यथा—

यज्ञो हि भगवान् विष्णुर्यत्रसर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यज्ञार्थं पशवः स्रष्टा देवास्त्वौषधयस्तथा ।।
यज्ञार्थं पुरुषाः स्रष्टा स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञ परो भवेत् ।।

—विष्णुधर्मोत्तर पुराण १६२।२-३

जो स्पृहा शून्य होकर अर्थात् निष्काम भाव से भगवान् और भगवद्भक्तों को यज्ञ के द्वारा पूजन करते हैं, वे ही अपने चरण रज से समस्त ब्रह्माण्ड को पवित्र करते हैं, यथा—

ये यजन्ति स्पृहा शून्या हरिभक्तान् हरिं तथा ।
त एव भुवनं सर्वं पुनन्ति स्वांघ्रिपांशुना ।।

—(ना० पु० ३९।६४)

यह चिरन्तन सत्य है कि यज्ञ से देवता तृप्त होते हैं एवं देवता फल प्रदान कर मनुष्य को तृप्त करते हैं, यथा—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

—(गीता ३।११)

भगवान् श्रीकृष्ण की उक्ति है कि यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करने पर देवता गण मनुष्यों (यज्ञ कर्त्ताओं) की उन्नति करते हैं। इस परस्पर भाव से कल्याण की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं देवता यज्ञ से सन्तुष्ट होकर विना याचना किये अभीष्ट फल प्रदान करते हैं, यथा—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

—(गीता ३।१२)

वेद में स्पष्ट निर्देश है कि हम हवि देते हैं, देवता हमें फल देते हैं, यथा—

वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो ।
देहि मे ददामि ते नि मे धेहि ने ते दधे ॥

—(शु० य० ३।५०)

अतः इस प्रसंग में महर्षि वसिष्ठ की उक्ति अनुकरणीय है— "जीवानां जीवनार्थाय यज्ञः संक्रियतां बुधैः ।"

अर्थात् प्राणिमात्र के जीवन के लिए बुद्धिमान पुरुष यज्ञ अवश्य करें।

अध्ययन

द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम् ।
ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः ॥

—(गौतमधर्मसूत्र १०।१-३)

वेदाध्ययन करना, यज्ञ करना एवं दान देना ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये आवश्यक कर्तव्य माने गये हैं। वेदाध्यापन, यज्ञ कराना एवं दान लेना ब्राह्मणों के विशेषाधिकार हैं। प्राचीन धर्मग्रन्थों से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ब्रह्मविद्या केवल ब्राह्मणों की ही अपनी सम्पत्ति नहीं थी वरन् अनेक क्षत्रिय राजाओं ने भी इस विद्या का ज्ञान ग्रहण किया एवं ब्राह्मण शिष्यों को भी ब्रह्मविद्या की शिक्षा प्रदान की। विदेह राजा जनक से महर्षि याज्ञवल्क्य ने,[1] काशी राज अजातशत्रु से

१—शतपथ ब्राह्मण ६।२१।५

बालाकि गार्ग्य ने,[१] प्रवाहण जैवलि से श्वेतकेतु आरुणेय ने,[२] केकयराज अश्वपति से पंचब्राह्मणों ने[३] ब्रह्म ज्ञान प्राप्त किये थे। अतः ब्रह्मविद् के रूप में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों विख्यात थे।

निरुक्त में विद्यासूक्त के अन्तर्गत चार मन्त्र हैं, प्रथम मन्त्र के अनुसार विद्या ब्राह्मणों के पास आयी और सम्पत्ति के समान अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना की! इसका आशय है कि ब्रह्मविद्या ब्राह्मणों की सम्पत्ति है जिसकी रक्षा न केवल ब्राह्मण अपितु क्षत्रिय भी अनादि काल से करते आ रहे हैं। महर्षि मनु ने वेदाध्ययन करना परमधर्म घोषित किया है। बिना किसी लोभ के वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन ब्राह्मण धर्म कहा गया है।[४]

याज्ञवल्क्य[५] ने वेदों की रक्षा के लिये ही विधाता द्वारा ब्राह्मणों की उत्पत्ति बतलायी है। बौधायन के अनुसार वेद और वेदी के त्याग होने पर तीन पीढ़ियों में किसी भी ब्राह्मण का घर दुर्ब्राह्मण का घर बन जाता है।[६]

ऋग्वेद[७] से ज्ञात होता है कि वाचिक शिक्षण पद्धति की व्यवस्था थी। अलिखित परम्परा में शिष्य अपने गुरु के मुख से निःसृत शब्दों को दुहराते थे। प्रारम्भ में पिता ही पुत्र को वेदाध्ययन कराता था। बाद में अनेक केन्द्र खुले होंगे जहाँ वेदों का अध्ययन-अध्यापन अलग-अलग शाखाओं के अनुसार श्रुत परम्परा के द्वारा होता होगा। फलस्वरूप आज भी विकृतियों के साथ वेद मन्त्र जीवित हैं।

छात्र गुरु के समीप रहकर मौखिक रीति से अध्ययन करता था। गुरु की महत्ता भगवान् के समान थी। श्वेताश्वतर उपनिषद्[८] ने गुरु को ईश्वर के पद पर रखा है। गुरु को आचार्य भी कहते थे। निरुक्त[९] में विद्यार्थी को सम्यक् आचार समझाने एवं करने की प्रेरणा, या शब्दों के अर्थ एकत्र करने के कारण या बुद्धि का विकास करने

१—बृहदारण्यक उप० २।१
२—छान्दोग्य उप० ५।३
३—छान्दोग्य उप० ५।२
४—मनुस्मृति ४।१४,
५—याज्ञवल्क्य स्मृति १।१९८
६—बौधायन गृह्य परिभाषा—१।१०।५-६, तै० सं० २।१।१०।१
७—ऋग्वेद० ७।१०३।५
८—श्वेताश्वतर उप० ६।२३, आपस्तम्ब, १।२।६।१३
९—निरुक्त १।४

के कारण गुरु आचार्य कहलता है। आचार (कर्तव्य) को शिक्षा देने के कारण गुरु आचार्य कहलाता है।[१] मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार शिष्य को शौच, आचार, अग्नि में समिधा डालने एवं संध्या पूजा के नियम की शिक्षा आचार्य देता है। वेद का कोई एक अंग या वेदांग का कोई एक अंश पढ़ाकर जो अपनी जीविका चलाता है वह उपाध्याय कहलाता है। गुरु वह है जो छात्र या शिष्य का संस्कार करता है एवं पालन-पोषण करता है।[२] याज्ञवल्क्य के अनुसार संस्कार कराकर वेदाध्ययन कराने वाला गुरु है।[३] मनु के अनुसार माता, पिता एवं आचार्य तीन गुरु माने गये है। मनु ने जो थोड़ा अधिक ज्ञान दें उसे गुरु माना है।[४] महाभारत वनपर्व में माता, पिता, अग्नि, आत्मा एवं गुरु, इन पाँचों को गुरु नाम से सम्बोधित किया गया है।[५]

आचार्य आचार की प्रतिमूर्ति होता है। ब्राह्मण आचार्य को वेद में एकनिष्ठ, धर्मज्ञ, कुलीन, शुचि एवं श्रोत्रिय होना चाहिए। जिसने वेद की एक शाखा पढ़ी हो वह श्रोत्रिय कहलाता था।

शिक्षण कार्य—मौखिक रीति से प्रणव, व्याहृतियाँ एवं गायत्री की शिक्षा सबसे पहले दी जाती थी। चार वेदों के अतिरिक्त वेदाङ्गों की शिक्षा भी दी जाती थी। आपस्तम्ब ने 'षडङ्गो वेदः' कहा है। शिक्षा (स्वर एवं ध्वनि आदि का विवेचन जिस शास्त्र में हो), कल्प (वैदिक एवं घरेलू यज्ञों को विधि, क्रिया का वर्णन जिसमें हो), व्याकरण, निरुक्त (शब्दों की व्युत्पत्ति जिसमें हो), छन्द (जिस शास्त्र में पद्यों की मात्रा आदि का विवेचन हो) एवं ज्योतिष (खगोल विद्या का ज्ञान देने वाला शास्त्र) ये छः वेदाङ्ग वेदाध्ययन के अन्तर्गत पढ़ाये जाते थे।

गुरु पूर्वाभिमुख एवं शिष्य उत्तराभिमुख बैठकर पढ़ता था। 'ओम्' से पाठ प्रारम्भ किया जाता था।

मनु ने शुभा विद्या (प्रत्यक्ष लाभकारी ज्ञान) शूद्र से भी सीखने की अनुमति दी है।[६] द्विजातियों का प्रथम कर्तव्य वेदाध्ययन था। मनु ने उपनिषदों के साथ

१ - आपस्तम्ब धर्मसूत्र-१।१।१।१४

२—मनु० २।१४१, १४२,

३—याज्ञवल्क्य० १।३४

४—मनु० २ २२७-२३७, २।१४९

५—वनपर्व २।।४।२८-२९

६—श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात्।
सुवर्णमपि चामेध्यादाददीता विचारयन्॥ शान्तिपर्व १६।५।३१, मनु० २।२३८

सम्पूर्ण वेद के अध्ययन की शिक्षा दी है। वेदाध्ययन को परम तप कहा गया है, यथा—**'वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।'** मनु० २।१६६ **"अधीयत इत्यध्यायः वेदः। स्वस्याध्यायः स्वाध्याय स्वपरम्परा गता शाखेत्यर्थः"** (संस्कार-प्रकाश पृष्ठ ५०४)। अपने पूर्वजों की शाखा के अनुसार वेदाध्ययन करना चाहिए।

गुरु प्रायः एक स्थान पर ही रहते थे परन्तु विख्यात गुरु अनेक प्रसिद्ध स्थानों में भ्रमण करते हुए भी शिक्षा देते थे।[1] तैत्तिरीयोपनिषद् में 'तीर्थकाक' का वर्णन है। जिस प्रकार पानी ढाल की ओर बह जाता है, उसी तरह विख्यात गुरु के यहाँ दौड़कर शिष्यगण चले जाते थे।[2] जो एक आचार्य को छोड़कर दूसरे आचार्य के पास दौड़ता रहता था वह छात्र ही 'तीर्थकाक' कहलाता था।[3]

शिष्य के गुण

असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्।
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्तेन द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधियाय ब्रह्मन्॥

— (निरुक्त० २।४)

जो विद्या को घृणा की दृष्टि से देखता हो, कुटिल एवं असंयमी हो वह विद्याज्ञान का पात्र नहीं है। पवित्र, ध्यानमग्न, बुद्धिमान्, ब्रह्मचारी, सत्यवादी, धन की भाँति विद्या की रक्षा करने वाला विद्या का सत्पात्र है। मनु ने दस प्रकार के शिक्षार्थी का नाम गिनाया है[4], यथा—गुरु-पुत्र, गुरु सेवक, जो बदले में ज्ञान दे सके; धर्मज्ञानी, सत्यवादी, अध्ययन करने एवं धारण करने में समर्थ, शिक्षण के लिये धन देने में समर्थ, व्यवस्थित मन वाला एवं निकट सम्बन्धी। याज्ञवल्क्य[5] ने शिष्य के गुणों में कुछ और वृद्धि की है, यथा—कृतज्ञ, गुरु से घृणा न करने वाला, गुरु के प्रति असत्य न बोलने वाला, स्वस्थ तथा व्यर्थ का छिद्रान्वेषण न करने वाला। इन विशेषणों से अलंकृत शिष्य सद्विद्या का सत्पात्र माना जाता था।

१—कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद्--४।१

२—यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्।
एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः॥ तैत्तिरीयो० १।४ ३

३ – महाभाष्य–भाग १, पृ० ३९१ पाणिनि २।१।४१

४ – मनु० २ १०९ एवं ११२

५—याज्ञवल्क्य० १।२८

मनुस्मृति में विद्यार्थियों के लिये अनेक कर्म वर्णित हैं।[१] गुरु को प्रणाम करना विद्यार्थी का आवश्यक कर्म है। उपसंग्रहण में अपने नाम और गोत्र के साथ प्रणाम बोला जाता है। सिर झुकाकर कानों को छूकर गुरु चरणों का स्पर्श किया जाता है।

अभिवादन के पूर्व प्रत्युत्थान होता है। किसी श्रेष्ठ या पूज्य जन के स्वागत में आसन छोड़कर उठ जाना एवं प्रणाम बोलना अभिवादन है। इसमें प्रणम्य का पैर स्पर्श नहीं किया जाता है।

नमस्कार में झुककर नमः कहा जाता है। मनु, गौतम एवं आपस्तम्ब आदि धर्मशास्त्रवेत्ताओं ने अभिवादन एवं प्रत्यभिवादन (प्रणाम का उत्तर) आदि का सविस्तार विवेचन किया है। अभिवादन और नमस्कार में अन्तर है। अभिवादन में झुककर अभिवादन बोलना पड़ता है, परन्तु नमस्कार में सिर झुकाकर हाथ जोड़ना पड़ता है। देवताओं, ब्राह्मणों, संन्यासियों को तथा सभा, यज्ञ एवं राजगृह में अभिवादन की जगह नमस्कार करना चाहिए। देवालय, देवमूर्ति, बैल, गौशाला, गाय, घी, मधु, पवित्र तरु, चौराहा, विद्वान्, धार्मिक ब्राह्मण एवं पवित्र स्थल को वाम दिशा से दक्षिण दिशा की ओर प्रदक्षिणा करनी चाहिए।[२]

मौखिक शिक्षण की व्यवस्था सस्ती थी परन्तु दुःसाध्य एवं श्रमसाध्य थी। पुस्तक से विद्या ज्ञान प्राप्त करने की निन्दा की गई है। पराशर माधवीय ने नारद का वचन उद्‌धृत किया है कि गुरु से अध्ययन न कर जो व्यक्ति पुस्तक से अध्ययन करता है वह सभा में शोभा नहीं पाता।[३] इसी कारण ज्ञानप्राप्ति के मार्ग में ६ अवरोधों में पुस्तक भी एक है।[४]

१—मनु० २।१८०-१८१, १९८ गौतम० २ १३-२५

२—देवालये चैत्यतरुं तथैव च चतुष्पथम्।
विद्याधिकं गुरुदेवं बुधः कुर्यात्प्रदक्षिणम्॥ —मार्क० पु० ३४।४१-४२
शुचि देशमनड्वाहं देवं गोष्ठं चतुष्पथम्।
ब्राह्मणं धार्मिकं चैत्यं नित्यं कुर्यात्प्रदक्षिणम्॥
—शान्तिपर्व० १९३।८, याज्ञ० १।१३३, मनु० ४।३९

३—पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः॥
पराशरमाधवीय, भाग १ पृ० १५४

४—द्यूतं पुस्तकशुश्रूषा नाटकासक्तिरेव च।
स्त्रियस्तन्द्री च निद्रा च विद्या विघ्न कराणि षट्॥ स्मृतिचन्द्रिका भाग १ पृ० ५२

विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने गुरु के सम्बन्ध में निर्देश दिया है—

संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः ।
देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत्स गुरुः स्मृतः ॥

इससे स्पष्ट होता है कि गुरु कठिन स्थलों को संस्कृत, प्राकृत या लौकिक भाव के द्वारा शिष्यों को समझाते थे। पुस्तकों पर आश्रित रहकर ज्ञानार्जन करने की शिक्षा नहीं दी गई है।

वेदाध्ययन की अवधि—गोपथ[1] के अनुसार सभी वेदों को ४८ वर्षों में पढ़ा जाता था। पारस्कर गृह्यसूत्र भी (१२×४=४८) यही उल्लेख करता है। इस सन्दर्भ में मनु एवं याज्ञवल्क्य द्रष्टव्य हैं[2]। सभी वेदों के लिये १२ वर्षों की अवधि निश्चित की गई। हरदत्त ने प्रत्येक वेद पढ़ने के लिये ३ वर्ष का समय उचित सिद्ध किया है[3]।

अध्ययन के विषय—कालक्रम से वैदिकपद्धति का कलेवर बढ़ता गया। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का अल्पकाल में पाण्डित्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना दुष्कर होता गया। अतः मंत्र भाग के साथ अपनी शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ का अध्ययन ही अपेक्षित था। पाणिनि के महाभाष्यकार ने वेद का अर्थ शाश्वत किया है, किन्तु शब्दों का प्रबन्ध अशाश्वत है और इसीलिए वेद की प्राचीन शाखाएँ पायी जाती हैं यथा, काठक, कालापक एवं मौदक आदि। यह सम्भव नहीं था कि गृहस्थाश्रम में आने के पूर्व द्विज वेदों एवं वेदांगों का सम्यक् अध्ययन समाप्त कर लें। इस कारण एक वेद का ज्ञान (कण्ठस्थ) प्राप्त करने की परम्परा प्रारम्भ हुई होगी। बुद्धि को अधिक आकृष्ट करने वाली विद्यायें थीं जिनकी चर्चा छान्दोग्य उपनिषद[4] में है यथा—पाचवाँ वेद इतिहास-पुराण, पित्र्य (श्राद्ध-शास्त्र), राशि (अंकशास्त्र), दैव (लक्षणशास्त्र , निधि (सम्पत्ति शास्त्र या खनिज खोदने की क्रिया), वाकोवाक्य (हेतुविद्या), एकायन (राजनीति), देवविद्या (निरूक्त) ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या (धनुर्वेद , नक्षत्र विद्या, सर्पविद्या, देवजन विद्या (नृत्य-गान आदि)।

१—गोपथ ब्राह्मण २।५
२—मनु० ३।१-२, याज्ञ० १३६, ५२
३—आपस्तम्भ धर्मसूत्र की व्याख्या (१।१।२ १२-१६)
४—छान्दोग्य उप० ७।१।२

याज्ञवल्क्य ने ४ वेद, ६ वेदांग, पुराण, काव्य मीमांसा और धर्मशास्त्र इन १४ विद्याओं का उल्लेख किया है। विष्णुपुराण में गन्धर्व वेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद एवं अर्थशास्त्र जोड़कर १८ विद्याओं का उल्लेख किया गया है। कुमारिल के अनुसार धर्म की जानकारी इन १८ विद्याओं से प्राप्त होती है।

वेदाध्ययन के साथ पाँच बातें[1] आवश्यक थीं (१) वेद को कण्ठस्थ करना (२) वेद के अर्थ पर विचार करना (३) बार-बार अभ्यास करना (४) मन्त्रों का जप करना (५) उपलब्ध ज्ञान को दूसरे को सीखाना। अतः निरूक्त के अनुसार वेदार्थ विना जाने वेद मंत्र के ज्ञाता जड़ के समान हैं[2]। तन्त्रवार्तिक[3] में कुमारिल भट्ट ने अध्ययन कार्य में लगे ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रियों एवं वैश्यों का भी उल्लेख किया है, जो अपनी जातिगत विशेषताओं को छोड़कर गुरुपद को अलंकृत करते थे।

नारी शिक्षा—मध्यकाल से अधिक वैदिक काल में नारियां शिक्षित एवं आदरणीया थीं। विश्ववारा, अपाला, घोषा या काक्षीवती का नाम कौन नहीं जानता? ऋग्वेद के सूक्तों की रचना करने की क्षमता इन ब्रह्मवादिनी स्त्रियों में थी[4]। गार्गी वाचक्नवी का याज्ञवल्क्य से हुआ शास्त्रार्थ कौन भुला सकता है? वडवा, प्रातिथेयी और मैत्रेयी का अध्यात्मिक ज्ञान कौन नकार सकता है? नारियों की ऐसी समुन्नत दशा देखकर ही हारीत ने नारियों के उपनयन और वेदाध्ययन की व्यवस्था दी थी।

पाणिनि (४।१।५९ एवं ३।३।२१) की काशिका वृत्ति में 'आचार्या' एवं 'उपाध्याया' शब्दों को व्युत्पत्ति प्रमाणित करती है कि नारी शिक्षिकायें थी। काला-न्तर में नारियों की अवस्था गुलाम जैसी हो गयी। मध्यकाल से नारियों के लिए अध्ययन-अध्यापन पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इस प्रथा को प्रारम्भ करने में बाल-विवाह का महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा। नारियाँ विलासिता की मात्र सामग्री बन गयीं। ज्ञान और विद्या की अधिष्ठात्री देवी के स्थान पर उन्हें सौन्दर्य एवं ममता की मूर्ति बना दिया गया। यह मध्यकालीन पुरुष समाज की अदूरदर्शिता थी।

१—दक्षस्मृति २।३४

२—निरूक्त १।१८

३—तन्त्रवार्तिक ५-१०८

४—ऋग्वेद ५।२८, ८।९१, १०।३९, क्रमशः इन सूक्तों की रचना विश्ववारा, अपाला, घोषा ने की थी।

अनध्याय के दिन—याज्ञवल्क्य[1] ने इन अवसरों एवं अवस्थाओं में अनध्याय की बात कही है। मनु[2] एवं याज्ञवल्क्य ने प्रतिपद, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा एवं अमावस्या को वेदाध्ययन न करने की शिक्षा दी है। युगादि एवं मन्वादि तिथियों में भी वेदाध्ययन नहीं होता था। मनु ने कुछ विशिष्ट अवसरों का भी उल्लेख किया है जब अनध्याय होता था, जैसे-एकोदिष्ट श्राद्ध का निमन्त्रण स्वीकार कर लेने पर, राजा की मृत्यु पर एवं ग्रहण पर तीन दिनों का अनध्याय होता है।[3] वस्तुतः अनध्याय के नियम ब्रह्मयज्ञ पर लागू नहीं होते थे। प्रथम वेदाध्ययन एवं वेदाध्यापन से ही इसका सम्बन्ध था।

मन को अशान्त करने वाली घटना तथा वातावरण को उद्वेलित करने वाली स्थिति उत्पन्न होने पर वेदाध्ययन की ओर मन लगाना सम्भव नहीं था। अनध्याय के दिनों का मन की प्रवृत्ति से सम्बन्ध था। स्मृतियों एवं सूत्र ग्रन्थों में अनध्याय के के सम्बन्ध में लम्बा विवेचन प्राप्त होता है। इसके लिये आपस्तम्ब धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, गौतम स्मृति, एवं विष्णुपुराण आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

दान

दानमेकं कलौ युगे—मनुस्मृति १।८६

दानेन सर्वकामानवाप्नोति—वसिष्ठस्मृति, २९।१

कलियुग में धार्मिक जीवन का प्रमुख आधार दान ही है।

'दान' शब्द का अर्थ—अपनी वस्तु का स्वामी, किसी दूसरे को बना देना दान कहलाता है।[4] मानसिक, वाचिक या शारीरिक रूप से दान-ग्रहण किया जाता है[5]। दान के लिये धर्मशास्त्र में प्रतिग्रह शब्द प्रयुक्त होता है। प्रतिग्रह किसी वस्तु की विशिष्ट रीति से स्वीकृति को कहते हैं। किसी वस्तु को मात्र ग्रहण करना ही प्रतिग्रह नहीं है। क्योंकि प्रतिग्रह से विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति होती है, शास्त्रीय रीति के प्रतिकूल दिया गया दान आध्यात्मिक पुण्य की उपलब्धि नहीं करा सकता, अतः

१—याज्ञ० १।१४८-१५१

२—मनु० ४।११३-११४, याज्ञ० १।१४६

३—मनु० ४।११०

४—स्वस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वोपादनं च दानम्। मिताक्षरा

५—जैमिनि ४।२।२८, याज्ञवल्क्यस्मृति २।२७ पर मिताक्षरा टीका।

मित्र को खिलाना या भिखारी को भिक्षा देना शास्त्रसम्मत दान नहीं है। देवल के अनुसार शास्त्रानुमोदित विधि से शास्त्र द्वारा बताये गये व्यक्ति को जब धन प्रदान किया जाय तब उसे दान कहा जा सकता है। यथा—

अर्थानामुदिते पात्रे यथावत्प्रतिपादनम्।
दानमित्यभिनिर्दिष्टं व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते॥
(देवल दानक्रिया कौमुदी में उद्धृत पृ० २)

कर्तव्य मानकर उचित व्यक्ति को जब कुछ प्रदान किया जाय तब उसे धर्म-दान कहते हैं। यथा—

पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनवेक्ष्यं प्रयोजनम्।
केवलं धर्मबुद्ध्या यद्धर्मदानं तदुच्यते॥
—(देवल)

दान का वैदिकस्वरूप

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्त आयुः॥
—ऋग्वेद १०।१०७।२

अर्थात्—जो गायों या दक्षिणा का दान करता है वह स्वर्ग में उच्च स्थान पर जाता है, जो अश्वदान करता है, वह सूर्य-लोक में निवास करता है; जो स्वर्ण का दान करता है, वह देवता होता है। जो परिधान का दानी है, वह दीर्घ जीवन प्राप्त करता है।

ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में दाताओं एवं दानों की महिमा गायी गई है।[1]

गोदान को सबसे श्रेष्ठ दान माना गया है। अश्वदान की महिमा वैदिक काल में ही उत्तरोत्तर घटती गई।[2] अश्वदान ग्रहण करने वाले को वरुण देवता का कोपभाजन बनना पड़ता है तथा जलोदर या शोथ रोग से वह पीड़ित हो जाता है।

हिन्दू धर्म ही नहीं प्रायः सभी धर्मों के साहित्य में दान की महिमा गायी गई है। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त महाभारत एवं पुराणों में भी दान के विभिन्न

१—ऋग्वेद–१।१२५, ५।१२५, ५।६१, ६।४७। २२-२५, ८।६।४६-४८
२—तैत्तिरीय संहिता–२।३।१२।१ काठक संहिता–१२।६

स्वरूपों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है।[1] मध्यकाल के अनेक निबन्धकारों ने दान पर कई निबन्ध ग्रन्थ प्रणीत कर प्रस्तुत किये, जिनमें हेमाद्रिकृत चतुर्वर्ग चिन्तामणि का दान खण्ड, गोविन्दानन्दकृत दानक्रियाकौमुदी, नीलकण्ठकृत दानमयूख, विद्यापतिकृत दानवाक्यावली, वल्लालसेन का दान सागर एवं मित्रमिश्रकृत दान-प्रकाश उल्लेखनीय है।

दान के अंग

(१) दाता (२) दान-ग्रहण करने वाला (प्रतिग्रहोता), (३) श्रद्धा (४) धन जो उचित ढंग से अर्जित किया गया हो। (५) उचितकाल (६) उचित स्थान।

इष्टापूर्त—'इष्ट' का अर्थ है जो यज्ञ के लिये दिया गया है और 'पूर्त' का अर्थ है 'जो भर गया है'। वेदों में इष्टापूर्त शब्द कई बार आया है।[2] 'यज्ञ कर्म एवं दान से उत्पन्न पुण्य' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुधा मिलता है। महाभारत में इस शब्द की बड़ी स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की गई है, यथा—

एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते।
अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टमित्यभिधीयते॥

एक अग्नि अर्थात् गृह्याग्नि एवं तीन श्रौत अग्नियों में जो कुछ हवन किया जाता है, और अन्तर्वेदी (श्रौतयज्ञों की वेदी पर) पर जो कुछ दान दिया जाता है, उसे इष्ट कहते हैं।

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥

गहरा कूप, आयताकार कूप, तालाबों, मन्दिरों (देवतायतनों) का निर्माण अन्नदान, बाग-बगीचों का प्रबन्ध पूर्त कहलाता है। अतिथि-सत्कार एवं वैश्वदेव-कर्म इष्ट के अन्तर्गत माने जाते हैं, तालाबों, कूपों, मन्दिरों आदि का निर्माण कर जनता जनार्दन के हितार्थ समर्पण कर देना, चन्द्र एवं सूर्य ग्रहणों के समय का दान एवं रोगियों की सेवा पूर्त धर्म के अन्तर्गत है।[3]

१—जन्मप्रभृति यत्पापं मातृकं पैतृकं तथा।
तत्सर्वं नश्यति क्षिप्रं वस्त्रदानान्न संशयः॥ —अत्रिसंहिता, ३३३

२—ऋग्वेद १०।१४।८, अथर्ववेद २।१२।४, ३।२९।१, तैत्तिरीय संहिता-५।७।३।१-३, तैत्तिरीय ब्राह्मण २।५।५७।

३—हेमाद्रि—चतुर्वर्ग चिन्तामणि—दान खण्ड पृ० २०

मनुस्मृति में इष्टापूर्त कर्म करते रहने की शिक्षा दी गई है। यथा—

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः॥

—मनु० ४।२२६

अर्थात्—तन्द्रा रहित होकर श्रद्धापूर्वक नित्य इष्टापूर्त कर्म करना चाहिए। क्योंकि न्यायोपार्जित धन से किया गया इष्टापूर्त कर्म अक्षयफल प्रदान करते हैं। इष्ट कर्म सभी द्विजातियों का सामान्य धर्म माना जाता था, पूर्त धर्म के अधिकारी शूद्र भी थे, यथा—

इष्टापूर्तौ द्विजातीनां धर्मः सामान्य इष्यते।
अधिकारी भवेच्छूद्रो, पूर्ते धर्मे न वैदिके॥

—अत्रिस्मृति-४६

दान के पात्र

दान एवं प्रतिग्रह के पात्रों के सम्बन्ध में प्राचीन काल में अनेक नियम बनाये गये थे। कालान्तर में उन नियमों में शिथिलता आ गई। ब्राह्मणों को दान या प्रतिग्रह देने के पूर्व पहले योग्य ब्राह्मणों की खोज की जाती थी। प्रतिग्रह अर्थात् दान ग्रहण करने का आदर्श यह था कि ब्राह्मण यथासाध्य इससे दूर रहें तो अत्युत्तम है। दान लेना उत्तम कर्म नहीं समझा जाता था, यथा—

प्रतिग्रह समर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति॥

—मनु० ४।१८६

विद्या तपोभ्यां हीनेन नतु ग्राह्यः प्रतिग्रहः।
गृह्णन्प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव च॥

—याज्ञ० १।२०२

जो विद्या सम्पन्न और तपस्वी न हो उसे दान नहीं लेना चाहिए। यदि ऐसा व्यक्ति प्रतिग्रह लेता है तो वह अपने को तथा दाता को नरक में डालता है।

ब्राह्मण प्रतिग्रह के पात्र हैं पर श्रुति (वेद) का अध्ययन अथवा केवल शम, दम आदि तपस्या के गुणों से कोई सत्पात्र ब्राह्मण नहीं कहला सकता। याज्ञवल्क्य के अनुसार वही पुरुष श्रेष्ठ पात्र है जिसके आचरण में विद्या और तपस्या का दर्शन होता हो, यथा—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥

—याज्ञ० २००

सन्निकट रहने वाले विद्वान् ब्राह्मणों को ही दान देने की व्यवस्था की गई है। वसिष्ठ के अनुसार पड़ोसी ब्राह्मण अशिक्षित हो तो दूर के ब्राह्मण को दान देना चाहिए।[1]

वसिष्ठ के अनुसार ब्राह्मण अपने माता-पिता, गुरु के प्रति सम्मान सहित, दरिद्र, सकरुण, इन्द्रियनिग्रही व्यक्ति को दान देना चाहिए। स्मृति वचनों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि प्रतिग्रह ब्राह्मणों का विशेषाधिकार था, किन्तु दान किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी को भी दिया जा सकता था। मनु आदि स्मृतिकारों ने ऐसी व्यवस्था दी है कि सन्तान हेतु विवाह करने के लिए, यज्ञ करने के लिए, ब्राह्मण, श्रोत्रिय या वेदपारङ्गत गुरु को दक्षिणा देने के लिए, औषध, अध्ययन एवं यात्रा के लिए दानार्थी ब्रह्मचारी, उपतापी रोगी को दान देना चाहिए।[2]

अध्यापन (वेदाध्यापन) पौरोहित्य, (यजमानी या यजन-याजन कराना) तथा प्रतिग्रह नामक वृत्तियाँ सभी ब्राह्मणों के लिए सम्भव नहीं थीं। इतनी बुद्धि धैर्य एवं १२ वर्षों तक वेदाध्ययन कर विद्वत्ता प्राप्त करने का सामर्थ्य सभी ब्राह्मणों में नहीं था। परन्तु ब्राह्मणों की संख्या बढ़ती जा रही थी, दानाभाव तथा पौरोहित्य के प्रति न्यून श्रद्धा के कारण दान ग्रहण करने वाले पात्रों का योग्यता में शिथिलता पायी जाने लगी। शिक्षित एवं अशिक्षित सभी प्रकार के ब्राह्मणों को दान देना उचित सिद्ध किया गया, यथा—

दुर्वृत्ता वा सुवृत्ता वा प्राकृता वा सुसंस्कृताः।
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥

काणाः कुब्जा वामनाश्च दरिद्रा व्याधितास्तथा।
नावमान्या द्विजा प्राज्ञैर्मम रूपा हि ते द्विजाः ॥

—वृद्ध गौतम

१—वसिष्ठ, ३।९-१०, मनु० ८।३९२, व्यास, ८।३९२

२—सांतानिक यक्ष्यमाण मध्वगं सर्ववेदसम्। ... ... दानं विद्याविशेषतः। मनु० ११ १-२ बौधायन० २।३।१५, गौतम० ५।१९ २०।

दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा । ...... न्यः ।। यथा श्मशाने दीप्तौजा पावको नैव दुष्यति । एवं विद्वानविद्वान्वा ब्राह्मणो दैवतं महत् ।।

—वनपर्व-२००।८८-८९

महाभारत एवं स्मृतिवचनों के अनुसार ब्राह्मण पवित्र होते हैं, जैसे अग्नि सभी अवस्था में पवित्र एवं देवता है, उसी भाँति ब्राह्मण होते हैं। दक्ष के अनुसार माता-पिता, गुरु-मित्र, चरित्रवान् व्यक्ति, उपकारी, दीन (दरिद्र), असहाय (अनाथ), विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति को दान देने से पुण्य की प्राप्ति होती है। धूर्तों, बन्दियों, मल्लों (पहलवानों), कुवैद्यों, जुआरियों, वञ्चकों, चाटों, चारणों एवं चोरों को दिया गया दान निष्फल होता है।[1]

बृहद्यम के मत से कोढ़ी, असाध्य-रोगी, शूद्र का यज्ञ करानेवाले, देवलक, वेदविक्रेता अर्थात् वेद पढ़ाने के पूर्व शुल्क निश्चित करना, निकृष्ट कर्म करने वाले, लोभी, सन्ध्या आदि कर्मों से हीन, ब्राह्मणधर्म से च्युत, दुष्ट एवं व्यसनी ब्राह्मण दान के कुपात्र हैं।[2] विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार भोजन एवं वस्त्र-दान के समय मनुष्य की आवश्यकता का अवलोकन अपेक्षित है, उसकी जाति नहीं देखनी चाहिए।

सत्पात्र को भी अश्रद्धा से दिया गया दान फलीभूत नहीं होता।[3] याचक या सत्पात्र को आदर पूर्वक दान देने से तथा आदर पूर्वक ग्रहण करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तथा इसके विपरीत कर्म करने वाले नरक गामी होते हैं, यथा—

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ।।

—मनु० ४।२३५

दान की वस्तु (देय)

दान की कौन वस्तु श्रेष्ठ है और किस वस्तु के दान से अधिकाधिक पुण्य की प्राप्ति होती है, यह वस्तु के मूल्य पर निर्भर नहीं करता बल्कि दान देने वाले के

१—दक्षस्मृति—३।१६-१८

२—बृहद्यमस्मृति—३।३४,३८, और देखिये—बृहत्पराशर स्मृति पृ० २४१-२४२, वनपर्व, २००।५-९

३—अन्यायाधिगतां दत्त्वा सकलां पृथिवीमपि ।
श्रद्धावर्जमपात्राय न काञ्चिद् भूतिमाप्नुयात् ।।
प्रदाय शाकमुष्टिं वा श्रद्धाभक्तिसमुद्यताम् ।
महतेपात्र भूताय सर्वाभ्युदयमाप्नुयात् ।। —(देवल)

भाव, सामर्थ्य एवं दान देने वाली वस्तु की प्राप्ति के ढंग पर निर्भर करता है। श्रद्धा और सुपात्र का होना जैसे उचित कहा जाता है वैसे ही दाता के लिये उचित है कि वह ऐसी वस्तु का दान करे जो बिना किसी को सताये, या दुःख दिये स्वयं उपार्जित हो।

वसिष्ठधर्मसूत्र में गाय, भूमि एवं विद्या[1] (सरस्वती) के दान को अतिदान की संज्ञा दी गई है।[2] याज्ञवल्क्य के अनुसार उर्वर भूमि, दीपक, अन्न,[3] वस्त्र, जल, तिल, घी, परदेशी को आश्रयस्थान, कन्या, सोना, भार ढोने वाला बैल उत्तम माना गया है, यथा—

घर और धान्य का दान भयाक्रान्त को अभयदान, जूता, छाता, कुङ्कुमचन्दन आदिलेपन, रथ आदि सवारी, वृक्ष, अभीष्ट वस्तु एवं शय्या का दान देने वाला अत्यन्त सुखी होता है। यथा—

भूदीपांश्चान्नवस्त्राम्भस्तिलसर्पिः प्रतिश्रयान्।
नैवेशिकं स्वर्णधुर्यं दत्त्वा स्वर्गे महीयते॥
—याज्ञ० १।२१०

गृहधान्याभयोपानच्छत्रमाल्यानुलेपनम्।
यानं वृक्षं प्रियं शय्यां दत्त्वाऽत्यन्तं सुखी भवेत्॥
—याज्ञ० १।२११

भिन्न-भिन्न वस्तुओं के दान से भिन्न-भिन्न फलों की उपलब्धि होती है, यथा—

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम्॥
भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम्।

१—बृहस्पति १८
त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती।
आदिदानं हिरण्यानां विद्यादानं ततोऽधिकम्॥ —वसिष्ठ२९।२०

२—सर्वेषामेव दानानां विद्यादानं ततोऽधिकम्। अत्रिसंहिता—३३८
विद्यादानेन पुण्येन ब्रह्मलोके महीयते। सम्वर्त स्मृति—८९

३—अन्नदानात् परमदानं विद्यते न हि किञ्चन।
अन्नाद् भूतानि जायन्ते जीवन्ति च न संशयः॥ —सम्वर्त ८३

वासोदश्चन्द्र सालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः।
अनुडुद्दः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम्॥
—मनु० ४।२२९-२३१

सभी दानों में विद्यादान की प्रभूत महिमा गायी गई है—यथा—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
सर्वधर्ममयं ब्रह्म प्रदानेभ्योऽधिकं यतः॥ याज्ञ०. १।२१२
—मनु० ४।२३३

महाभारत (अनुशासनपर्व) विष्णुधर्मसूत्र और वसिष्ठधर्मसूत्र ने दान की सामग्रियों का सविस्तार निरूपण किया है।

दान के भेद

दान को तीन खण्डों में बाँटते हैं (१) नित्य (२) नैमित्तिक (३) काम्य देवल ने नित्यदान को आजस्त्रिक की संज्ञा दी है। प्रतिदिन जो दान दिया जाय वह नित्यदान है, जैसे वैश्वदेव।

नैमित्तिक दान किसी विशिष्ट अवसर पर दिया जाता है, जैसे—ग्रहण के समय दिया गया दान। काम्य दान किसी कामना की पूर्ति के लिये किया जाता है, जैसे—सन्तानोत्पत्ति, दुःख-दारिद्रय निवारणार्थ एवं स्वर्ग या समृद्धि के लिये शास्त्र निर्दिष्ट रीति से दान देना।

इसके अतिरिक्त देवल ने 'ध्रुवदान' का उल्लेख किया है। कूप आदि का निर्माण कर जनकल्याण के लिये समर्पण या दान कर देना ध्रुव दान है। कूर्मपुराण ने श्रद्धा सहित आध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति हेतु या भगवत्प्राप्ति हेतु जो दान दिया जाय उसे 'विमल दान' के नाम से याद किया है। सात्विक, राजस एवं तामस इन तीन वर्गों में भी दातों का वर्गीकरण किया जाता है। देश, काल, पात्र, को जानकर कर्तव्य भाव से दान दें और लेने वाला सहर्ष स्वीकार करलें, यही सात्विक दान है। राजस दान इच्छा पूर्ति के लिये किया जाता है। अनुचित काल, पात्र एवं अश्रद्धा के साथ दिया गया दान तामस कहलाता है गुप्तदान की अपार महिमा है।

विना याचना के मिला हुआ दान (अयाचित दान)

याज्ञवल्क्य के अनुसार कुश, कच्ची सब्जियाँ (शाक), दूध; मछली, सुगन्धि, फल, दही, भूना मांस, शय्या, आसन, भूना हुआ धान और जल—ये सब बिना

माँगे ही मिलें तो अस्वीकार न करना चाहिए। यदि दुराचारी व्यक्ति भी इन वस्तुओं को दें तब भी ये वस्तुएँ ग्रहण के योग्य है।[1] यथा—

कुशाः शाकं पयोमत्स्याः गन्धाः पुष्पं दधिक्षितिः।
मांसं शय्यासनं धानाः प्रत्याख्येयं न वारि च॥

—याज्ञ० १।२१४

शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि।
धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत॥

—मनु० ४।२५०

दान के अयोग्य पदार्थ

जिसपर अपना अधिकार (स्वत्व) नहीं उसे दान नहीं दिया जाता है। जैमिनि ने विश्वजित् यज्ञ में कौन सी वस्तुएँ दान नहीं दी जातीं इसका उल्लेख किया है।[2]

नारद के अनुसार ८ प्रकार के दान वर्जित हैं—(१) ऋण लेने वाला अपना ऋण चुकाने के लिये किसी अन्य को धन दे दे ताकि वह ऋण देने वाले को चुका दे, वह धन अदेय है। (२) किसी विशिष्ट अवसर पर किसी की उधार लायी हुई वस्तु (३) न्यास किसी की धरोहर वस्तु (४) संयुक्त सम्पत्ति (५) निक्षेप (किसी का जमा किया हुआ धन) (६) पुत्र एवं पत्नी (७) सन्तानों के रहने पर अपनी पूरी सम्पत्ति (८) दूसरे को जो वस्तु पहले ही दी जा चुकी हो।

याज्ञवल्क्य ने अपने व्यवहाराध्याय में दान पर बड़ा ही व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, यथा—

स्वं कुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते।
नान्वये सति सर्वस्वं यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्॥

अर्थात् दान इतना ही देना चाहिए जिससे अपने परिवार के पालन-पोषण में कष्ट की अनुभूति नहीं हो। पुत्र एवं पत्नी को दान में नहीं देना चाहिए। पुत्र-पौत्र हो तो सब कुछ दान में नहीं देना चाहिए।

दक्ष ने मित्र के धन को अदेय पदार्थ माना है। उन्होंने भय से दान देने की भी निन्दा की है।[3] बौधायन धर्मसूत्र में अपने आश्रितों, सेवकों एवं अनुचरों

१—अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः। याज्ञ० १।२१५
२—जैमिनि ६।७।१-७
३—दक्षस्मृति ३।१९-२०

(दासों) को परवाह किये बिना अतिथियों या दूसरे व्यक्तियों को भोजनादि बाँटने की निन्दा की गई है।[1] मनु का भी अभिमत है कि अपने व्यक्तियों (स्वजन) को दुःखी देखकर भी दूसरे व्यक्तियों (परजन) को दान देना धर्म विरुद्ध है, यथा—

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःख जीविनि।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्म प्रतिरूपकः॥

—मनु० ११।९

भृत्यानामुपरोधने यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च॥

—मनु० ११।१०

अस्वीकार करने योग्य दान

मनु ने वेद विद् विद्वानों को भी सदा दान (प्रतिग्रह) लेने का निषेध किया है, क्योंकि दान से वेदाध्यनादि का प्रभाव विनष्ट हो जाता है। यथा—

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम्।
प्रतिगृह्णन्न विद्वांस्तु भस्मी भवति दारुवत्॥

—मनु० ४।१८८

अविद्वान् ब्राह्मण को स्वर्ण, भूमि, अश्व, गाय, भोजन, वस्त्र, तिल एवं घृत का दान नहीं लेना चाहिए। यदि लेगा तो लकड़ी की भाँति भस्म हो जायेगा। ब्रह्म पुराण में भी त्याज्य दान पदार्थ का उल्लेख है, यथा—भेड़, अश्व, हाथी, तिल, लोहा, मृत व्यक्ति की शय्या, आभूषण एवं वस्त्र किसी ब्राह्मण को नहीं लेना चाहिए।[2]

दान के काल

अयनादौ सदादद्याद् द्रव्यमिष्टं गृहे वसन्।
षडशीतिमुखे चैव विमुक्ते चन्द्रसूर्ययोः॥

—(लघुशातातप)

उत्तरायण एवं दक्षिणायन के प्रथमदिन में, षडशीति[3] के प्रारम्भ में, सूर्य, चन्द्र ग्रहणों के समय दान अवश्य देना चाहिए।

१—बौधायन धर्मसूत्र २।३।१९

२—हेमाद्रि—चतुर्वर्गचिन्तामणि—दान खण्ड पृ० ५७ में ब्रह्मपुराण से उद्धत।

३—षडशीति—मिथुन, कन्या, धनु एवं मीन राशियों में जब सूर्य का प्रवेश होता है तो उसे षडशीति कहते हैं।

शतमिन्दुक्षये दानं सहस्रं तु दिनक्षये ।
विषुवे शतसाहस्त्रं व्यतीपाते त्वनन्तकम् ॥
—लघुशातातप–१५०

अमावस्या के दिन, जिस दिन किसी तिथि का क्षय हो, विषुब (रात्त-दिन बराबर हो) के दिन एवं जिस दिन व्यतिपात योग हो, दान देने से क्रमशः सौ गुना, हजार गुना, लाख गुना एवं अनन्त फल की प्राप्ति होती है।

द्वादशी, संक्रान्ति एवं रविवार को दिया गया दान अक्षय होता है।[1]

दान के पवित्र स्थल—स्वगृह में दिया गया दान दस गुना, गौ शाला में सौ गुना, तीर्थों में सौ गुना तथा शिवलिंग के समक्ष दिया गया दान अनन्त फल देता है।[2] किसी भी नदी का पवित्र भूभाग, समुद्र का किनारा, गौ शाला, पवित्र पर्वत, सन्तों या साधुओं के निवास से पवित्र स्थान दान के लिये पवित्र स्थल माने जाते हैं।

दक्षिणा सहित दान की विधि

आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार दान करते समय दाता के हाथ पर जल गिराना चाहिए।[3] दान देने के बाद दक्षिणा देने को विधि है। किन्तु स्वर्ण, रजत, ताम्र, चावल या अन्य अन्न के दान देने पर दक्षिणा नहीं भी दी जा सकती है।[4] वस्तुतः दान की हुई वस्तु के मूल्य का दसवाँ हिस्सा दक्षिणा दी जाती थी।

दानकृत्य में प्रतिनिधि देवता

प्राचीन काल में ही हर वस्तुओं के देवता निर्धारित कर दिये गये थे। स्वर्ण के देवता अग्नि एवं रजत के देवता चन्द्रमा माने जाते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं आपस्तम्ब धर्म सूत्र में गाय के रुद्र, वस्त्र के सोम, मनुष्यों के प्रजापति देवता बतलाये गये हैं।[5]

संकल्प के साथ दान की विधि

दान देने वाला पवित्र होकर शुद्ध आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे एवं दान लेने वाले (प्रतिग्रहीता) को आसन पर उत्तराभिमुख बैठावें। देय वस्तु का नाम, देवता का

१—संवर्त—२०.-२०९
२—दानमयूख–पृ०८
३—आपस्तम्ब २।४।९।९-१०
४—अग्निपुराण २११।३१
५—तैत्तिरीय २।२।५, आपस्तम्ब १४।११।३

नाम दान देने का उद्देश्य बोलना चाहिए। दाता कहता है कि अमुक वस्तु का दान अमुक व्यक्ति को मैं दे रहा हूं। प्रतिग्रहीता के हाथ में दाता अपने संकल्प का जल छोड़ देता है। प्रतिग्रहीता जब कहे "दीजिए" तब जल से प्रोक्षण करके वह वस्तु उसके हाथ पर रख देनी चाहिए। प्रतिग्रहीता 'ॐ स्वस्ति' का उच्चारण करता है। समय एवं देय पदार्थों की भिन्नता के अनुसार संकल्प—विधि में परिवर्तन भी किया जाता है। प्रायः १२ उद्देश्यों के लिए दान का संकल्प किया जाता है, यथा—

पुत्रपौत्रगृहैश्वर्यपत्नीधर्मार्थसद्गुणः ।
कीर्तिविद्यामहाकामसौभाग्यारोग्यवृद्धये ॥
सर्वपापोपशान्त्यर्थं स्वर्गार्थं भुक्तिमुक्तये ।
एतत्तुभ्यं संप्रददे प्रीयतां मे हरिः शिवः ॥

—अग्नि० २०९।५९-६०

भूमिदान

यत्किंचित्कुरुते पापं पुरुषो वृत्तिकर्शितः ।
अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन शुध्यति ॥

—वसिष्ठ० २९।१६

परिस्थितिवश व्यक्ति जो कुछ पाप कर देता है, वह गोचर्म मात्र भूदान से मिट सकता है। बृहस्पति के अनुसार दस हाथ=एक लट्ठा, ३० लट्ठे=१ निवर्तन, १० निवर्तन=गोचर्म होता है। या गोचर्म उतनी भूमि का नाम है जहाँ १ सहस्र गायें, बछड़े एवं सांड़ के साथ खड़ी रहें।[1]

भूमिदान की महत्ता बहुत है, परन्तु भूमि देकर उसका निर्धारण कर भविष्य के राजाओं के ज्ञान के लिये दान पत्र लिखवा देना चाहिए।

सम्पूर्ण भूमि पर केवल राजा का ही अधिकार होता था या सम्पूर्ण प्रजा का, जिसके अधिकार में वह होती थी। साधारण प्रजा हो एवं राजा दोनों भूमि दान करते थे।

'दत्त्वा भूमिं' निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं तु कारयेत् ।
आगामि भद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिवः ॥

—याज्ञ० १।३१८

इस श्लोक के आधार पर सम्पूर्ण पृथ्वी का अधिपति राजा को ही मान लेना गलत होगा। राजा भूमि कर का अधिकारी है। राजा स्वयं भूमि खरीद कर दान

---

१ — बृहस्पति-८ एवं ९

देती थी। दान पत्र सबके लिये आवश्यक था ताकि बाद में कोई उत्तराधिकारी दान की हुई वस्तु को वापस न ले लें। याज्ञवल्क्य की उक्ति राजा ही नहीं वरन् सभी भूमि दाताओं के लिये है—

प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात्स्थावरस्य विशेषतः।
देयं प्रतिश्रुतं चैव दत्त्वा नापहरेत्पुनः॥

—याज्ञ० २।१७६

स्थावर दान सबके समक्ष देना एवं लेना चाहिए। संकल्पित वस्तु देकर लेना नहीं चाहिए। यह व्यवहार राजा एवं प्रजा दोनों के लिये था।

पुराणों में १६ महादानों की चर्चा है।[1] तुलापुरुष, हिरण्यगर्भ, ब्रह्माण्ड, कल्पवृक्ष गोसहस्र, कामधेनु, या हिरणकामधेनु हिरण्याश्व, हिरण्याश्वरथ या अश्वरथ, हेमहस्तिरथ या हस्तिरथ, पंचलांगल, धरादान या हैमधरादान, विश्वचक्र, कल्पलता या महाकल्प, सप्तसागर, रत्नधेनु, महाभूतघट।

तुलापुरुष—इस महादान में पुरुष को तुला पर बैठाकर उसके बराबर सोना या चाँदी तोलकर ब्राह्मणों में बाँट दिया जाता है। तुला के देवता बिष्णु का आवाहन एवं पूजन किया जाता है। तुला को पुरुष (विष्णु) मानकर परिक्रमा की जाती है। तत्पश्चात् उस पर बैठाया जाता है।

हिरण्यगर्भ[2] दान देने वाला स्वर्ण से एक कुण्ड का निर्माण कराता है। कुण्ड एक ऐसा पात्र होता है जिसकी ऊँचाई ७२ अंगुल एवं चौड़ाई ४८ अंगुल होती है। स्वर्ण निर्मितपात्र हिरण्यगर्भ कहलाता है। इसकी आकृति कमल के भीतरी भाग के समान अर्थात् मृदंगाकार होती है। यह पात्र विधाता का प्रतीक माना जाता है। तिल राशि के ऊपर यह पात्र रखा जाता है। दान देने वाला गर्भस्थ शिशु की भाँति उत्तराभिमुख पांच श्वांस पर्यन्त बैठा रहता है। उसके हाथ में ब्रह्मा एवं धर्मराज की स्वर्णाकृतियाँ रहती है। गर्भाधान, पुंसवन एवं सोमन्तोन्नयन तथा शेष १२ संस्कारों का प्रतीकात्मक ढंग से हिरण्यगर्भ के अन्दर एवं बाहर सम्पादित किया जाता है। यह हिरण्यगर्भ पात्र दान दे दिया जाता है।

१—अग्नि पुराण २०९।२३-२४ में दस महादानों का उल्लेख है यथा—
स्वर्ण, अश्व, तिल, हस्ति, दासी, रथ, भूमि, गृह, दुलहिन एव कपिलागाय
मत्स्य पुराण—२७४-२८९ अध्याय, हेमाद्रि—दान खण्ड-पृ० १६६-३४५
दानमयूख पृ० ८६ से १५१

२—लिंगपुराण २।२९, मत्स्य पुराण २७५ अध्याय

ब्रह्माण्ड[1]—गोलार्ध के समान दो स्वर्ण पात्र निर्मित किये जाते हैं। एक पृथिवी एवं दूसरा द्यौ (स्वर्ग) का प्रतीक होता है। दोनों पात्रों पर अष्ट दिक्पालों, लोकपालों, चार वेदों, ६ वेदांगों की स्वर्णाकृतियाँ रख दी जाती हैं। मध्य में ब्रह्मा शिव, विष्णु एवं सूर्य के ऊपर उमा, लक्ष्मी, वस्तुओं एवं आदित्यों की आकृतियाँ पात्र के भीतर रखकर दोनों पात्र रेशमी वस्त्र से आवेष्टित कर तिल पात्र पर रख दिये जाते हैं। १८ प्रकार के अन्न, दस घट स्वर्ण जटित सींगों वाली दस गायें, दस कांस्य पात्र, आसन, स्वर्ण, उपानह आदि दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ ब्रह्माण्ड पात्र के साथ दान में दी जानी चाहिए।

कल्पपादप या कल्पवृक्ष[2]—सामर्थ्य के अनुसार स्वर्ण निर्मित कल्पवृक्ष के साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं सूर्य की प्रतिमायें रखी जाती हैं। वृक्ष में ५ शाखायें रहती हैं। कल्पवृक्ष के नीचे कामदेव और उनकी ४ स्त्रियों की प्रतिमायें रखी जाती हैं। १८ प्रकार के अन्न, ८ जल पूर्ण कलश, वस्त्र, दीपक आदि सामग्रियाँ सन्तानहीन पुरुष एवं स्त्री संसार सागर को पार करने के लिये दान में देते हैं।

गोसहस्र—एक हजार गायों में से दस गाय चुनकर उन्हें वस्त्र से सुसज्जित कर देना चाहिए। बीच में नन्दिकेश्वर स्वरूप बैल को स्वर्ण घंटी, वस्त्र आदि से सुसज्जित कर खड़ा करना चाहिए। वेदी पर एक स्वर्ण निर्मित नन्दी जो धर्म की प्रतिमूर्ति माना जाता है, उसका पूजन किया जाता है। यह महादान शिव लोक की प्राप्ति के लिये किया जाता है।

कामधेनु[3]—एक गाय एवं एक बछड़ा की स्वर्णाकृति काले मृग चर्म से आच्छादित वेदी पर रखा जाता है। जल पूर्ण घट, वस्त्र, दीप, १८ प्रकार के अन्न भी साथ में दान दिये जाते हैं।

हिरण्याश्व[4]—मृगचर्म से आच्छादित वेदी पर तिल रखनी चाहिए। स्वर्ण निर्मित अश्व का पूजन करना चाहिए। यह हिरण्याश्व गुरु को दान देना चाहिए।

१—मत्स्य-२७६ अ०

२—लिंगपुराण २।३३, मत्स्य पु० २७७ अ०

३—मत्स्य पुराण २७९ अ०, लिंग २।३५

४—मत्स्य २८० अ०

हिरण्याश्वरथ[१]—एक स्वर्ण रथ का निर्माण होना चाहिए, जो सात या चार घोड़ों, चार पहियों एवं ध्वजा से संयुक्त हो। ध्वजा पर नीला कलश हो। चार मंगल घट एवं गाय का दान भी इसके साथ किया जाता है।

हेमहस्तिरथ[२]—चार चक्कों का रथ, जिसमें चार हाथी लगे हों, जिसके अन्दर लोकपाल, ब्रह्मा, शिव, सूर्य, नारायण, लक्ष्मी एवं पुष्टि की स्वर्णाकृतियाँ विराजमान रहती हैं। स्वर्णिक रथ के ध्वज पर गरुड एवं स्तम्भ पर गणेश की आकृति होनी चाहिए। आवाहन पूजन के बाद यह रथ मूर्तियों सहित दान दिया जाता है।

पञ्चलांगलक[३]—लकड़ी के पाँच हल स्वर्ण निर्मित ५ फाल से संयुक्त हों। दस बैल हों जो आभूषण से मण्डित हों। सामर्थ्य के अनुसार कुछ भूमि के साथ उपर्युक्त वस्तुओं का दान करना चाहिए। ब्राह्मण दम्पति को आभूषण, वस्त्र आदि से मण्डित कर पूजन भी करना चाहिए।

धरादान—(हैमधरादान) सामर्थ्य के अनुसार स्वर्ण निर्मित पृथिवी जिसपर पर्वत आदि आकृतियाँ बनी रहती हैं, का आवाहन एवं पूजन कर दान देना चाहिए।

विश्वचक्र[४]—एक स्वर्ण चक्र जिसमें १६ आर तिलियाँ, ८ मण्डल (परिधि) होते हैं। प्रत्येक मण्डल पर आकृतियाँ बनी होती हैं। शंख चक्रधारी विष्णु के साथ ८ देवियाँ प्रथम मण्डल के मध्य भाग में, अत्रि, भृगु आदि दशावतारों की आकृतियाँ दूसरे मण्डल में, तीसरे में गौरी आदि देवियों, चौथे में १२ आदित्यों एवं चार वेदों की आकृतियाँ, पाँचवें पर पाँच भूतों (क्षिति, जल, पावक आदि) एवं ११ रुद्रों की प्रत्याकृतियाँ, छठे पर अष्ट लोकपाल एवं दिशाओं की आकृतियाँ, सातवें पर आठ अस्त्र-शस्त्रों के साथ ८ मांगलिक वस्तुओं की आकृतियाँ तथा आठवें पर सीमा के देवताओं की आकृतियाँ बनाई जाती हैं। विभिन्न देवाकृतियों से सुसज्जित विश्व चक्र पूजनोपरान्त दान दिया जाता है।

१—मत्स्य पुराण २८१ अ०

२—मत्स्य २८३ अ०

३—मत्स्य २८३ अ०

४—मत्स्य पुराण २८५ अध्याय

महाकल्पलता[१]—दसस्वर्णनिर्मित कल्पलतायें पुष्प-फल समन्वित होनी चाहिए। वेदी के मध्य भाग में दो कल्पलता की प्रतिमायें, आठ दिशाओं में शेष प्रतिमायें रखकर दस गायें, दस घटों के साथ पूजन करना चाहिए। पूजनोपरान्त गुरु एवं पुरोहित को प्रतिमायें दे देनी चाहिए।

अर्थ

द्वितीय पुरुषार्थ का नाम अर्थ है। धर्मद्रुम को आच्छादित करने वाले पत्र (पत्तें) हैं। कौटिल्य ने अर्थ की महत्ता सर्वोपरि बतलाई है। धर्म और काम का मूल अर्थ को माना है।[२] अर्थ की आवश्यकता सभी को है, क्योंकि सुख का मूल धर्म है एवं धर्म का मूल अर्थ है।[३] इसी कारण अर्थ की परिभाषा है 'अभिलषित वस्तु जिसको सभी प्राप्त करना चाहते हैं।[४] व्यक्ति एवं समाज के द्वारा इच्छा की सन्तुष्टि के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक हैं, वे अर्थ या पुरुषार्थ को परिधि में आती हैं।

परिभाषा—चाणक्य ने अर्थ का मूल वृत्ति को माना है।[५] जिससे प्राणियों की जीविका चले, उस वस्तु को अर्थ नाम से अभिहित किया जाता है। भूमि, धन, द्रव्य, विद्या, कृषि, कला एवं पशुपालन जो जीविका के साधन हैं, अर्थ की श्रेणी में आते हैं। प्रजा पालन में जो वस्तु सहायक हो, उसे अर्थ की संज्ञा दी जाती थी। कामन्दकीय में जीविका के समस्त उपकरण अर्थ माने गए हैं।[७]

महर्षि वात्स्यायन ने विद्या, भूमि, स्वर्ण, रजत, पशु, धन-धान्य, बर्तन-भाँड, लकड़ी-लोहे का सामान, ओढने और बिछाने का सामान, गृहस्थी के उपकरण, मित्र द्वारा अर्जित धन और उसकी वृद्धि, सभी को धन की श्रेणी में रखा है।[८]

१—मत्स्य पुराण २८६ अध्याय

२—अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूली धर्मकामौ। (कौटिल्य अर्थ)

३—सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलम् अर्थः। (चा० सू० १-१, २)

४—अर्थ्यते प्रवर्तते लोभः। (चा० सू० ७ अ० २८) अर्थ्यते सर्वैः इति अर्थः, 'अर्थ्यते प्रार्थ्यते इति अर्थः'।

५—वृत्तिमूलम्—अर्थः। (चा० सू० १—८९.)

६—पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि (को० अर्थ० सूत्र १)

७—अर्थः जीविकोपकरणम्। (बा० नी० ५-६२. उ० नि० टीका)

८—विद्याभूमि-हिरण्य-पशु-धन-धान्य-भाण्डोपस्कर—
विद्यादीनाम् अर्जनम्, अर्जितस्य च विवर्धनम् अर्थः॥ (कामसूत्र-१ अ०)

महाभारत अर्थशास्त्र, कर्त्तव्यशास्त्र या परम व्यवहार का शास्त्र माना जाता है। जीविका के समस्त साधनभूत कर्म अर्थ प्राप्ति के साधन माने जाते हैं।[१] चाणक्य के अनुसार मनुष्यों के सभी कार्य अर्थमूलक हैं।

अर्थ के अवयव के रूप में धर्म और काम को महाभारत ने माना है। अर्थ की सिद्धि से इन दोनों की सिद्धि हो जाती है।[२]

भूमि और अर्थ का सम्बन्ध

पृथ्वी समस्त कर्मों की आधारशिला है। जीविका के समस्त साधन भूमि से ही जन्म लेते हैं। इसी कारण कौटिल्य ने भूमि को ही अर्थ कहा है।[३] मही की महिमा अपार है। जीवन के समस्त उपयोगी पदार्थ पृथ्वी से ही उद्भूत होते हैं। अतः भूमि (पृथ्वी) प्रधान अर्थ है। चाणक्य ने अन्न से बढ़कर दूसरा अर्थ नहीं माना।[४] अन्न रूपी अर्थ की वृद्धि के लिये तैत्तरीय उपनिषद् में शिक्षा दी गई है कि 'अन्न को बढ़ाना चाहिए।'[५] महर्षि शुक्राचार्य ने पृथिवी को सभी दुखों की खान माना है।[६] रत्नगर्भा वसुन्धरा क्या-क्या नहीं देती है। अर्थात् वह अपने प्रिय एवं अप्रिय पुत्रों को समान रूप से जीवन का आधार देती है। जन्म से मृत्यु तक आश्रय देती है।

धन की परिभाषा—धन शब्द की व्युत्पत्ति 'धिनोति इति धनम्' की जाती है। प्रसिद्ध वैदिक ग्रंथ निरुक्त में महर्षि यास्क ने धन का निर्वचन करते समय इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला है कि अर्थ को धन क्यों कहते हैं ?[७] वस्तुतः धन सबको

१—कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते।
कृषि-वाणिज्य-गोरक्ष्यं शिल्पानि विविधानि च ॥ (शा० प० १५७।११)
अर्थमूलम् कार्यम् (पा०-सू० २-१)

२—अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणां व्यतिक्रमः।
न ह्यृतेऽर्थेन वर्तंते धर्मकामाविति श्रुतिः ॥
अर्थस्यावभवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः।
अर्थसिद्धया विनिवृत्तावुभावेतौ भविष्यतः ॥ (म० भा० शा० प० १६७।१२)

३—·······मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः (कौ० अर्थ०–१५।१)

४—'न हि धान्यसमो ह्यर्थः (चा० सू० ४-८३)

५—अन्नं बहु कुर्वीत (तै० उप० २, ९-१)

६—खनिः सर्व जनस्येयं देव-दैत्य-विमर्दिनी।

७—धनं कस्मात् ? धिनोतीति यतः (निरुक्त ३ अ० २ पाद ३ खण्ड,

तृप्त करता है। इसलिए धिनोति शब्द सार्थक है। धन के स्वरूप को बतलाने वाला दूसरा शब्द दधन्ति है[1] जिसका प्रयोग फलति अर्थ में किया है। चूँकि फलने वाली वस्तु धन की श्रेणी में आती है। अतः अन्न हो, भूमि हो या विद्या हो हर फल देने वाली वस्तु धन की परिधि में है। धन का पर्यायवाची शब्द वित्त है। जिसका शाब्दिक अर्थ है, दान और उपभोग में आने वाली वस्तु।[2]

अर्थ की महिमा—व्यवहार में प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है कि मनुष्यों में चाहें कितने भी दुर्गुण हों किन्तु अर्थ में वह शक्ति है कि गुणहीन[3] व्यक्ति को भी बड़े-बड़े गुणियों का पूज्य बना देता है। अतएव मनुष्य अर्थ का दास है। अर्थ किसी का दास नहीं है। तभी तो भीष्म पितामह जैसे जितेन्द्रिय पुरुष, बाल-ब्रह्मचारी को भी अधर्मियों (कौरवों) ने अर्थ से बाँध लिया था। इसी कारण वितरागी संन्यासी भी धनवान लोगों के चाटुकार बन जाते हैं।[4] धन के अभाव में धर्म भी नहीं किया जा सकता है और धर्म के अभाव में सुख की प्राप्ति भी दुष्कर है।[5] **श्रीमद्भागवत** में अर्थोपार्जन का प्रयोजन एकमात्र धर्म बतलाया गया है। भोग-विलास के लिये ही धन नहीं है अर्थात् धन का मुख्य प्रयोजन भोगविलास न मान कर धर्म मानना भागवतकार का अभीष्ट है।

धर्म एवं काम के बीच में अर्थ का स्थान है। दोनों को अर्थ से ही शक्ति मिलती है। अर्थ के अभाव में दोनों पंगु बन जाते हैं। जैसे स्त्री के विना गार्हस्थ्य जीवन सफल नहीं हो सकता। उसी भाँति अर्थ के विना धर्म और काम निष्क्रिय हो जाते हैं।[7] अर्थवान् का सम्मान सभी लोग करते हैं।[8] अर्थ रहित रहने पर अपनी पत्नी भी आदर नहीं देती है।[9] धन की महिमा अपार है। धनहीन के लिये सुन्दर

१—दधन्ति (फलति) इति धनम्।

२—वित्तते त्यज्यते इति वित्तम्।

३—अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥ (म० भा०, भीष्म-पर्व)

४—धनिनो यतयोऽपि चाटुकाराः (नी० वा० व्यव० समु० ४४)

५—धनाद् धर्मः ततः सुखम्।

६—नार्थस्य जनैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः (श्री मद्भागवत १।२।९)

७—अर्थाद् धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापि भवेन्नृणाम्।
शस्त्रास्त्राभ्यां विना शौर्यं गार्हस्थ्यं तु स्त्रियं विना॥ (शु० नी० १-८४)

८—अर्थवान् सर्वलोकस्य बहु-सम्मतः (चा० सू० ४-१२)

९—अधनः स्वभार्ययापि अवमन्यते। (चा० सू० ४।६०)

नगर भी श्मसान है तथा धनवान् के लिए निर्जन अरण्य भी राजधानी तुल्य है।[१] अर्थवान् का सभी लोग सम्मान करते हैं। अगर देवराज इन्द्र भी अर्थ-विहीन हो जाय तो वह आदर का पात्र नहीं रह पायेगा। प्राचीन साहित्य में अर्थ की महती महिमा गायी गई है। चाणक्य ने अर्थवान् की सही स्थिति का निरूपण किया है। अर्थवान् किसी को कुछ नहीं भी दे तो भी लोग उसका आदर करते हैं।[२] अतः अर्थ की सीमा में सभी गुण विद्यमान हैं। धन-संग्रह की एषणा सभी करते हैं, क्योंकि अर्थोपार्जन के बिना कोई कार्य सुसम्पादित नहीं होता है।

अर्थ की प्राप्ति एवं उसकी रक्षा के साधन

सभी गुण काञ्चन में निहित हैं। किन्तु काञ्चन (धन) की रक्षा होने से, वह सुखकारी होता है। धन मनुष्य को कुमार्ग पर ले जा सकता है, मनुष्य में मद भर सकता है। एवं लक्ष्य से विमुख कर सकता है। अतः शास्त्रकारों ने धन प्राप्त करने के लिए इन्द्रियसंयम पर बल दिया है। यह समीचीन भी है कि पहले उसके योग्य बनो फिर उसको पाने की अभिलाषा करो।[४] धन का शील के साथ अटूट सम्बन्ध हैं। मनुस्मृतिकार ने मन एवं इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाले को सभी पुरुषार्थ को पाने वाला बतलाया है।

अर्थ की रक्षा, उपार्जन की पद्धति पर भी, आश्रित है। अर्थोपार्जन अगर शुद्ध एवं धार्मिक रीति से किया जाय तो वह सुखकारी होता है। संयमी एवं शीलवान् या विनयी बन कर अर्थोपार्जन करने के पीछे शास्त्रोंकारों की मनसा थी कि शुद्ध मार्ग से धनोपार्जन किया जाय। असंयमी होकर अशुद्ध रीति से अर्थोपार्जन करने वाला व्यक्ति पथभ्रष्ट हो सकता है। वैसा अर्थ अनर्थ का कारण बन सकता है।

धन-सम्पदा की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी को माना जाता है। लक्ष्मी उद्योगी पुरुष पर ही अपनी विशेष कृपा दिखलाती हैं।[५] अतः अर्थ की जननी उद्यम या

१—अधनस्या बान्धवस्य……भूमिर्भवति महाटवी।
श्रीमतो भवत्यष्यमपि राजधानी (ना० वा० अर्थ समुद्देश)

२—अदातारमपि अर्थवन्तम् अर्थिनो न त्यजन्ति। (चा० सू० ४२६)

३—सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।

४—वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थान् अक्षिण्वन्योगतस्तनुम्॥ —मनुस्मृति २।१००

५—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।

उद्योग है। उद्यम की सृष्टि मनुष्य के मस्तिष्क के भाव जगत में होती है। बुद्धिमान या विवेकशील पुरुष उद्योग के द्वारा ही लक्ष्मी का वरण करते हैं।

कभी-कभी उद्यम निरर्थक चला जाता है या उद्योग में घाटा लग जाता है। ऐसी स्थिति को विष्णु पुराण में भाग्यहीन शब्द से अभिहित किया गया है।[1] दुर्भाग्य से कभी उद्यम निष्फल हो भी जाय तो उद्यम का परित्याग करना दूरदर्शिता नहीं कही जा सकती। उद्यम से ही तो प्रारब्ध या अदृष्ट (भाग्य) का निर्माण होता है। यही कारण है कि योग्य विद्वान् कभी अर्थहीनता की स्थिति से गुजरते हैं और अल्पज्ञ अनायास आशातीत धन-वृद्धि कर लेता है। मानव जीवन की ऐसी अनेक घटनाएं समाज के असंख्य लोगों को स्मरण दिलाती हैं कि सुकर्म, सद्विचार सत्पात्र के लिए त्याग एवं धर्मानुष्ठान समय आने पर फल प्रदान करते ही हैं। उसी भाँति दुष्कर्म, कुकर्म, ईर्षा, द्रोह एवं मोह आदि अपने समय से दुष्परिणाम उपस्थित करते ही हैं। अतः बुद्धि सत्कर्म में ही लगी रहे इसके लिए धर्म की आवश्यकता है। जिस भाँति ऊसर भूमि को भी खार उर्वर बना देते हैं उसी भाँति अर्थहीन जीवन को भी 'तप' से 'अर्थवान्' बनाया जा सकता है। 'तप' में वह शक्ति है कि वह सभी कमी को पूर्ण कर सकता है। अतः तप, तितिक्षा एवं त्याग (सन्ताप का) मानव जीवन को अक्षय सुख, समृद्धि एवं सम्पदा से भर देते हैं।[2] महाभारत का स्पष्ट निर्देश है कि भाग्यहीन को धनेच्छा के लिये और अधिक उग्र तप करना चाहिए।[3] अर्थहीन पुरुष के लिए शिवपुराण में दो मार्ग बतलाये गए हैं, जिससे वह अभिलषित धन प्राप्त कर सके। पहला मार्ग तप का है और दूसरा तीर्थाटन का है।[4]

तप एवं तीर्थाटन में प्रवृति सबकी नहीं हो सकती है। जिसका हृदय स्वच्छ है, मन सुलझा हुआ है अर्थात् जिसके पास सद्विवेक या सद्बुद्धि है, उसके धन की वृद्धि होती रहती है।

१—सर्व एव महाभाग महत्त्वं प्रति सोद्यमाः तथापि पुंसा भाग्यानि, नोद्यमा भूति हेतवः (विष्णुपु० १।१९।४४)।

२—यस्तु भावयते धर्मं योऽतिमात्रं तितिक्षति ।
यश्च तप्तो न तपित भृधं सोऽर्थस्य भाजनम् (मत्स्य पु० २८।५)।

३—ईहमानः समारम्भान यदि नासादयेद् धनम् ।
उग्रं तपः समारोहेन्न ह्यनुप्तं प्ररोहति" । (अनु० प० १३३।११)

४—अर्थहीनः सदा कुर्यात् तपसा मार्जनं तथा ।
तीर्थाच्च तपसा प्राप्य सुखमक्षय्यमश्नुते ।। (वि० सं० १-१-६२)

भागवतकार की दृष्टि में सद्बुद्धि से ही धन की वृद्धि होती है।[1] इस प्रकार शास्त्रों में धनोपार्जन के लिये उद्यम या उद्योग की बहुत चर्चा है। नियमानुसार जो उद्यम करता है वह अभिलषित वस्तु को निश्चय ही प्राप्त करता है। शास्त्र-निर्धारित मर्यादा के अन्तर्गत शास्त्रानुकूल उद्यम करने वाले के पास अर्थ का आगमन उसी भाँति होता है जैसे रत्नों का आगमन रत्नाकर में।[2]

उचित उद्यम में मन की प्रवृत्ति हो, इस कार्य के लिये सद्बुद्धि की आवश्यता है। चंचल मन एवं अतृप्त इन्द्रियों को नियंत्रित करने की शक्ति होनी चाहिए। वह शक्ति धार्मिक विचारों, कार्यों एवं अनुष्ठानों से उपलब्ध होती है। त्रिपुर रहस्य के ज्ञानकाण्ड में श्रद्धा के साथ किये उद्योग को अभीष्ट फलदायक बतलाया है।[3]

अर्थ-प्राप्ति शनैः-शनैः होती है। चंचल मन यदि कौड़ी पति से लक्षपति बनने के लिए व्यग्र हो तो सम्भव है कि मनुष्य सत्पथ को छोड़कर कुपथगामी हो जाय। इसीलिये हमारे शास्त्र शनैः शनैः अर्थ प्राप्ति को महत्त्व देते हैं।[4] अर्थ का धृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। धैर्य रहित पुरुष उद्यम का पूर्ण फल भी नहीं प्राप्त करता है। प्राप्त अर्थ का विनियोग भी उचित रीति से नहीं कर पाता। एतदर्थ धैर्य (सन्तोष) को भी धन की श्रेणी में रखा गया है। महाकवि तुलसीदास ने सभी सन्तोषीजन को महान् माना है।

धैर्य जीवन का एक साधन है। मनुस्मृति में जीवन के दस साधन अर्थात् जीविका के दस प्रधान साधन गिनाए गये हैं, उनमें एक धैर्य भी है।[5] मनुष्य जीवन में ठोकर खाता है। जीवन के कठिन काल में कष्टों से व्याकुल होकर जीने की अभिलाषा भी त्याग देता है। ऐसी अकुलाहट में धैर्य जीवन-रक्षा करता है। ठोकर (अपमान) से मनुष्य कुछ शिक्षा ग्रहण करता है। भविष्य में सद्वृत्तियों की अवहेलना करने वाले मनुष्य का इतिहास अधिकतर असफलताओं का इतिहास है।

१—भागवत-(४।१।५१)

२—यथाशास्त्रमनुच्छिन्नां मर्यादां स्वामनुज्झनाः।
उपातिष्ठन्ति सर्वाणि रत्नान्यम्बु निधाविव ॥ (योग० वा० मु० प्र० ७-३१)

३—श्रद्धया पौरुषरो न विपद्येतसर्वदा।
दृढ पौरुषमाश्रित्य स प्राप्येत यथा फलम् ॥ (त्रि० र० ज्ञा०)

४—शनैरर्थानारोहेत् पर्वतं शनैः। (ना० शि०)

१—जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान। (तुलसीदास)

२—विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवन-हेतवः ॥ (म० स्मृ० १०-११६)

मानव-शरीर का स्वाभाविक गुण है, अधिक से अधिक सुख-प्राप्ति करना। सुख की लालसा से अर्थ संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। इन्द्रिय-सुख को लक्ष्य मानकर जो अर्थोपार्जन करता है, वह क्षणिक सुख की अनुभूति कर सकता है, पर अपने लक्ष्य को भूल जाता है। इसलिये चार पुरुषार्थों में पहला स्थान धर्म का रखा गया। अर्थ-प्राप्ति धर्मानुकूल हो। दुराचार, मिथ्याचार, असत्य-प्रलाप-एवं हिंसा आदि दुष्कर्मों के द्वारा प्राप्त अर्थ, मन, इन्द्रिय एवं शरीर को पवित्र नहीं रख सकते। यह असम्भव सा प्रतीत होता है कि अपवित्र आचरण से अर्थोपार्जन करने वाला व्यक्ति धार्मिक-जीवन का रसास्वादन करे। दुष्कर्मों से प्राप्त धन द्वारा धार्मिक कार्य करने वाले व्यक्ति दूसरों को ठगने के लिये या धार्मिकता के नाम जनसमुदाय को आकृष्ट करने के लिये मिथ्या कार्य करते हैं। अतः सत्कर्म से उपार्जित धन ही सुखदायक होता है।[१] उसी व्यक्ति को पवित्र आचरण वाला कह सकते हैं जो लेन-देन में पवित्र हो। जल से पवित्र होने वाले व्यक्ति को पवित्र नहीं कहते, अर्थ के मामले में जो पवित्र हो वही स्वच्छ (शुचि) कहलाता है। शुद्धरीति से उपार्जित धन एवं सत्पात्र को जो धन दिया जाता है उस धन में वृद्धि होती है।[३]

अर्थ के दोष

शास्त्रकारों ने अनेक स्थलों पर अर्थ को अनर्थकारी सिद्ध किया है। अर्थ और काम नियंत्रित रहकर सुखदायक स्थिति उत्पन्न करते हैं, अनियंत्रित रहकर हिंसा, अनृत, स्नेह आदि भावों को जन्म देते हैं। अतः अर्थ एवं काम को उपर्युक्त दोषों का कारण माना है।[४] जिस प्रकार सुन्दर स्त्री के दर्शन मात्र से चित्त में हलचल पैदा हो जाती हैं, उसी भाँति द्रव्य के आगमन को देखकर या परद्रव्य को देखकर किसका मन विचलित नहीं होता ? जिसका हृदय पर स्त्री, द्रव्य और पर हिंसा की इच्छा नहीं करता, वह सचमुच पुण्यात्मा है।[५]

अर्थ के साथ-साथ लोभ सम्पृक्त रहता है। अतः विद्वान् लोभ रहित होकर अर्थ ग्रहण करते हैं और मतिमन्द अर्थ प्राप्ति के साथ-साथ लोभ को और प्रज्वलित

१—सुखं विद्यात् सुवृत्तितः। (शि० पु० ११।१५८)
२—योऽर्थे शुचिः सशुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः (शु० नी० २-६३)
३—सुपात्रो गृहतं यद् दत्तं वा वर्धते च तत् (शु० नी०)
४—मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुष्यः। (किरात० ११।२०)
५—परपत्नी परद्रव्यपरहिंसासु यो मतिम्।
न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः (वि० पु० ३।८।१४)

कर देते हैं। लोभ की पत्नी तृष्णा है, वह अपनी माया से मानव-मति को आच्छादित कर देती है।[1] मनुस्मृति में अर्थ के दोषों से बचने के लिये कई बार स्मरण दिलाया गया है कि दोषपूर्ण (अधार्मिक रीति से) अर्थोपार्जन नहीं करना चाहिए।

अर्थ यदि धर्म विरुद्ध रीति से प्राप्तव्य है भी तो उसका परित्याग करना चाहिए।[2] अर्थोपार्जन के पूर्व अर्थगत दोषों से बचने के लिए विद्या-विनय एवं सत्पात्रता की आवश्यकता है।[3] गीता का उपदेश है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्तुमिहार्हसि ॥

—(गीता-१८ अं)

शास्त्रोक्त कर्म करने के लिये शास्त्र ज्ञान आवश्यक है। शास्त्रीय रीति से जो धनोपार्जन करेगा, उसमें दोष का स्थान कहाँ ? महाभारत भी इस तथ्य का समर्थन करता है—

धर्मार्थावऽध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत्।

—(शा० प० ७१-७३)

जो शास्त्र-ज्ञान नहीं रखता और न शास्त्र पर निष्ठा रखता है उसके धर्म एवं अर्थ दोनों अस्थिर होते हैं। धर्म से आवेष्टित अर्थ दोष रहित होता है। मनु की उक्ति है—

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं ते हासौ सुखमेधते ॥

—(मनु० ४।१७०)

धन रहते हुए भी तीन प्रकार के लोग सुखी नहीं हो सकते—(१) जो अधार्मिक हो, (२) जो अशुद्धरीति से अर्थोपार्जन किये हों। (३) जो हमेशा हिंसा में रत रहता हो। ऐसे लोग धन पाकर भी सुखी नहीं हो सकते। अतः महाभारत

'धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते' ॥

—(शा० प० १२३-४)

की यह पंक्ति हमेशा याद दिलाती है कि अर्थगत दोषों से बचने के लिए धर्मानुसार ही अर्थोपार्जन करना श्रेयस्कर है।

१—तृष्णया मतिश्छाद्यते। (चा० सू०)

२—परित्यजेदर्थकामौ यौस्यातां धर्मवर्जितौ।

३—विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मः ततः सुखम् ॥

दूषित धन मधु-मिश्रित विषतुल्य है। वैसा धन अर्जन करने वाले को ही नष्ट कर देता है। अतः धन के प्रति लोलुप दृष्टि न रखने की शिक्षा हमारा शास्त्र देता है। आदि काल से इस धरा पर वेद के स्वर गूँज रहे हैं—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यचिद् धनम्॥ (ई० ३०१)

इस संसार में सब कुछ ईश्वरोय शक्ति से नियंत्रित है। ईश्वर की कला सर्वत्र व्याप्त है, अतः सम्पूर्ण जगत् ईशावास्य है; ईश्वर द्वारा वासित है, अभिव्याप्त है। यह प्रमाण सिद्ध तथ्य है।

वैदिक वाङ्मय में गति एवं अगति को ब्रह्मोदन एवं प्रवर्ग्य नामों से पुकारते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पत्ति इसी गति-अगति नामक यज्ञ (सर्वहुत यज्ञ) से होती है। प्रत्येक पदार्थ में बाहरी तत्त्व का एक अंश उस पदार्थ के स्वरूप में प्रविष्ट होकर, उस पदार्थ का पोषण करता है। तत्त्व का दूसरा अंश पदार्थ द्वारा व्यक्त होता है।

महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने 'ब्रह्मोदन एवं प्रवर्ग्य' रूप दो संज्ञाओं को समझाने के लिये अत्यन्त रोचक उदाहरण दिया है—

प्रतिदिन जो कुछ हम भोजन करते हैं उस भोजन के जिस अंश से शरीर का पोषण होता है उसे 'ब्रह्मोदन' कहा जाता है और जो अंश मल रूप से बाहर निकल जाता है उसे प्रवर्ग्य (उच्छिष्ट) कहते हैं। इसी प्रकार सूर्य की किरणों से जो ताप निकलता है, उसका कुछ भाग 'ब्रह्मोदन' के रूप में सूर्य के संरक्षण में लग जाता है, शेष भाग उष्ण रूप में फैलकर नाना वनस्पति एवं औषधि को उत्पन्न करता है।

शास्त्र कहता है कि ईश के केन्द्र से जो त्यक्त हो चुका है वही हमारा भोग्य है। जो ईश्वर द्वारा आक्रान्त है वह हमारी भोग सीमा से बहिर्भूत है। कौन-सा पदार्थ किसकी भोग सीमा के अन्तर्गत है, इसका ज्ञान कर्म सिद्धान्त कराता है। जिसकी तर्कपूर्ण विवेचना धर्मशास्त्रोय ग्रन्थों में की गई है। शास्त्र कहता है कि किसी अन्य के उपभोग्य धन का ग्रहण मत करो। अर्थ की तीन गति होती हैं। दान, भोग एवं नाश। दान एवं उचित रीति से जो उसका उपभोग नहीं करता उसका अर्थ तृतीय गति (नाश) को प्राप्त होता है। यथा—

"दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ।।"

(भर्तृहरि-नीति-शतकम्)

अर्थ की प्राप्ति शुद्ध रीति से की जाय एवं उसका उचित विनियोग कर दिया जाय। हमारा शास्त्र सदा शिक्षा देता है कि उपार्जित अर्थ का उपभोग या विनियोग न करने पर वह दोषपूर्ण (मलीन) हो जाता है। यथा—

'मलोऽर्थस्य निगूहनम्' (मा० भा० शा० प०)

दोषपूर्ण अर्थ मोह को उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में अर्थ अनर्थ का कारण हो जाता है।

अर्थ के साथ एक दोष सदा निवास करता है, वह है दर्प। अर्थ और दर्प मिलकर ही व्यक्ति का विनाश करते हैं। दर्प (अहङ्कार) की उत्पत्ति उस व्यक्ति के मन में होती है जो अर्थ से सुख, समृद्धि की प्राप्ति कर अत्यधिक आनन्द की अभिव्यक्ति करता है। ऐसे व्यक्ति दुर्लभ हैं जो धनवान् होकर भी मदोन्मत्त न हों। नीति कहती है कि अति-वृद्धि को प्राप्त हुई लक्ष्मी, किसके मन में मद (दर्प) नहीं भर (उत्पन्न कर) देती। यथा—

अतिप्रवृद्धा श्रीः कं न दर्पयति ?

—(सोमदेव सूरी—नी० वा० अ० स०)

दर्प से व्यक्ति उचित-अनुचित का विवेक खो देता है। धर्म का अतिक्रमण करने लगता है। फलस्वरूप व्यक्ति वैसे धन से पतनोन्मुख होकर नष्ट हो जाता है। हिन्दू शास्त्रकारों ने सदा सावधान किया है कि मद को मत आने दो। क्योंकि हैहय, वेन, नहुष एवं रावण आदि आदि अनेक देवता, दैत्य एवं नरपति लक्ष्मी के मद के कारण नष्ट हो गये। यथा—

हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे।
श्रीमदाद् भ्रंशिताः स्थानाद् देवदैत्यनरेश्वराः।।

(भाग० १०-७३-२०)

शरीर के अनेक शत्रु हैं। जरा—रूप के लिये, धैर्य—आशा के लिये, मृत्यु—प्राण के लिये, धर्मचर्या—असूया के लिये, काम—लज्जा के लिये, वृत्ति—अनार्य सेवा के लिये, क्रोध—कीर्ति के लिये शत्रु के समान हैं। किन्तु अभिमान से बढ़कर कोई दुश्मन नहीं है; क्योंकि वह सब कुछ हर लेता है। यथा—

जरा रूपं हरति, धैर्यमाशा, मृत्युः प्राणान्, धर्मचर्यामसूया।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा, क्रोधः श्रियं, सर्वमेवाभिमानः॥

दोषयुक्त अर्थ से १५ अनर्थ जन्म लेते हैं। श्रीमद्भागवतकार ने अर्थ को प्राप्त करने में, रखने में, बढ़ाने में, खर्च करने में या उपभोग करने में एवं नाश होने में सदा सावधान रहने की शिक्षा दी है। मद या मोह से अर्थ असम्पृक्त रहे, इसी कारण १५ अनर्थ गिनाये गये हैं। यथा—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशाऽनर्था अर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
(भाग० ११।२३.१७, १८)

शिष्ट जन अर्थ को दोषयुक्त नहीं होने देते। धर्मबुद्धि के साथ उसका उचित विनियोग या उपभोग कर डालते हैं।

अर्थ एवं धर्म का सम्बन्ध

धर्म अर्थ से सम्पन्न हो एवं अर्थ धर्मानुकूल हो तब दोनों एक दूसरे के स्रोत बन सकते हैं। अर्थ प्राप्ति के साथ संयमित मन को धर्माचरण में लगाना आवश्यक है ताकि दोनों एक दूसरे के पूरक बने रहें। अर्थ की प्राप्ति शुद्ध रीति से की जाय तो बुद्धि में पवित्र भाव जगते हैं। भागवत में ब्रह्माणु को महान् वृक्ष कहा गया है जिस पर असंख्य जीव हैं। उसका मूल एकमात्र भगवान् हैं। भगवदर्चना से सभी जीवात्माओं की तृप्ति हो जाती है।[1] भागवत की ही उक्ति है कि—

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च।
अन्नं संविभजन् पश्येत् सर्वं तत् पुरुषात्मकम्॥
(७।१५।६)

अन्न का संविभाग करते समय देव, ऋषि, पितर, सभी जीव, स्वजन एवं स्वयं को भी परब्रह्म परमात्मा का ही स्वरूप मानना चाहिए। अर्थात् जो अपने उपार्जित धन से देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु-पक्षी, बन्धु-बान्धव तथा अपनी आत्मा को

१—जीवराशिभिराकीर्ण आण्डकोशाङ्घ्रियो महान्।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम्॥ भागवत् ७।१४।३६

सन्तुष्ट या तृप्त करता है, उसका धन ही अर्थ है। इसके विपरीत जो अर्थ व्याधि के समान अपने ही उपभोग में लाया जाय वह अनर्थ का कारण है। अर्थ एवं लोभ—अर्थ के साथ यदि किञ्चित् लोभ भी निवास करता है तो वह श्वित्र (कोढ़) के समान सर्वांग सुन्दर शरीर को भी कुरूप बना देता है।[1] विशुद्ध यशःकाय में लोभ श्वित्र के समान दाग लगा देता है।

ऋग्वेद में भी लोभ की जगह उदार प्रवृत्ति अपनाने की शिक्षा दी गई है। धन रहने पर धन के याचक को यथाशक्ति धन देना चाहिए। दूरदर्शी होना चाहिए। क्योंकि रथ के चक्के के समान धन आता जाता रहता है, अतः पुण्यार्जन न करना, प्रिय की सहायता न करना, अपने धन का स्वयं उपभोग करने वाला व्यक्ति केवल पाप कर्म करने वाला पापी ही कहलाता है। यह सत्य वचन है कि केवल स्वयं ही भोग करने वाला मूर्ख अर्थ (अन्न) का उपार्जन व्यर्थ ही करता है। यथा—

पृणीयादिद्ध नाधमानाय तव्यान्
द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा-
ऽन्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः॥

—ऋग्वेद १०।११७।५

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

—ऋग्वेद १०।११७।६

स्वतः प्राप्त धन

श्रीमद्भागवतकार ने शास्त्रानुकूल देय वस्तु का दान न करने वाले को और जो शास्त्रानुसार दान लेने का पात्र होकर भी दान न लें उसको मूढ की संज्ञा दी है।[2] अतः स्वयं प्राप्त हुए भोग का निरादर नहीं करना चाहिए। कृपण के

१—यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥ भाग० ११।२३।१६

२—द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ।
यल्लोक शास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति॥ —(श्रीमद्भागवत ४।२७।२५)

समक्ष याचना नहीं करनी चाहिए। ऐसा करने से दूसरे के तिरस्कार से यश नष्ट हो जाता है।[1] यह नीति वाक्य है कि—

'आगतमर्थं केनापि कारणेन नावधीरयेत्।'

किसी कारण भी आये हुए धन की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

अर्थ के व्यय में भूल

अधिकतर यह देखा जाता है कि उपलब्ध अर्थ को व्यय करने में पहली भूल होती है कि कुपात्र या अपात्र में धन का व्यय हो जाता है, अर्थात् निकृष्ट कर्म में अपव्यय हो जाता है। दूसरी भूल अर्थ के उपभोग के समय होती है कि सुपात्र को धन नहीं दिया जाना, अर्थात् सत्कर्म या सत्कार्य में अर्थ का व्यय न करना। महाभारतकार की स्पष्ट घोषणा है—

लब्धानामपि वित्तानां वोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रेऽप्रतिपत्तिश्च पात्रे चा प्रतिपादनम्॥

(शा० प० २६।३१)

यह यथार्थ है कि अपनी सामर्थ्य से अधिक व्यय करना एवं अकार्य में खर्च करना अर्थ दूषण कहा जाता है। जहाँ अर्थदूषण है, वहाँ सुख-शान्ति की कल्पना व्यर्थ है। राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का मूल कारण अर्थ दूषण ही है। विनाशक सामग्रियों में जितना व्यय होता है उतना सम्वर्द्धक सामग्रियों में नहीं किया जाता। फलस्वरूप वहाँ प्रेम की जगह पीड़ा है, सुख की जगह शंका है एवं धर्म की जगह आडम्बर पूर्ण अधर्म का नर्तन है।

अर्थ-संचय की उपयोगिता

शुक्र नीति में कृपण की तरह धन संचय करने की प्रशंसा की गई है परन्तु विरक्त की तरह व्यय करने की प्रशंसा की गई है—

'संरक्षयेत् कृपणवत् काले दद्याद् विरक्तवत्'

जीवन उसी का सार्थक है जिसने अर्थदूषण से मुक्त रहकर संचय और सदुपयोग का पाठ सीखा है। '**क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्, क्षण**

१—य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते।
क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः॥ वही ३।२२।१३

त्यागे कुतो विद्या कण त्यागे कुतो धनम्' व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करने वाला व्यक्ति अपने जीवन में अर्थ का विस्तार करता है। सद्बुद्धि से लक्ष्मी की वृद्धि होती है। दुर्व्यसनी एवं आलसी पुरुष को लक्ष्मी वैसे ही छोड़ देती हैं जिस तरह नपुंसक पुरुष को स्त्री त्याग देती है—

सत्त्वबुद्ध्युपपन्नोऽपि व्यसनग्रस्तमानसः।
श्रीभिः षण्ढ इव स्त्रीभिरलसः परिभूयते॥

(का० नीति० सा० १४।५।७)

अतः सुख की इच्छा रखने वाले व्यक्ति उपार्जित धन का तीन विभाग करें। धार्मिक एवं आर्थिक कार्यों का सम्पादन प्रथम विभाग से करें। द्वितीय विभाग से काम विषयक आवश्यकता की पूर्ति करें। तीसरे विभाग को अर्थ वृद्धि के कार्य में लगाना चाहिए। महाभारतकार का यही जीवनोपयोगी आदेश हैं—

धर्मेणार्थः समाहार्यो धर्मलब्धं त्रिधा धनम्।
कर्तव्यं धर्मपरमं मानवेन प्रयत्नतः॥
एकेनांशेन धर्माथौं कर्तव्यौ भूतिमिच्छिता।
एकेनांशेन कामार्थ एकमंशं विवर्धयेत्॥

पुरुषार्थ

पुरुष का स्वरूप—शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों की समष्टि पुरुष है। इसी स्वरूप सिद्धि के लिए जिस वस्तु की आवश्यकता है वही पुरुषार्थ है। शरीर के लिए अर्थ, मन के लिए काम, बुद्धि के लिए धर्म और आत्मा के लिए मोक्ष की आवश्यकता सात्विक आवश्यकता मानते हैं। मन का निर्माण चन्द्र से और बुद्धि का निर्माण सूर्य से होता है। जब बुद्धि मन की अनुगामिनी बन जाय तब मानव की प्रवृत्ति अधोगामी हो जाती है। जब मन इन्द्रियों सहित बुद्धि का अनुसरण करने लगता है तब वह ऊर्ध्वगामी बन जाता है। जो मन बुद्धि रूपी सूर्य के प्रकाश से पराङ्मुख हो जाता है वह कृष्णपक्ष के उस चन्द्रमा के समान है जिसे दिन-प्रतिदिन प्रकाश के क्षीण होने से अन्त में केवल अन्धकार में विलीन होना पड़ता है। अतः बुद्धि द्वारा नियंत्रित मन एवं इन्द्रियाँ ही सूर्य के समान तेजस्वी एवं देदीप्यमान बनने की प्रेरणा प्राप्त कर सकती हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

काम

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरभिन्दन् हृदा प्रतीच्या कवयो मनीषा ॥
—(ऋग्वेद)

काम मन का या चित्त का बीज है; वह ईश्वर के निष्काम हृदय में पहले—सदा से ही, वर्तमान है। तत्वदर्शी मनीषियों ने अपने हृदय में सबके बन्धु इस काम का दर्शन किया है। यह काम धर्मद्रुम का पुष्प है। काम को मन का एक संकल्प माना जाता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों (नेत्र, नासिका, कान, रसना और त्वचा) को पाँच विषयों (रूप, रस गन्ध, शब्द और स्पर्श) के सम्पर्क में आने से जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वही काम है—

इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च ।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ।
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम् ॥
—महा भा० वन० प०

नारी आदि प्रिय पदार्थों के स्पर्श एवं मूल्यवान वस्तु की उपलब्धि (संयोग) होने पर मन में एक विशिष्ट प्रीति होती है, वह चित्त का एक सङ्कल्प ही काम है। उसका कोई शरीर (रूप-आकार) नहीं होता है—

द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते ।
स कामश्चित्तसङ्कल्पः शरीरं नास्य दृश्यते ॥
—वनपर्व ३३।३

हमारे प्राचीन साहित्य में काम को तीन अर्थों में अभिव्यक्त किया गया है—(१) सुख, (२) सुख के साधन, (३) सुख की कामना। इस प्रकार काम स्वयं सुखस्वरूप है, सुख का प्रधान साधन है—तथा सुख के लिये अभिप्सित पदार्थ भी है।

विषयों का उपभोग करने से चित्त एवं इन्द्रियों की प्रसन्नता का नाम काम सुख है। कौटिल्य ने 'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत' को शिक्षा दी है।

काम में स्वाभाविक प्रवृत्ति

काम में चित्त का आकर्षण स्वयमेव होता है। यद्यपि अर्थ धर्म का साधन है परन्तु अर्थ की ओर मनुष्य समाज की प्रवृत्ति काम का ही प्रधान साधन समझकर होती है, न कि धर्म का मुख्य साधन मानकर। श्री कृष्ण ने भागवत में कहा है कि—

उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च।
आसक्त-मनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु।।

—भागवत ११।२१।१४

अर्थात् सभी मनुष्य जन्मकाल से ही संसार के विषयभोगों में, प्राणों में और अपने प्रियजनों में स्वभावतः आसक्त होते हैं। किन्तु इन वस्तुओं में आसक्ति उनकी आत्मोन्नति में बाधक एवं अनर्थ का कारण होती है।

सुख से मनुष्य अतृप्त रहता है, इस कारण सुख की कामना सबको रहती है। पूर्णता का अभाव एवं अपूर्णता की अनुभूति—को ही कामना कहकर पुकारते हैं। कामना मन की वासना की जननी है। सुख पाने की लालसा में मन काम अर्थात् वाह्य विषयों के पीछे दौड़ता रहता है। बृहदारण्यकोपनिषद् की उक्ति है कि—

काममय एवायं पुरुष इति, स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति।
यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।।

जीवात्मा शरीर धारण कर अविद्या के कारण आत्माभिमानी हो जाता है। अविद्या से राग-द्वेष आदि दोष जन्म लेते हैं। राग-द्वेष से पाप-पुण्य रूप कर्म होते हैं। कर्मों से वासना का जन्म होता है। वासनाओं से रुचि का आविर्भाव होता है। काल-क्रम से इस रुचि का प्रकृति से सम्बन्ध होता है। यह चक्र अनवरत चलता रहता है।

काम का उद्देश्य

काम का उद्देश्य इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं है वरन् उसका प्रयोजन जीवन निर्वाह के लिए है। विषयों के सेवन से इन्द्रियाँ कभी तृप्त नहीं हो सकतीं। अतः विषयों का सेवन उतना ही करना चाहिए जिससे अपना स्वास्थ्य स्वस्थ बना रहे।

जीवन का मूल लक्ष्य ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति है। यह कार्य स्वस्थ शरीर के बिना नहीं हो सकता। काम के बिना—प्राण का धारण ही नहीं हो सकता। जीवन

निर्वाह में काम अत्यन्त उपयोगी है। परतु धर्माविरुद्ध काम ही मोक्ष में सहायक है। नियंत्रित काम औषध है परन्तु अनियंत्रित काम विष है। अतः शुक्राचार्य के शब्दों में इन्द्रियों को उत्पीड़ित नहीं करें तथा अधिक लालन-पालन पूर्वक स्वतंत्र भी नहीं होने दें। क्योंकि मन से बलवान इन्द्रियाँ होती हैं।[1] काम के प्रति अधिक आसक्ति दिखाना जीवन-लक्ष्य से भ्रष्ट होना है—काम, क्रोध, मद्य के समान हैं। अतः विवेक-पूर्वक उचित मात्रा में उसका प्रयोग होना चाहिए।[2] शास्त्रकारों ने अपने अनुभव के आधार पर अधिक आसक्ति[3] न दिखाने की सलाह दी है।

शास्त्रों में काम की जितनो प्रशंसा मिलतो है उससे अधिक निन्दा की गई है, क्योंकि काम, क्रोध, लोभ पर नियंत्रण न रखने से ये नरक के द्वार बन जाते हैं। गीता में स्पष्ट निर्देश है कि—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

—गीता–३।४१

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

—गीता–३।४१

अतः काम या विषयजन्य आनन्द को जोवन निर्वाह के लिये आवश्यक मान-कर भोगना चाहिए। इन्द्रियों को जोत करके ही ज्ञान-विज्ञान को नाश करने वाले काम का दमन किया जा सकता है।

'काम' भोग अर्थ में

महर्षि वात्स्यायन ने कामसूत्र की रचना कर काम का अर्थ स्पष्ट किया तथा स्त्री पुरुष के भोग विलास को शास्त्रमर्यादा से निबद्ध किया। स्पर्शादि सुख या

१—न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यति लालयेत्।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
—शुक्रनीति–३।१४

२—कामक्रोधौ मद्यतमौ प्रयोक्तव्यौ यथोचितम् ! (शु० नी०)

३—अति प्रसक्तिं चैतेषां मनसापि न चिन्तयेत। मनुस्मृति
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ गीता—१६।१६

इन्द्रिय-विषय के सम्पर्क से उत्पन्न सुख का अभिलाषी 'कामी' कहलाता है। आज-कल काम का प्रचलित अर्थ विषय-भोग ही माना जाता है। विविध प्रकार के विषय-रस से परिपूर्ण संसार में काम पर नियंत्रण रखना ही पुरुषार्थ माना जाता है। कामसूत्र में काम का अर्थ एवं लक्षण व्यक्त है कि—

'अभिमानिक-रसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः'

—(कामसूत्र)

भाष्य—'**स्पर्श-विशेषविषये तु अस्य अभिमानिक-सुखानुविद्धाफलवती अर्थप्रतीतिः कामः।**'

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि विशिष्ट प्रकार के स्पर्श सुख में अभिमानजनित रस से—सुख की प्राप्ति होगी—ऐसी बुद्धि के साथ इन्द्रिय एवं मन को सुखानुभूति हो—उसे 'काम' कहते हैं।

काम के तीन भेद प्रचलित है—

(१) स्थूल (बाह्य), (२) सूक्ष्म (आन्तरिक), (३) सूक्ष्मतर (वासना या कामना)।

स्त्री-पुत्रादि जनित सुख बाह्य काम है। बाह्य विषय ही मनोरथ या चिन्तन के कारण मन में सूक्ष्म रूप से ज्ञात होते हैं। यह आन्तरिक काम है। श्रुतया दृष्ट विषयों के अत्यन्त सूक्ष्म संस्कार जब मन में अंकित हो जाय तब वह वासना या सूक्ष्मतर काम कहलाता है।

बाह्य काम में प्रवृत्ति आन्तरिक या सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर (वासना) काम से ही होती है।

मानस काम के चार भेद हैं—स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम और सूक्ष्म।

(१) धन-धान्य, स्त्री-पुत्र एवं गृह आदि जनित सुख या सुख के ये साधन 'बाह्य काम' या स्थूल काम के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

(२) विषयों का चिन्तन करते रहने से स्थूल काम ही मन में स्थूलतर रूप-धारण कर लेते हैं।

(३) स्थूलतर काम विषयों के उपभोग के समय अत्यन्त उद्बुद्ध होकर मन में स्थूलतर रूप ग्रहण कर लेते हैं।

(४) शरीर धारण के पूर्व प्राणियों के अन्तःकरण में विषयों की लहर उत्पन्न नहीं होती। उस वृत्ति शून्य काल में भी वासना या कामना अन्तःकरण में सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है, वही सूक्ष्म काम है।

काम के बिना कोई क्रिया नहीं की जाती।[1] काम को वासना से भी अभिहित किया जाता है। अर्थात् प्रवृत्ति का मूल कारण वासना ही है।

काम से मन में विषय की कामना (इच्छा) जगती है। कामना से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से पाप-पुण्य रूप कर्म होते हैं।

आन्तरिक काम या सूक्ष्मकाम

'अप्राप्तो विषयः प्राप्तिकारणाभावेऽपि, प्राप्यताम्—
इत्याकारः, चित्तवृत्ति-विशेषः कामः।'

—(गीता पर मधुसूदनी व्याख्या तृतीय अ०)

स्थूल काम या बाह्य विषयों के दर्शन एवं श्रवण से अप्राप्त विषयों को पाने की उत्कट लालसा या भाव जगता है। तत्पश्चात् 'यह वस्तु प्राप्त हो जाय' इस प्रकार की बलवती इच्छा (संकल्प) या भावजगत में एक प्रकार की लहर (वृत्ति) उत्पन्न होती है, उसी विशिष्ट चित्तवृत्ति का नाम काम है। आन्तरिक काम मन के साथ चिपकी हुई वासना का अपर नाम है। यही वासना सभी इच्छाओं या संकल्पों की जननी है।

आन्तरिक काम का निवास गृहचित्त

चित्तरूपी गृह में आन्तरिक कामवास करता है। चित्त का एक नाम 'आराम' भी है। चित्तरूपी आरामगृह में काम शयन करता है। चित्त वृत्तियों में काम विषय रूप में बसे हुए हैं। विषयों में चित्त इतना लिपटा रहता है कि अभेद मालूम पड़ता है। वासनाओं की संख्या अनन्त है। चित्त में अवस्थित वासनायें बाह्य विषयों के सम्पर्क में आकर जाग उठती हैं एवं तत्-तत् कामनाओं को जन्म देती हैं। वासना ने जीव को इस तरह आवृत कर लिया है कि छान्दोग्य उपनिषद जीव को 'काममय' कहता है, यथा—

अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः।

१—अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद्धिकुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥ मनु० स्मृ० १।४

चित्त को आकर्षित करने वाली वाह्य वस्तुओं को देखकर एक चित्त में एक चित्र बन जाता है। यह चित्र बाह्य वस्तुओं की छाया ही वासना है। सूक्ष्म और स्थूल काम को जन्म देना इसी वासना का काम है। मन में यदि वासना (कामना) न हो तो बाह्य काम के रहते हुए भी उसमें जीव की प्रवृत्ति नहीं होगी। सुबोधिनी टीकाकार ने भागवत में विवेचन किया है कि—

बहिर्गतो हि विषयः कामे सत्येव गृह्यते।
उभयो र्योग-सिद्धौ हि विश्लेषोऽशक्य एव च॥

—(भागवत–३।२२।१२ पर टीका)

बाह्य विषय एवं चित्त या मन की वासना (सूक्ष्म काम)—इन दोनों का जब मिलन हो जाय तब विषय का चित्त से अलग हटाना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो जाता है।

स्थूलकाम

बाह्य काम आन्तरिक काम का जनक है। सांसारिक पदार्थों (विषयों) को देखते-देखते या सुनते-सुनते आसक्ति का आविर्भाव होता है। मनुष्य की बाहरी इन्द्रियाँ बाह्य विषयों को देखकर एवं सुनकर उसका चित्र चित्त में बनाती हैं। या इन्द्रियों के द्वार जब खुले रहते हैं तब उपरी छाया चित्त पटल पर पड़ती है इससे आन्तरिक काम का जन्म होता है। इन्द्रियों को अपने अधीन करने वाला व्यक्ति बाह्य विषयो में अनासक्ति दिखा सकता है। कृष्ण का उपदेश गीता में यही है कि—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतवर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

—३।४१

काम पर नियन्त्रण करने से पहले भगवान् कृष्ण के अनुसार बाह्य इन्द्रियों को वश में करना चाहिए। जितेन्द्रिय व्यक्ति ही काम को वशीभूत कर सकता है।

रजोगुण से समुद्भूत काम ही क्रोध है; यह अग्नि के सदृश भोगों से तृप्त न होने वाला महाशन है एवं महान् पापी है, यथा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥

—गीता ३।३७

काम से बचने के उपाय

काम तथा कामियों की सङ्गति इन्द्रियों को लोलुप बना देती है। इन्द्रियाँ बहिर्मुख न हो कामियों का सङ्ग न प्राप्त हो एतदर्थं सन्तों एवं सत्पुरुषों की सङ्गति करनी चाहिए। महान् महर्षि सौभरि के मन में भी मत्स्य दम्पति की क्रीडा देखकर काम वासना उद्बुध हो गई। अतः काम से निवृत्ति पाने वाले लोग कामी या विषयासक्त जनों की सङ्गति से दूर रहते हैं। विषयी या विषयों के संसर्ग से कामनाएँ जन्म लेती रहेंगी एवं चित्त में वासना की लहरें उठती रहेंगी। फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान युक्त निर्मल आत्मा भी कामाहत चित्त से मलीन एवं ढक जाती है। अतः विषयों से अधिक विषयीजनों की सङ्गति हानिप्रद है। भागवतकार ने इसी तथ्य की ओर निर्देश किया है—

> **न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।**
> **योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥**
>
> —(भागवत ३।३५)

रजोगुण से व्याप्त मन में यह वस्तु भोगने के योग्य है, ऐसा संकल्प जन्म लेता है। मन पर कामना का आधिपत्य हो जाता है। जीव का मन एवं उसकी इन्द्रियाँ उस काम जनित संकल्प के वशीभूत होकर कार्य करने लगती हैं। यह रजोगुण इन्द्रियलोलुप जीव को वासना का दास बना देता है। इस गुण से प्रेरणा पाकर दुःखद परिणाम वाले कर्म को भी जीव कर बैठता है। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है कि इस प्रकार के कर्मों को करने के मूल में "अहं भाव तथा मिथ्या बुद्धि हैं"।

कामदेव का एक नाम मन्मथ भी है। वह कामी मन को दही मथने की तरह मथ डालता है। इन्द्रियाँ जब मन के अधीन नहीं रहतीं तब मन इन्द्रियों के पीछे-पीछे ही दौड़ता है। काम, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों में प्रवेश कर ज्ञान को आच्छादित कर देता है। शील, सङ्कोच, विवेक, विनय एवं विनम्रता इन गुणों को त्यागने में भी कामी मन सङ्कोच नहीं करता। काम जब प्रबल होता है तब क्रोध, लोभ एवं मोह आदि दुष्ट अनुयायियों के समान दुर्गुणों को उत्पन्न करता है।

काम का यह प्रभाव है कि काल का खेल देखकर भी लोग प्रकृति के नियमों की अवहेलना करते हैं। मरना निश्चित है। बलशाली काल किसी को छोड़ता नहीं फिर भी विषयों में रत इन्द्रियाँ पापमय आचरण करती जाती हैं।

अपने हाथों से अपने पिता और पुत्र के शरीर को चिता में जला करके भी स्वयं जीने की इच्छा करता है, यह भगवान् को अद्भुत लीला है—

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं घ्नन्तं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति।
ध्यायन्न सर्द्यांहि विकर्म सेवितुं निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति॥
—(भागवत ५।१८।३)

काम शत्रु किसका ?

जीव ज्ञानी हो या अज्ञानी काम सबके लिये नित्य शत्रु है। अज्ञानी काम का उपभोग (विषय-सुख) करते समय वैरी नहीं मानता बल्कि मित्र मानता, दुःखद परिणाम होने पर उसे शत्रु कहता है। ज्ञानवान् तो प्रारम्भ से ही काम को शत्रु मान आवश्यतानुरूप जीवन निर्वाह हेतु उसे भोगता है। अतः ज्ञानी नित्य-शत्रु से सतर्क रहता है। उसके सुखद परिणामों से सदा सचेष्ट रहता है। अर्थ एवं काम में अधिक आपत्ति नहीं दिखलाता क्योंकि धर्मज्ञान का लक्ष्य अनासक्ति से ही उपलब्ध होता है। मनुकी उक्ति है कि—

'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते'
—मनुस्मृति २

केवल अर्थ और काम का चिन्तन, मनन करने वाला धर्म कार्य में प्रवृत्ति दिखा ही नहीं सकता। अतः काम (इन्द्रियों के विषय) पर नियंत्रण रखने वाले जीव का शत्रु होकर भी काम अनिष्ट नहीं पहुँचा सकता। त्रिवर्ग में काम की गणना कर यह सिद्ध किया है कि काम पुरुषार्थ धर्म का सहायक है। धर्म का विरोधी काम मोक्ष प्राप्ति में सहायक नहीं बन सकता। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों का एक दूसरे से अटूट सम्बन्ध है। यदि ये आपस में परस्पर विरोधी होंगे तो पुरुषार्थ की पराजय निश्चित है। हमारे शास्त्र एक स्वर से उद्घोष करते हैं कि—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।
—(गीता)

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत (अर्थ शास्त्र)
धर्माथौं यत्र न स्यातां तद्वा कामं निरर्थकम्।
—(शु० नी०)

उपर्युक्त उक्तियों का आदेश स्पष्ट है कि जहाँ धर्म का विरोध होता हो या धर्मार्थ न हो वहाँ काम-सेवन निरर्थक है। धार्मिक परिवेश में या धार्मिक नियमानुसारी काम (विषयवासनाएँ) का सेवन भगवत्प्राप्ति का मार्ग है।

काम का दोष (मल)

सम्प्रमोहः मलः कामो भूयस्तद्गुणवर्द्धितः।

—(शान्ति पर्व)

सम्मूढता का सम्प्रमोह भी है। दो वस्तुओं, नश्वर एवं अनश्वर, आत्मा एवं अनात्मा, शाश्वत एवं क्षणभंगुर में अभेद मानना ही सम्प्रमोह है। जब सम्प्रमोह उपस्थित होता है तब बुद्धि निश्चयात्मिका शक्ति खो बैठती है।

वाह्य विषयों को देखने, सुनने एवं स्मरण (ध्यान) करने से विषयों में गुण की प्रतीति होती है, मन की आसक्ति बढ़ती जाती है।

बाह्य विषयों का चित्र चित्त पटल पर छा जाता है। मन एवं विषय एकाकार हो जाते हैं। स्थूल काम सूक्ष्म काम का रूप धारण कर लेता है। ऐसी काममंता में अवरोध आने से क्रोध उत्पन्न होता है—क्रोध से सम्मोह का जन्म होता है। सम्मोह से बुद्धि (विवेक) की निश्चयात्मिका शक्ति समाप्त हो जाती है, जिससे बुद्धि का नाश होकर जीवन नष्ट हो जाता है।[१] इसी कारण महर्षि मनु ने चेतावनी दी है कि काम में अति आसक्ति नहीं करनी चाहिए यथा—

'अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसापि न चिन्तयेत्।'

—मनुस्मृति २ अ०

अबाधित काम ही नरक द्वार माना गया है; यथा—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

महर्षि शुक्राचार्य के अनुसार मद्य की भाँति उचित मात्रा में काम का सेवन करना चाहिए, यथा—

कामक्रोधौ मद्यतमौ प्रयोक्तव्यौ यथोचितम्।

—(शुक्रनीति)

१—ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ (गीता)

काम शब्द का प्रयोग शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न सुख अथवा दुःख की साधन सामग्री (यथा–धन-धान्य, स्त्री, पुत्र, सुभोजन आदि) के लिये किया जाता है। महर्षि वात्स्यायन नें कामसूत्र में स्त्री-पु० विषयक भोगाभिलाष को ही काम माना है। वस्तुतः शब्द, स्पर्शादि सुख का एक साथ ही आस्वादन कराने के कारण स्त्री-पुरुष के मिलन को काम की संज्ञा दी गयी है। ऐसे काम की कामना करने वाला कामी कहलाता है। महर्षि मनु ने काम की प्रेरणा से ही सभी क्रियायोंको समुद्भूत माना है। यथा—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद् धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥

—मनुस्मृति अ० २।४

यहाँ काम कामना का प्रतीक है। काम या कामना की प्रेरणा से ही कोई भी क्रिया की जाती है। समस्त क्रियायें काम (सुख) की चेष्टा में ही की जाती हैं।

काम को पुरुषार्थं माना गया है, क्योंकि जीवन का मुख्य लक्ष्य तत्त्वज्ञान की प्राप्ति है, और काम इसमें सहायक है। काम का उद्देश्य इन्द्रिय-तृप्ति मात्र मानना भूल है। जीवन की रक्षा एवं निर्वाह के लिये यह आवश्यक है। चित्त में वासना रूप से अनन्तानन्त काम आश्रय लिए रहते हैं।[1] विषय एवं विषयीजनों का सम्पर्क पाकर ही अन्तर्निहित काम चित्त में निमित्त के अनुकूल कामना उत्पन्न कर देता है।

वासना और काम

वासना काम की सूक्ष्मतम अवस्था है। बाह्य काम से ही आन्तरिक काम की उत्पत्ति मानी जाती है। बाह्य-विषयों को देखने से या सुनने से मन में अप्राप्त विषयों की प्राप्ति के लिये सङ्कल्प का जन्म होता है। सङ्कल्प का जो भाव हृदय में जन्म लेता है, उसे काम भी कहते हैं।[2] अतः काम (वासना) से उत्पन्न कामना को भी काम ही कहा जाता है।

१—गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतांस च प्रजाः।

—श्रीमद्भागवत पु० ११।१३।२५

२—अप्राप्तो विषयः प्राप्तिकारणाभावेऽपि प्राप्यताम्,
इत्याकारः चित्तवृत्ति-विशेषः कामः।

—(श्रीमद्भगवद्गीता मधुसूदनी टीका ३रा अध्याय)

वासना या आन्तरिक काम के अभाव में बाह्य विषयों या काम के उपस्थित होने पर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। अतः प्रवृत्ति के लिये आन्तरिक काम एवं बाह्य काम (विषय) का मिलन अपेक्षित है। वासना के वशीभूत होकर ही मनुष्य कर्म-कुकर्म करता है। जन्म-मृत्यु के बन्धन में डालने वाला काम ही है। त्रिवर्ग में यह प्रधान माना गया है।[1]

वासना पर नियंत्रण रखने के लिये पहले बाह्य काम (विषयों) पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। आन्तरिक काम पर पहले नियंत्रण रखने से सफलता नहीं मिलती। क्योंकि काम या कामना का प्रारम्भ बाहर से होता है।

गीता में भगवान् कृष्ण ने अपने आपको धर्माविरुद्ध काम माना है। यथा—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

जो काम धर्म का विरोधी नहीं हैं, शास्त्रानुकूल है, वही पुरुषार्थ की श्रेणी में परिगणित किया जाता है। काम के अधिक सेवन से आसक्ति बढ़ती है : वासना प्रबल होती है। वासना की कोख से क्रोध, लोभ एवं मोह आदि बच्चे जन्म लेते हैं जो मनुष्य के ज्ञान को ढँक लेते हैं। इसी कारण भगवान् कृष्ण ने ज्ञानियों के लिये काम को नित्य-शत्रु के समान माना है। यथा—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

—(भगवद्‌गीता ३रा अध्याय)

इस प्रकार नियंत्रित काम ही पुरुषार्थ है। यह काम धर्म एवं अर्थ से उपलब्ध किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म एवं अर्थ के अविरुद्ध काम सेवन करने योग्य है। यथा—

'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत, न निःसुखः स्यात् :'

—कौटिल्य अर्थशास्त्र

धर्म विरुद्ध काम त्याज्य माना गया है। किन्तु धर्माविरुद्ध काम का सेवन श्लाधनीय कहा गया है। जीवन में काम एवं वासना पर नियंत्रण रखना दुष्कर कार्य है। संसार चक्र में जीवन की रक्षा एवं सुरक्षा के लिये भी काम की नितान्त आवश्यकता है। विषयभोगों पर नियंत्रण लगाने के लिये गृहस्थाश्रम में विवाहरूपी विशिष्ट बन्धन में पति-पत्नी को बाँधा जाता है।

१—तस्मात् कामः प्राक् त्रिवर्गस्य दृष्टः ॥ (महाभारत)

काम का मल

'सम्प्रमोहजः कामो......'

आत्मा एवं शरीर में अभेद की कल्पना करना सम्प्रमोह है। काम का यह मल है। इससे विवेक नष्ट हो जाता है। मोह एवं मोहजन्य क्रोधादि तत्त्वों का आविर्भाव होने लगता है; अतः मन एवं विषय जब एक हो जाते हैं, तब दोनों में विभेद करने का कार्य दुष्कर हो जाता है। बाह्य विषय या कामासक्ति मोह को जन्म देते हैं, जो मानव जीवन के लिये महाजाल है। मोह, धर्म एवं अर्थ—दोनों का नाशक है। क्योंकि विवेक या बुद्धि के विनाश से ही मोह की वृद्धि होती है। अतः इस मोहजाल से बचने के लिये ही धर्म समर्थित काम का सेवन करणीय है।

'सङ्कल्पमूलः कामो वै'

काम का मूल सङ्कल्प है। सङ्कल्प इच्छाओं के निश्चयात्मक स्वरूप को कहते हैं। यदि इच्छाओं या कामनाओं पर नियंत्रण रखने का अभ्यास हो जाय तो मनुष्य मन पर भी नियंत्रण रख सकता है। ब्रह्मानुभूति के लिये मन का कामना-हीन या काम-हीन होना आवश्यक है। मन को प्रेरणा देने वाला काम ही है। अतः काम पर अंकुश लगाने से मन स्वतः वशीभूत हो जाता है। इच्छाओं के दमन से काम भी स्वयमेव नियंत्रित हो जाता है।

परस्त्री और परद्रव्य और परभूमि में जिसका मन आसक्त है, वह व्यक्ति सदैव विपत्तियों से घिरा रहता है।[1] कामनायें तो अनन्त हैं, उससे मनुष्य का मन कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता है। अतृप्त मन दुःखदायक ही होता है। अतः—

'परस्त्रीसङ्गमे कामो नैव धार्यः कथञ्चन।'

—(शुक्रनीति)

परस्त्री एवं परद्रव्य की कामना कभी नहीं करनी चाहिए। वह व्यक्ति निश्चय ही प्रत्यक्ष रूप में देवता है जिसका चित्त परस्त्री एवं परद्रव्य पर आसक्त नहीं होता है। यथा—

स खलु पुरुषः प्रत्यक्षं दैवं यस्य।
परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेतः॥

—(नीतिवाक्यामृत)

१—विपत्तिः सततं तस्य परवस्तुषु यन्मनः।
विशेषतः परस्त्रीषु परद्रव्येषु भूमिषु॥ (मत्स्य पुराण)

इसी कारण शस्त्रों में अनियंत्रित काम को अप्रशस्त बताया गया है।[1] तथा निष्काम कर्म की अत्यधिक प्रशंसा की गई है।

यथा—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।

—(गीता-२)

अर्थात् जो व्यक्ति सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग करके ममता और अहंकार से रहित निःस्पृह हो जाता है, वही शान्ति को अच्छी तरह प्राप्त करता है। परन्तु यह कार्य अत्यन्त कठिन है। मनुष्य की इन्द्रियाँ हठात् मन को विषयों की ओर खींच लेती हैं। जिह्वा यदि स्वादिष्ट पदार्थों के लिए मन को खींचती है तो त्वचा सुखद स्पर्श के लिये। ज्ञानेन्द्रियाँ भी मन को अपने-अपने विषयों की ओर खींचती रहती हैं। ऐसा लगता है कि एक पति कई पत्नियों के भँवर जाल में फँस गया हो। अतः जिसकी सभी इन्द्रियाँ प्रबल हों उस व्यक्ति के मन की दशा मन्मथ ही बतला सकते हैं। नये-नये विषयों या कामनाओं को प्राप्त करने की अपेक्षा परित्याग की विशेष महिमा बतलायी गई है।

'प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते।'

—(मनुस्मृति २रा अध्याय)

नियंत्रित काम

भारतीय धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं नीतिशास्त्र में काम को नियंत्रित करने की व्यावहारिक विधि बतलायी गई है। काम्यवस्तुओं का उपभोग केवल अपने लिए नहीं करना चाहिए।

यतः—

भुञ्जते ते त्वघं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात्।'

—(गीता ३रा अध्याय)

भगवदर्पण बुद्धि से काम का सेवन करने वाला व्यक्ति, अतिथि, पितर, ऋषि एवं देव आदि को निमित्त मानकर उनके प्रसाद के रूप में काम्यवस्तु का उपभोग बन्धन का कारण नहीं माना जाता है

१—कामात्मता न प्रशस्ता (मनुस्मृति दूसरा अध्याय)

इसी कारण देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथि यज्ञ, नृयज्ञ एवं भूतयज्ञ का विधान प्रत्येक गृहस्थ के लिए आचरणीय कहा गया है।

कर्म सकाम है या निष्काम यह उसके अनुष्ठान के विधान से ही ज्ञात होता है। कामनाओं से मुक्ति मिलने पर ही निष्काम भाव की उत्पत्ति होती है। वैदिक कर्मों से मनुष्य को अनियंत्रित काम पर नियंत्रण रखने की शक्ति एवं प्रवृत्ति प्राप्त होती है। शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट काम्य वस्तुओं का धर्माविरुद्ध रूप से सेवन करने पर सदाचार एवं स्वस्थ समाज का जन्म होता है।

इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। अतः जीव इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों को देखता है, इसी कारण अपने ही अन्तस्तल में निवास करने वाली आत्मा को मनुष्य नहीं देख पाता। विषय चित्त में इस तरह चुभ जाते हैं कि दोनों में विभेद दिखाई नहीं पड़ता। इसीलिये हमारे प्राचीन ग्रन्थ ईश्वराश्रित होने को कहते हैं। ईश्वर का आश्रय मानकर शास्त्रोचित कर्म करने वाले व्यक्ति के मन से सभी दोष हट जाते हैं। समस्त काम मन में समाहित हो जाते हैं, जैसे पूर्ण समुद्र में नदियाँ समा जाती हैं।[1]

काम एवं कामजन्य दोष मानव को तभी तक सताते हैं जब तक जीव की अनुरक्ति ब्रह्म में नहीं हो जाती। ईश्वरार्पित काम भूँने हुए अन्न की तरह हो जाता है। उसे पुनः अंकुरित नहीं किया जा सकता है। जब ईश्वर ही हृदय में स्थित हो जाय तो काम का वहाँ निवास कैसे रह सकता है? यथा—

'कामा हृद्य्या नश्यन्ति सर्वे, मयि हृदि स्थिते।'

—श्रीमद्भागवत ११।२०।२९

चित्त-निरोध हो जाने पर इन्द्रियाँ स्वतः निरुद्ध हो जाती हैं। यही काम धर्मद्रुम का पुष्प है जिससे सारा जीवन सुशोभित एवं समुन्नत हो जाता है।

१—गीता—२।७०

बारहवाँ अध्याय

धर्मद्रुम का फल—(मोक्ष)

भारतीयों ने मोक्ष को अन्तिम पुरुषार्थ माना है। समस्त बन्धनों से मुक्त होना ही मोक्ष है। यह शब्द 'मुच्लृ मोचने' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। अर्थात् भोगायतन का भोगों के बन्धन से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। शुभाशुभ कर्मों के फलों को भोगने के कारण शरीर भोगायतन कहलाता है। भारतीय मनीषियों ने मोक्ष का इतना तार्किक एवं गम्भीर विवेचन उपस्थित किया है कि इसे सम्पूर्ण आध्यात्म शास्त्र का उत्तम फल मानना समीचीन है। विभिन्न सम्प्रदायों ने मोक्ष की कल्पना भिन्न-भिन्न रूप में करके चरम लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग को अनुकरणीय बनाया है।

प्रायः सभी सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं कि बन्धन का मूल कारण अविद्या है। अविद्या के विषय में कहते हैं—

'अनित्या शुचिदुःखानात्मसु
नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या'
—योगसूत्र २।५

अर्थात् अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा को ही जो नित्य, शुचि एवं आत्मा मान बैठें, इस ज्ञान को अविद्या कहते हैं। लोकभाषा में सही या यथार्थ स्वरूप का ज्ञान विद्या है तथा जिससे यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न हो उसे अविद्या कहते हैं।

जो तत्त्व ज्ञान जीव को भवसागर पार कराने में सहायक हो उसे विद्या मानते हैं। मोक्षज्ञान भारतीय आध्यात्म शास्त्र या दर्शन शास्त्र का चरम लक्ष्य है।

चार्वाक दर्शन में मोक्ष

यह नास्तिक दर्शन है। वेद और ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता है। इस कारण मोक्ष की मान्य धारणा का अनुगामी यह दर्शन नहीं है।

अर्थ और काम में विश्वास रखने वाला यह दर्शन धर्म एवं मोक्ष को पुरुषार्थ नहीं मानता है। इस विचार धारा के मानने वालों का विश्वास है कि शरीर ही भोगायतन है। दुःख का सम्बन्ध केवल शरीर से है। शरीर नष्ट होते ही दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति मिल जाती है। इनकी धारणा में शरीर ही सब कुछ है। यथा—

'काम एवैकः पुरुषार्थः'

—(बृहस्पति सूत्र)

शरीर ही आत्मा का क्रीडास्थल है। अतः इस विचारधारा के मानने वालों के लिये काम ही एकमात्र पुरुषार्थ है। परलोक के अस्तित्व को इन लोगों ने स्वीकार नहीं किया। अतः मोक्ष की परिकल्पना पर इनका विश्वास नहीं है। मृत्यु को ही वे लोग स्वर्ग (अपवर्ग) मानते हैं। यथा—

'मरणमेवापवर्गः' —(बृहस्पति सूत्र)।

आधिभौतिक सुख को आधार मानने वाले, 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेद्' के सिद्धान्त पर चलने वाले विचारकों को मोक्ष के अस्तित्व पर विश्वास कैसे होगा ?

जैन दर्शन में मोक्ष

यह दर्शन मोक्ष के तीन साधनों का निरूपण करता है—

(१) सम्यक् दर्शन (श्रद्धा) (२) सम्यक् ज्ञान (३) सम्यक् चरित्र। मोक्षार्थी के लिये श्रद्धा[1] प्रथम सोपान है। इसके अभाव में भवसागर पार कराने वाले तीर्थंकरों की वाणी पर विश्वास नहीं होगा। इसलिये ज्ञान प्राप्ति के पूर्व श्रद्धा आधार भूमि है। सम्यक् चरित्र का निर्माण सम्यक् आचारण से होता है। यही मोक्ष का मार्ग है। इसे जैन दर्शन में रत्नत्रय कहते हैं। मोक्ष प्राप्त करने पूर्व कई अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है। अज्ञानता के कारण मन, वचन, शरीर से जो कर्म किये जाते हैं उन्हें आश्रव कहते हैं। इसी से जीव कर्मों के बन्धन में बँध जाता है। मिथ्यात्व (असत्य दृष्टि या गलत को सही समझना), अविरति (दुष्कर्मों में रत) प्रमाद (उचित-अनुचित का विवेक न रखना), कषाय (समभाव का निरादर) एवं योग (मानसिक, कायिक एवं वाचिक क्रिया की प्रवृत्ति) के कारण बन्धन दृढ़ होता जाता है।

१—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वार्थ सूत्र १।२

इस बन्धन से मुक्ति पाने के लिये कर्मों के मार्ग को निरुद्ध कर देना 'संवर' कहलाता है। आश्रव के विपरीत संवर क्रिया होती है। इससे मनुष्य कर्मों के बन्धन में न पड़कर मोक्ष की ओर उन्मुख होता है।

संवर के उपरान्त निर्जरा की अवस्था आती है। इस अवस्था में मोक्षार्थी कार्यों के फलों को निर्वीर्य बना देता है। यह स्थिति कार्यों या कर्मों के आत्यन्तिक क्षय की ओर ले जाती है जिसे मोक्ष कहते हैं।

जैन दर्शन कर्म-क्षय को ही मोक्ष मानता है। मोक्षावस्था में अनन्त ज्ञान, अनन्त श्रद्धा एवं अनन्त शान्ति सद्यः प्राप्त हो जाती है। मोक्ष को कैवल्य नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस अवस्था को प्राप्त कर मनुष्य मंगलदायक एवं कल्याणकारक बन जाता है।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष

बौद्ध दर्शन के प्रमुख दो सम्प्रदाय हैं। दोनों की धारणा निर्वाण (मोक्ष) के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न है। हीनयान निर्वाण को दुःखों का अन्त मानता है। बुद्ध द्वारा बताये गये ज्ञान एवं सदाचार के मार्गों से क्लेशों या दुःखों से निवृत्ति पाना निर्वाण की स्थिति मानी गई है। हीनयान में कई सम्प्रदाय हैं, जिनकी धारणाएँ भिन्न-भिन्न हैं। कोई दुःखाभाव की अवस्था को ही निर्वाण कहता है तो कोई निर्वाण को अभावात्मक न बतलाकर सुखद एवं आनन्द स्वरूप बतलाता है। तृष्णा का निरोध ही व्यक्तित्व का विनाशक है और निर्वाण का प्रापक है।

स्थविरवादियों की दृष्टि में अविद्या का नाश, ज्ञान का उदय होना निर्वाण की अवस्था है : मानसिक एवं भौतिक जीवन का चरम निरोध निर्वाण की अवस्था है। तेल के अभाव में दीपक स्वतः बुझ जाता है। इसी बुझने को निर्वाण कहा जाता है। तृष्णा के अन्त होते ही भौतिक जीवन का अन्त हो जाता है तब अनेक कष्टों से स्वतः निवृत्ति मिल जाती है।

वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्ध निर्वाण को स्वतः सत्तावान् पदार्थ अर्थात् वस्तु के रूप में मानते हैं। किन्तु सौतान्त्रिक बौद्ध निर्वाण की वस्तु नहीं मानते; वे नितान्त अभावात्मक अवस्था का द्योतक निर्वाण को मानते हैं।

महायान की दृष्टि में निर्वाण

महायान सम्प्रदाय के बौद्ध मनुष्य को दो आवरणों से आबद्ध मानते हैं— (१) क्लेशावरण (२) ज्ञेयावरण। आत्मदृष्टि अथात् सकाम दृष्टि के दोष से ही क्लेश

का जन्म होता है। दुःखों के नाश के लिये आत्मा का निषेध करना हीनयान वाले आवश्यक मानते हैं। इसे पुद्गल नैरात्म्य कहते हैं। महायान का कहना है कि क्लेशावरण के नाश होने पर भी ज्ञेयावरण बना रहता है। अतः निर्वाण की सही स्थिति का परिचय नहीं मिलता है। मोक्ष में इन दोनों आवरणों का हटना आवश्यक है।

ज्ञेयावरण सभी प्रकार की ज्ञेय वस्तुओं को जानकारी नहीं होने देता है। अतः इसके हटने के बाद ही मुक्ति की अवस्था आ सकती है। निर्वाण सुखरूप है। माध्यमिक मतवाले निर्वाण में सुख या असुख की कल्पना नहीं करते हैं। उनके अनुसार निर्वाण वर्णनातीत है। महायान में निर्वाण सर्वज्ञता का बोधक है। धर्मकाय का प्रतिष्ठापक है। निर्वाण की अवस्था अद्वैत की अवस्था है। विषय और विषयी के बीच भेद की स्थिति नहीं रहती है।

अष्टाङ्गिक मार्ग के सेवन से वस्तुओं की अनित्यता का अनुभव होता है। तत्पश्चात् व्यक्ति निर्वाण पथ का पथिक बनता है। निर्वाण एक ऐसी मानसिक स्थिति है, जब व्यक्ति का व्यक्तित्व लुप्त हो जाता है। सभी व्यक्तियों में समत्व या एकत्व की भावना का उद्रेक होता है। बौद्ध दर्शन में मुक्ति या निर्वाण को चरम लक्ष्य के रूप में निरूपित किया गया है।

न्याय दर्शन में मोक्ष

इस दर्शन का लक्ष्य है—तर्क द्वारा ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करना एवं दुःख निवृत्ति पाने के लिये मोक्ष का मार्ग बताना। यम, नियम आदि सोपानों का आश्रय लेकर मनुष्य मोक्ष ज्ञान को प्राप्ति कर सकता है।

दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को 'अपवर्ग' कहा गया है—**'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'** (न्याय सूत्र १।१।२२) दुःख से अत्यन्त विमोक्ष का अर्थ है, दुःख से हमेशा के लिए छुटकारा पा जाना। तभी अपवर्ग की प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष का एक नाम अपवर्ग भी है।

"अपकृष्टाः वर्गा धर्मार्थकामा यस्मात् सः अपवर्गः।"

अर्थात् जिसके तीनों पुरुषार्थ निम्न कोटि के प्रतीत होते हों; उसे अपवर्ग कहते हैं। इसे ही कैवल्य, परम पद, निःश्रेयस आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। दुःख के कारण हैं, आत्मा के नव विशेष गुण हैं। इन्हें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष,

प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार के नाम से हम जानते हैं। इन सबका नाश होने पर ही दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति सम्भव है। धर्म से सुख और अधर्म से दुःख की उत्पत्ति होती है। इन दोनों गुणों का विनाश ही मुक्तावस्था की ओर जाने के लिए सहायक होता है।

मुक्त आत्मा का कितना सुन्दर चित्रण न्यायमञ्जरीकार ने किया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। यथा—

स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः॥
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् ।

मुक्तावस्था में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में सभी गुणों से अलग होकर प्रतिष्ठित रहती है। छः ऊर्मियों से जो कष्ट की प्रतीति (भूख-प्यास से प्राण की, लोभ-मोह से चित्त की, जाड़ा गर्मी से शरीर की) होती है उन क्लेशों तथा सांसारिक बन्धनों को पार कर आत्मा इनके प्रभाव से मुक्त हो जाती है।

न्याय में मोक्ष को 'निःश्रेयस' शब्द से भी अभिहित किया गया है। **"निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्"** अर्थात जीव का सबसे बड़ा हित ही निःश्रेयस है। अभीष्ट फल (अर्थात् परमपुरुषार्थ) को ही निःश्रेयस कहा जाता है, यह मोक्ष के साथ ही सम्भव है। जीवन्मुक्ति को 'अपरनिःश्रेयस' कहते हैं तथा विदेहमुक्ति को परनिःश्रेयस कहा जाता है। प्रारब्ध कर्मों का सम्बन्ध जब तक लगा रहता है तब तक परनिः-श्रेयस की प्राप्ति होती है। इसकी प्राप्ति के लिये प्रारब्ध कर्मों का उपभोग करके क्षीण करना पड़ता है।

मोक्ष की दशा में न सुख रहता है, न दुःख। उस समय आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में स्थित रहती है। नैयायिकों एव हीनयान बौद्धों की मुक्ति-विवेचना में बहुत समता है। दोनों सुख-दुःख के अभाव रूप में मोक्ष की कल्पना करते हैं। तत्त्व ज्ञान से आत्मा का स्वरूप जाना जा सकता है। योग-ज्ञान इसमें सहायक होता है।

वैशेषिक दर्शन में मोक्ष

यह दर्शन सिद्ध करता है कि निष्काम कर्म के द्वारा सत्त्व शुद्धि होती है, सत्त्व शुद्धि तत्त्व ज्ञान का उदय है। इससे मिथ्या ज्ञान का निवारण होता है। यही मोक्ष मार्ग है। तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साक्षात् कारण (सन्निपत्योपकारक)

एवं निष्काम कर्म को परम्परया कारण (आरादुपकारक) माना गया है। नैयायिकों की भाँति मोक्ष की कल्पना इस दर्शन में भी की गयी है। अदृष्ट का अभाव, कर्म चक्र की परि समाप्ति होने पर आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता। इससे दुःखों का नाश हो जाता है। संचित तथा प्रारब्ध कर्मों का नाश भी आवश्यक है, तभी मुक्ति की उपलब्धि हो सकती है।

सांख्य दर्शन में मोक्ष

सांख्य में दुःख का कारण अज्ञान माना गया है। पुरुष और प्रकृति के दो मूल तत्त्व हैं। पुरुष शुद्ध चैतन्य है और बन्धन रहित है। प्रकृति का सम्बन्ध गुण और क्रिया से है। सुख-दुःख मन के विकार हैं, आत्मा के नहीं। पुरुष निःसंग होते हुए भी प्रकृति के समस्त धर्मों को अपना ही समझता है। बुद्धि या मन के द्वारा जो सुख या दुःख की प्राप्ति होती है, उसे पुरुष (आत्मा) अपना मान लेता है। पुरुष और प्रकृति का संयोग ही दुःखों का कारण है। इन दोनों को अलग-अलग जानने वाला विवेकी या ज्ञानी कहलाता है। इसे ही विवेक ख्याति कहते हैं जिससे दुःखों से मुक्ति मिलती है।

अविवेक कारण से ही पुरुष एवं प्रकृति का संयोग होता है। संयोग के फल स्वरूप प्रकृतिजन्य सुख-दुःख का प्रतिविम्ब पुरुष पर पड़ता है। इससे दोनों में एकत्व का आभास होता है। यही संसार है। अतः दुःखमय संसार का कारण अविवेक ही है। इसकी निवृत्ति का साधन विवेक है। बन्धन एवं मोक्ष प्रकृति के धर्म हैं। व्यक्त, अव्यक्त के तत्त्व ज्ञान से विवेक सिद्धि होती है जिससे दुःख निवृत्ति होती है।

विश्व एक रङ्गमंच है जहाँ प्रकृति अपनी लीला से लोगों को लुभाती रहती है। प्रकृति का व्यापार तत्त्वज्ञानियों पर नहीं होता है। विवेकशील पुरुष में क्रियाहीनता, संगहीनता एवं कर्तृत्वहीनता का ज्ञान प्रकृति से संयुक्त नहीं होने देता। ऐसी मुक्तावस्था इस जीवन में ही प्राप्त की जा सकती है।

विवेक जन्य ज्ञान से इस शरीर के रहते हुए भी जो मुक्ति पायी जाता है उसे 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। कर्म व्यापार करते हुए भी वह बन्धन में नहीं बँधता है। वाचस्पति मिश्र की उक्ति भाव पूर्ण है—'**क्लेश सलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यंकुरं प्रसुवते। तत्त्वज्ञाननिदाघनिपीतसकलक्लेशसलिलायाभूषरायां कुतः कर्मबीजानामंकुरप्रसवः**—तत्त्व कौमुदी, सा० का० ६७

अर्थात् क्लेशरूपी जल से सिक्त बुद्धि रूपी भूमि में कर्मबीज के अंकुर उत्पन्न होते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञान रूपी गरमी के कारण क्लेश रूपी जल के सूख जाने पर ऊसर जमीन में कर्मबीज किस भाँति उत्पन्न हो सकते हैं ? जिस तरह कुम्हार का चक्र घट निर्माण के बाद भी कुछ काल तक चलता रहता है, उसी तरह प्रकृति से अलग होने पर भी प्रारब्ध कर्मों को निःस्पृह की भांति जीवन्मुक्त व्यक्ति भोगता है। मरणोपरान्त उसे विदेह मुक्ति मिल जाती है।

सांख्य में मुक्ति को आनन्द स्वरूप नहीं माना गया है। ताप त्रय से सदा के लिये छुटकारा पाना ही मोक्ष की अवस्था है।

"प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः"

इस प्रपंच रूपी संसार से आत्मा का सम्बन्ध समाप्त करना ही मोक्ष है। आत्मा एवं जगत् का सम्बन्ध तीन सूत्रों से प्रगाढ़ होता है – (१) भोगायतन शरीर (२) भोगसाधन इन्द्रियाँ (३) भोग के नाना विषय एवं भोग-पदार्थ। इन तीन बन्धनों के कारण प्रपंच के अधीन व्यक्ति रहता है। शरीर, इन्द्रियाँ एवं भोग विषय पदार्थ से आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है।

'त्रिविधस्यापिबन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः'

—(शा० दी०)

व्यक्ति को बन्धन से मुक्त होने के लिये काम्य एवं निषिद्ध कर्मों को नहीं करना चाहिए। काम्य कर्म प्रपञ्चक बन्धन को और मजबूत कर देते हैं। नित्य कर्मों को दोष रहित मानकर करना चाहिए। इससे मोक्ष सुलभ हो जाता है।[1]

यो नित्यं कर्म करोति तस्य फलरागादिना अकलुषी क्रियमाणमन्तः करणम्। नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुध्यति। विशुद्धं प्रसन्नमात्मालोचन-क्षमं भवति।'

—(गीता भाष्य १८।१०)

कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्ति आत्मानं प्रतिबन्धेन वेदितुम्। एवं काम्यवर्जितं सर्वात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधकत्वं प्रतिपद्यते।'

—(बृह० उप० भाष्य)

अतः निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों का निर्देश मीमांसा शास्त्र मोक्ष साधन के लिए करता है। काम्य तथा निषिद्ध कर्म ही शरीर, भोगसाधन इन्द्रियों तथा भोग पदार्थों को जीवनी शक्ति प्रदान करते हैं। नित्य कर्मों में प्रवृत्ति मोक्ष का साधन माना गया है।

वेदान्त में मुक्ति

मुक्ति की कल्पना वेदान्त में बड़ी रोचक एवं भाव पूर्ण है। वह हर व्यक्ति के पास है, परन्तु उसका ज्ञान सभी को नहीं है। इस शरीर के रहते हुए भी मुक्ति प्राप्त की जा सकती। दुःखमय संसार का ज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्त व्यक्ति पद्भूपत्र-मिवाम्भसा (जल में कमल के पत्ते के समान) इस संसार में निवास करते हैं। ज्ञानी का तत्त्वज्ञान व्यक्ति के संचित कर्मों का विनाशक है। ज्ञानी व्यक्ति बन्धन मुक्त कर्म इस जन्म में नहीं करता। इसलिए संचीयमान कर्म (वे कर्म जो इस जन्म में जमा हो रहे हैं) का मार्ग बन्द हो जाता है। प्रारब्ध कर्म का भोग के द्वारा ही नाश किया जाता है। प्रारब्ध कर्म पूर्व जन्म के वे कर्म हैं जिसका फल व्यक्ति शरीर धारण कर भोगता है। भोगोपरान्त प्रारब्ध कर्म के अन्त होते ही कर्मों का क्रम बन्द हो जाता है। शरीर समाप्त होने पर (स्थूल और सूक्ष्म शरीर) ऐसे व्यक्ति को विदेह मुक्ति की उपलब्धि स्वतः हो जाती है।

ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति या ज्ञान प्राप्त होने से अज्ञान (भ्रम) मिट जाता है। विवेक ज्ञान से व्यक्ति स्वाभाविकी मुक्ति को पालेता है। मुक्ति में आनन्द की कल्पना कर इसे गुरुओं ने अत्यधिक आकर्षक बना दिया है।

आचार्य रामानुज ने मुक्ति को प्राप्त करने में भक्ति को मुख्य कारण के रूप में माना है। भक्ति भी शरणागति वाली होनी चाहिए। प्रपत्ति से मुक्ति सहज बोधगम्य है।

मध्वाचार्य मोक्ष के चार प्रकार बतलाए हैं—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चिरा-दिमार्ग और भोग। भोग के भी चार भेद हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। भगवत् शरीर में ही प्रवेश का आनन्दोपभोग करना सायुज्य है।

श्री बल्लभाचार्य ने मुक्ति की मधुर अवस्था का चित्रण किया है। देह, इन्द्रिय तथा अन्तः करण में जब भगवत्कृपा से आनंद की स्थापना हो जाती है तब मुक्ति स्वतः मिल जाती है—यथा,

'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाभावं स्वरूपेन व्यवस्थितिः।

—(भागवत)

श्री मद्भागवत को मोक्ष शास्त्र कहा ही जाता है। सकाम-भाव को गति तीन पुरुषार्थों तक ही सीमित होती है। निष्काम भाव से आचरित धर्म चतुर्थ पुरुषार्थ तक पहुँचा देता है।

धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनः कायबुद्धिभिः।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथाऽनन्त्यमसङ्गिनाम्॥

—(भागवत ४।१४।१५)

अर्थात् जब मन, वाणी, शरीर और बुद्धि से स्वधर्म का आचरण व्यक्ति करता है तब उसका वह धर्म उसे स्वर्ग आदि शोक-रहित दिव्य लोकों में पहुँचा देता है। और यदि वह धर्म निष्काम भाव से अनुष्ठित करता है, तब वह अनन्त मोक्ष को प्राप्त करता है। अनेक उद्धरणों के द्वारा निष्काम कर्म से मोक्ष प्राप्ति महाभारत में बतलाई गयी है।

महर्षि मनु का कहना है कि वेद-शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन करके, धर्म पूर्वक यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान करके मनुष्य को मोक्ष की ओर मन लगाना उचित है, यथा—

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

—मनुस्मृति ६।३६

इस प्रकार मोक्षज्ञान भारतीय आध्यात्मशास्त्र का सर्वस्व है।

वेद द्वारा व्यवस्थित धर्म (आचरण या कार्य) दो प्रकार के होते हैं, यथा—प्रवृत्त एवं निवृत्त। प्रवृत्त कर्म से लौकिक आनन्द एवं मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति होती है और निवृत्त कर्म से निःश्रेयस (मोक्ष) की उपलब्धि होती है; जिसमें ब्रह्म की अनुभूति के उपरान्त सभी प्रकार की अभिकांक्षाओं एवं ईहाओं का पूर्ण अभाव हो जाता है।

निःश्रेयस की प्राप्ति सभी नहीं कर सकते। यह धनुष नहीं है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने कन्धे में लटकाले। यह छुरे की धार के समान बहुत ही कठिन मार्ग है।[1] उपनिषदों का कहना है कि मानव स्वभाव वास्तव में दिव्य है। ईश्वरत्व की जानकारी प्राप्त करना और उससे तादात्म्य करना उसके लिए सम्भव है। इस अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अहंकार, स्वार्थपरता एवं सांसारिक विषयासक्ति से विमुख होना पड़ता है।

---

१. कठोपनिषद्–३।१४।

त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) के पालन से मोक्ष स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। अपना कर्तव्य पालन करना, प्रलोभन में नहीं पड़ना, दूसरे के साथ वैसा ही व्यवहार करना जैसा अपने लिए उचित प्रतीत होता हो। ऐसा धनार्जन करना जिससे धर्म का विरोध नहीं हो और न किसी की हानि हो। पवित्र ब्रह्मचर्य का जीवन बिताते हुए सौन्दर्य सम्बन्धी आनन्दों का उपभोग करना चाहिए। तीनों पुरुषार्थों में निहित तत्त्वों के पालन करने से मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है। कुछ विद्वान् मुक्ति की चार अवस्थाएँ बतलाते हैं;—यथा-सालोक्य (प्रभु के लोक में स्थान), समीप्य (सन्निकटता), सारूप्य (प्रभु का ही स्वरूप धारण करना) एवं सायुज्य (प्रभु में ही समाहित हो जाना)। इनमें सबसे उत्तम सायुज्य मुक्ति मानी जाती है। सायणाचार्य का भी यही मत है—

मुक्तेर्नाना विधा प्रोक्ता सायुज्यादि प्रभेदतः।
तत्र सायुज्यारूपाया मुक्तेः साक्षात्तु कारणम्॥
सम्यग्ज्ञानं न कर्मोक्तं नानयोश्च समुच्चयः।
कर्मणैव हि सिध्यन्ति पुंसामन्याश्च भुक्तयः॥
कर्त्तारं कर्म वध्नाति खलु वेदविदां वराः।
यत्किञ्चित्कर्मजं कर्म कुरुते साध्वसाधु वा॥
सर्वं नारायणे न्यस्य कुर्वन् मुक्तो भविष्यति।

—पुरुषार्थ सुधानिधिः ११।१-४

अतः जो भी कर्म किये जांय निःस्वार्थ भाव से नारायण को समर्पित कर दिया जाय तो मुक्ति निश्चित ही मिलेगी।

पाण्डेय वंश जनितो-विबुधानुकम्प्यः
प्राध्यापयन् भुवि महामनसां श्रमेण।
राजेन्द्र एष गुरुवर्यकृपाविशेषाद्
धर्मद्रुमं विरचयन् हृदिहर्षमेति॥